वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 163

सृष्टि सम्वत् 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

उद्घोषक 'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सारे जगत को आर्य बनावें।

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 बुधवार 15 मार्च 1989
अंक 1 प.स.-43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

फाल्गुन शु 9 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

महर्षि दयानन्द का राष्ट्रीय स्वरूप

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

महर्षि दयानन्द कई दृष्टियो से आधुनिक भारत के वास्तविक निर्माता कहे जा सकते हैं। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज भी इसीलिये एक देशव्यापी राष्ट्रीय आंदोलन बन गया है और दूर-दूर विदेशो मे जहा-जहा भारतीय काफी सख्या में रहते हैं, वहा भी उसका कार्य और प्रभाव पहुच गया।

उनके जीवन तथा कार्यों के बारे मे भारतीय और विदेशी विद्वानो ने जो सम्मतिया प्रकट की हैं और मूल्याकन किया है, उनसे प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द का भारत के परम्परागत सुधारको और धर्माचार्यों मे सर्वश्रेष्ठ स्थान था।

महान पंडित और सुधारक

कर्मकांडी तथा वेदपाठी ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेने के कारण उन्हे वेद और व्याकरण तथा संस्कृत के आर्ष ग्रंथ पढने का जो अवसर मिला उसका उन्होने बचपन मे ही पूरा लाभ उठाया।

अन्त मे घर त्यागने के बाद उन्होने कई वर्ष सारे भारत मे भ्रमण करके संस्कृत के पंडितो से विद्या ग्रहण की, योगियों और तपस्वियो से योग के रहस्य सीखे और वेद आदि सब प्राचीन संस्कृत ग्रंथो का अध्ययन किया और इस प्रकार इतिहासकार जयसवाल के शब्दों में "दयानन्द ने विश्वामित्र, नारद, और शंकर की परम्परा कायम रखकर मनुष्य जाति के वर्तमान उद्धारकों मे ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया।" उनके संस्कृत के अगाध-ज्ञान तथा पांडित्य पर प्रसिद्ध योगी अरविन्द तक मुग्ध थे। थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापिका मैडम ब्लेवेट्स्की के शब्दों में :—

It is Perfectly Certain That India never saw a more learned Sanskrit Scholar, a deeper metaphysician a more wonderful orator and a more fearless denounciator of any evil than Dayanand, since the time of Shankaracharya

अर्थात् यह बिल्कुल निश्चित बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में दयानन्द से बढ़कर संस्कृत का बड़ा विद्वान, दार्शनिक, आश्चर्यजनक वक्ता और बुराइयों



का निर्भय समालोचक दूसरा नही हुआ।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

उनके इस प्रकार पांडित्य के साथ उनके अखंड ब्रह्मचर्य के कारण लोग उनसे बड़े प्रभावित होते थे। महात्मा गांधी उन्हें आदर्श ब्रह्मचारी मानते थे। विद्वता और ब्रह्मचर्य के साथ ही उनका व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली था। वह अपने समय के बौद्धिक तथा शारीरिक महाबली (Intellectual and physical giant) समझे जाते थे।

एक योरोपियन मिशनरी ने, जिसने उन्हे काशी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के समय देखा था, लिखा है कि वे देखने मे विशाल किंतु सुन्दर पुरुष थे और उनके चेहरे से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रकट होती थी।

He is a fine looking man, large but well proportioned his face specially is expressive of much intelligence.

ब्रह्मचर्य तथा सन्यास

इसके अतिरिक्त उन्होने ब्रह्मचर्य के बाद ही नियमित रूप से सन्यास ले लिया था। अत एक विद्वान पंडित तथा तेजस्वी सन्यासी होने के कारण देश भर में जहा वह जाते, लोगो की भीड़ उन्हे देखने और सुनने को एकत्रित हो जाती थी। जो उनके विरोधी थे वे भी उनके आकर्षक व्यक्तित्व, उच्च चरित्र तथा विद्वता और साहस के कारण उनका सम्मिश्रित आदर करते थे। स्वयं एक ब्राह्मण पंडित तथा हिन्दू सन्यासी होकर भी वे वेदों तथा शास्त्रों के प्रमाण देकर वर्तमान हिन्दू धर्म के अन्ध विश्वासो और सामाजिक बुराइयो का प्रबल विरोध करते थे। यह बात उस समय लोगो को आश्चर्यचकित कर देती थी। इसीलिये देश मे ही नही बल्कि योरोप और अमरीका तक उनकी उस समय जितनी प्रसिद्धि हुई उतनी तत्कालीन किसी और भारतवासी की नहीं हुई। इसलिये अनेक विद्वानों तथा लेखको ने उनके बारे मे बहुत कुछ लिखा है। अनेक प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों ने भी उनकी महानता और क्रांतिकारी विचारो की बड़ी प्रशंसा की है।

राष्ट्रीय स्वरूप

इस आश्चर्यजनक और महान सुधारक के बारे मे सबसे बड़ी महत्व की बात उनके जीवन तथा आंदोलन का राष्ट्रीय आधार है। दयानन्द की सारी शिक्षा-दीक्षा एक कट्टर ब्राह्मण बालक के रूप में प्रारंभ हुई थी और एक प्राचीन भारतीय ऋषि या सन्यासी के रूप मे समाप्त हुई। पश्चिमी शिक्षा अथवा सभ्यता ने उनके रहन-सहन अथवा विचारो को प्रभावित नही किया था और न ही उन्होने किसी अंग्रेजी स्कूल या कालेज मे कभी शिक्षा ग्रहण की थी। केवल इसी दृष्टि से उनका कार्य तथा आंदोलन विशुद्ध भारतीय नहीं था बल्कि उन्होंने हिन्दू धर्म तथा समाज में जो क्रांतिकारी सुधार करने का प्रयत्न किया, उनके पीछे भी भारत की राष्ट्रीय एकता और प्रगति का वह स्पष्ट और निश्चित उद्देश्य था जिसे हम आज स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी ठीक तरह से अनुभव नही कर सके हैं। राष्ट्रीय दृष्टि

(शेष पृष्ठ 3 पर)

निदेशक · दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक · रासासिंह   सपादक . वीरेन्द्र कुमार आर्य   फोन कार्या 21010

सम्पादकीय

यों तो इस खल्क़े जहां में लाखों ही आए गए, किन्तु रोशन बस गुलिस्तां दयानन्द ही कर गए।

चोटी पर पहुँचने के लिये पर्वत के दुर्गम पथ को पार करना ही पड़ता है, अपने आपको हीन समझने वाला व्यक्ति तो मार्ग मे ही निराश होकर वापिस लौटना चाहेगा, जो यह विश्वास लेकर चलेगा कि विजय उसका जन्मसिद्ध अधिकार है, वह ऊपर पहुंच कर ही चैन लेगा। गुलाब का सुन्दर फूल प्राप्त करने वाले को कटीली झाड़ियो को पार करना ही होगा क्योकि कवि मिल्टन के शब्दो म काटो रहित गुलाब अभी तक विकसित नही किये जा सके हैं।

टकारा मे कर्सनजी के घर पर जन्मे बालक मूलशकर ने 14 वर्ष की छोटी सी आयु मे शिवरात्रि के दिन 'सच्चे शिव' की कृपा प्राप्त करने की चाह मे जो व्रत धारण किया था और चूहे की उछल-कूद देखकर उनके मस्तिष्क म जो बोध जिज्ञासा जाग्रत हुई थी उसे उन्होने दृढ सकल्पी बनकर आखिरकार ब्रह्मचर्य एव योग की अनवरत साधना, वर्षों की घोर तपस्या के पश्चात् गुरु विरजानन्द के चरणो मे बैठकर प्राप्त कर ही लिया था। फिर गुरु के वेदज्ञान के प्रचार प्रसार के महान आदेश को शिरोधार्य कर देव दयानन्द कर्तव्य क्षेत्र मे अवतरित हुए और वैदिक ज्ञान से समस्त भारतभूमि को ज्योतित एव भासमान कर दिया। दयानन्द अकेले थे पर उनके मन मे अडिग विश्वास, सुदृढ आस्था, सत्य श्रद्धा और महान सकल्प शक्ति थी जिसके आगे उनके बड़े से बड़े विरोधी भी नत मस्तक होते चले गये। इसी कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती भारतीय पुनर्जागरण रूपी गगनमण्डल के सर्वाधिक देदीप्यमान नक्षत्र बने।

ऋषि दयानन्द एक महामानव थे। 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' मे मनुष्य कौन? 'मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यो के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निबल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किंतु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओ की चाहे वे महा अनाथ निबल और गुणरहित क्यो न हो, उनकी रक्षा, उन्नति प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात जहा तक हो सके वहा तक अन्यायकारियो के बल की हानि और न्यायकारियो के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम मे चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक कभी न होवे।" इस स्वनिर्मित कसौटी पर दयानन्द खरे उतरे।

मैडम ब्लेवेटेस्की के 'अनुसार यह निश्चित है कि शकराचार्य के पश्चात् दयानन्द से अधिक सस्कृतज्ञ, गम्भीर, आध्यात्मिक, आश्चर्य जनक वक्ता और बुराइयो पर निर्भीक प्रहार करने वाला भारत को प्राप्त नहीं हुवा।"

भारत की स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने भी उस महान ऋषि को निम्न शब्दो मे श्रद्धासुमन अर्पित किये थे "स्वामी दयानन्द सरस्वती तेजस्वी और आध्यात्मिक तो थे ही, साथ ही वे एक युग प्रवर्तक और समाज सुधारक भी थे। स्वामी दयानन्द राजनैतिक और मानसिक गुलामी के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा सभी मनुष्य जन्म से और प्रभु की दृष्टि में समान हैं। उन्होने स्त्रियों की समानता और शिक्षा व सामाजिक उत्तरदायित्वो के लिये सबर्ष किया।

इंग्लैंड के पूर्व प्रधानमन्त्री श्री रेमजेमैकडानाल्ड की दृष्टि मे 'आर्य समाज समस्त ससार को वेदानुयायी बनाने का स्वप्न देखता है। स्वामी दयानन्द ने इसे जीवन और सिद्धात दिया। उनका विश्वास था कि आर्य जाति चुनी हुई जाति है, भारत चुना हुआ देश है, और वेद चुनी हुई पुस्तक है।

ऐसे महान अद्भुत व्यक्तित्व के धनी महर्षि दयानन्द का बोध दिवस गत शिवरात्रि को समस्त आर्य जगत् में समारोहपूर्वक मनाया गया।

बोध दिवस मनाते हुए हमें सैकड़ो वर्ष हो गये। पर अब ऐसा प्रतीत होने लगा है कि हम महर्षि के विचारो मन्तव्यो के प्रति तथा आर्य समाज जैसे सशक्त, सबल और क्रांति वाहक सगठन के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन मे अबोध हो गये हैं। हमे दयानन्द और आर्यसमाज के सच्चे पहरूए बनना है—

प्रहरी हो जिस समाज के सजग पहरेदार।
उसको क्या रोक पायेगी आंधी की दीवार।

एक और बात के बोध की भी आवश्यकता है। हमारे सगठन मे पद लिप्सा की दौड़ म पीछे रह जाने वाले अथवा अतिमहत्वाकांक्षी लोग एक दम यथास्थितिवादी नेतृत्व को उखाड़ फेंकने के मोह म घर फू क तमाशा देखने को भी आतुर हो रहे हैं। उन्हें इस अवसर पर इतना ही कहना है कि—

"रातो मे आफताब उगाने की चाह में।
जलते हुए चिराग बुझाने तो गलत है॥'

हम हमारे साप्ताहिक सत्सगो मे सगच्छध्व सवदध्व सगठन सूक्त का पाठ समवेत स्वरो मे गाते हुए अघा त नही हैं पर फिर भी हम मे परस्पर प्रेम मौहृद्रता सौमनस्यता सहृदयता की भावनाए नही आ पाती। 'प्रेमरस मे मग्न होकर हम सगठन सूत्र मे आबद्ध नही हो पाते। बुजुर्गों से तो हम क्या कहें। नई पीढ़ी के आर्यवीरो से ही आह्वान करना चाहते हैं—

'नौजवानो यही मौका है उठो खुल खेलो।
खिदमते कौम मे जो बला आवे खुशी से झेलो॥
देश के सदके मे माता को जवानी दे दो।
फिर मिलेगी न यह माता की दुआए ले लो।"

बजाओ तुम वेदो का डका, फूको अनाचार की लका।
सध्या, हवन सत्सग में लाकर, भूले जनो को राह बताओ॥
हुकार भरो शिवाजी के सबकी के सोये प्राणो मे।
नवजीवन का सचार करो तुम तूफानो से भी टकराओ॥
आचार भरो अब रग-रग मे, चमके बल पौरुष फिर जग में।
हो ध्येय एक, कुछ करो मरो, ऋषिवर की शिक्षा मन लाओ।

—रासासिंह

महर्षि दयानन्द और शिवरात्रि

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

शिवरात्रि उस युग प्रवर्तक दयानन्द का बोध दिवस है, जिसने मृतप्राय: राष्ट्र को जिलाया, भूले भटके मानव को सत्य-पथ दिखाया, स्वाधीनता, प्रेम, समानता का पाठ पढाया। जो अकेला होते हुए भी कभी घबराया नहीं, एवं जीवनभर पाखण्ड, ढोंग, शोषण, अन्याय एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध प्रत्येक मोर्चे पर लड़ता रहा। जिसने एक दिन विश्वहित में ही अपने प्राणों की बलि दे दी।

उन्नीसवीं शती में जब समस्त भारत अज्ञान अन्धकार से आच्छादित था, विदेशी



शासको के अत्याचारो से मुक्ति और त्राण पाने को जब भारत के प्राण अकुला उठे थे, राष्ट्रीय भावना को मिटाने के सभी प्रयत्न किए जा रहे थे, मातृशक्ति को तिरस्कृत किया जा रहा था, ऐसी निराशा की घडी मे स्वामी दयानन्द का राष्ट्र के क्षितिज पर प्रादुर्भाव हुआ। उन्होने अपनी ओजस्विनी वाणी एव निर्भय लेखनी के प्रखर प्रकाश से निशीथ के साम्राज्य को छिन्न भिन्न करके समस्त असार को सत्य ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर डाला।

शिवरात्रि की घटना

बालक मूलशंकर को महर्षि दयानन्द में परिवर्तित करने वाली वह महाक्रांतिकारी घटना आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व गुजरात राज्य टंकारा ग्राम के शिव मंदिर में शिवरात्रि को घटी थी। बालक मूलशंकर ने शिवभक्त पिता की आज्ञा एव शिव दर्शन की उत्कट अभिलाषा मे शिव का व्रत रखा। सरल स्वभाव बालक प्रभु दर्शन हेतु रात्रि जागरण करता रहा। यहा तक कि अन्य सभी शिव भक्त दिन भर के व्रत एव कीर्तन की थकान के कारण निद्रा के आगोश मे चले गय। ऐसे निशीथ काल मे बालक मूलशंकर ने शिव प्रतिमा पर श्रद्धापूर्वक चढाये गये पुष्प चन्दन अक्षत, नैवेद्यादि को एक क्षुद्र जन्तु मूषक को प्रतिमा पर चढकर भक्षण एव लघुशंका कर तिरस्कृत करते देखा। कथित भगवान की इस पर कोई प्रतिक्रिया न होने पर बाल निर्मल हृदय पर आघात लगा। इसी आघात ने मूलशंकर को जड पूजा से विमुख कर सच्चे शिव के दर्शन करने का दिव्य सदेश दिया और आगे चलकर यही बालक महर्षि दयानन्द के नाम से विख्यात हुआ। विश्व कवि रविन्द्रनाथ टैगोर के शब्दो मे,' भारत मे जो कुछ नवीन जागृति, सामाजिक सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई उसका आदि मूल वह मूलशकर ही था।"

ज्ञान बोध और साधारण घटना

एक अति साधारण घटना से दयानन्द को ज्ञान बोध होना कोई अभूतपूर्व घटना नही थी। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि राजकुमार गौतम को महात्मा बुद्ध बनाने वाली ऐसी ही एक घटना थी। वृक्ष के नीचे गिरते फलो को किसने नही देखा ? किन्तु विलक्षण नेत्रो वाले सर आइजिक न्यूटन का देखना अद्भुत सिद्ध हुआ। जेम्सवाट ने पतीली पर रखे हुए ढक्कन को अन्दर से आती हुई पानी की भाप के द्वारा उठता हुआ और हिलता हुआ ही तो देखा था और हम सब प्रतिदिन ऐसी घटनाए देखते रहते हैं, परन्तु हमे कोई प्रेरणा प्राप्त नही होती, लेकिन जेम्सवाट ने उससे भाप की शक्ति को पाया जो जार्ज स्टीफन्सन द्वारा विकसित रेल्वे इन्जन के रूप मे हमारे समक्ष आई और जिससे आज औद्योगिक क्षेत्र का अधिकांशत सचालन होता है। जर्मनी के मार्टिन लूथर को प्रोटेस्ट धर्म के प्रवर्तक के रूप मे एक छोटी सी घटना ने ही तो महापुरुषो की कोटि मे लाकर खडा किया था।

शिवरात्रि का संदेश

शिवरात्रि का जो सदेश मूलशकर ने सुना, वह समस्त भारत के लिए ही नहीं अपितु समस्त मानव समाज के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ। इसी शिवरात्रि की महिमा के विषय मे कविवर लाखन ने कितना सुन्दर लिखा है :

कामना जागे किसी मे तो
यही जागे
मागना चाहे मनुज तो
बस यही मागे—
कोख दो तो, मूलशकर मातृ
जैसी दो।
जन्म दो तो, जन्म भू गुजरात
जैसी दो॥
प्रात दो, ऋषि बोध की उस
प्रात जैसी दो।
रात दो, तो बस उसी शिव-
रात जैसी दो॥

यह दिन युग प्रवर्तक दयानन्द का बोध दिवस है, जिसने मृत प्राय राष्ट्र को जिलाया, भूले भटके मानव को सत्य-पथ दिखाया, स्वाधीनता, प्रेम, समानता का पाठ पढाया। जो अकेला होते हुए भी कभी घबराया नही एव जीवन भर पाखण्ड, ढोंग, शोषण, अन्याय एव भ्रष्टाचार के विरुद्ध प्रत्येक मोर्चे पर लडता रहा। जिसने एक दिन विश्व हित मे ही अपने प्राणो की बलि दे दी।

अतएव आओ, हम सभी भारतीय इस पावन दिवस पर राष्ट्र की अखण्डता, गौरव को अक्षुण्ण रखने एव भ्रष्टाचार मिटाने की शपथ ले।

महर्षि दयानन्द का...

(शेष पृष्ठ 1 का)

से वर्तमान हिन्दू धर्म का विवेचन करते समय इसीलिये दयानन्द का विशेष महत्व है। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का भी इसीलिये आधुनिक भारत की राष्ट्रीय जागृति के इतिहास मे बडा महत्वपूर्ण योगदान है।

प्राचीनता एव प्राचीन

केवल विशुद्ध भारतीय होना ही राष्ट्रीयता का द्योतक नही है। प्राचीनता के नाम पर हम अपने राष्ट्र को अवनत, प्रगतिहीन और नष्ट भी कर सकते हैं। दयानन्द ने प्राचीनता का प्रारम्भिक आधार स्वीकार किया किंतु लक्ष्य या अन्तिम उद्देश्य इसे नही बनाया। इसीलिये वह हिन्दू धर्म तथा समाज को एक ऐसा नवीन रूप देना चाहते थे जैसा आज का पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा मे पला कोई हिन्दू सुधारक भी देने का साहस नहीं कर सका है। उदाहरण के लिये मूर्तिपूजा के बारे मे हमारे विचार और व्यवहार तथा जात पात के बारे मे कम से कम हमारा व्यवहार देखकर पश्चिम के आधुनिक विद्वान हमे दसवी सदी की दकियानूसी प्राचीनता का दास समझते हैं। इन दोनो विषयो पर दयानन्द के विचार इसीलिये आज भी भारत के लिये क्रांतिकारी हैं। दयानन्द की राष्ट्रीयता की कल्पना कितनी क्रांतिकारी और प्रगतिशील थी, यह योगी अरविन्द की निम्नलिखित राय से स्पष्ट है। वह लिखते हैं, "राष्ट्रीय होने का मतलब जहा के तहां खडे रहना नही है बल्कि प्राचीन या भूतकाल मे से जीवनदायक तत्व लेकर उसे आधुनिक जीवन के प्रवाह को गतिशील करना है। यही वास्तव मे पुनरुत्थान तथा नवनिर्माण का सबसे शक्तिशाली साधन है। दयानन्द ने यह कार्य किया है और भूतकाल की ऐसी भावना तथा आदर्श को पुन लाकर उनसे आधुनिक ढाचे को सजीव कर दिया है।"

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का सारा जीवन और चरित्र ही भारत की सर्वोच्च सांस्कृतिक परम्परा का एक जीता जागता उदाहरण है। उनके कार्य तथा विचारों का आधार प्रगतिशील राष्ट्रीयता की क्रांतिकारी भावना थी। हमारे वर्तमान विवेचन की दृष्टि से जो बात विशेष महत्व की है वह यह कि आधुनिक सुधारको मे दयानन्द ही एक ऐसे महान पुरुष थे जिन्होंने हिन्दू धर्म को वह सुनिश्चित और परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न किया जो न केवल हमारी राष्ट्रीय एकता मे सहायक हो सकता है बल्कि जो आधुनिक भारत के स्वतन्त्र और प्रगतिशील हिन्दू नागरिक के लिये अभिमान और गौरव का भी कारण बन सकता है। वस्तुत: इसे वे हिन्दू धर्म के स्थान मे वैदिक धर्म के रूप मे प्रचारित करना चाहते थे।

डाक पंजी RJ/AJ/16



समारोह को सम्बोधित करते हुए आचार्य दत्तात्रय आर्य। मंच पर बैठे हैं श्री आदित्य।

स्वामी दयानन्द ने धर्म को वैज्ञानिक स्वरूप दिया—आर्य

अजमेर (निसं) आचार्य श्री दत्तात्रेय आर्य ने कहा कि भारत में धर्म के नाम पर अनेकों भ्रम विश्वास उत्पन्न होने लगे हैं जिससे लोगों में धर्म के प्रति आस्था कम होती जा रही है जो समाज के लिए चिंता का विषय है।

श्री आर्य ने केसरगंज स्थित आर्य समाज भवन पर आयोजित 'दयानन्द बोध दिवस' के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि ऋषि दयानन्द ने सर्वप्रथम धर्म को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया तथा धर्म को तर्क द्वारा जानने की पद्धति देकर धर्म के नाम पर फले सभी अंध विश्वासों का पर्दाफाश किया।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट कर दयानन्द आदित्य ने कहा कि महर्षि दयानन्द ने न केवल सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में ही विशेष कार्य नहीं किये अपितु उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किए तथा उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के पूर्व ही परतंत्र भारत को पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिये प्रेरित किया था।

उन्होंने कहा कि ऋषि दयानन्द का कार्य अभी अधूरा है क्यों कि अभी भी देश में सामाजिक कुरीतियों का बोलबाला है जिसे समाप्त करने के लिये समाज के लोगों को जोरदार अभियान चलाना चाहिए।

इससे पूर्व डा. कृष्णपाल सिंह श्री . . . आर्य व कई आर्य-कार्यकर्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। समूचे समारोह का संचालन आर्य समाज के मंत्री श्री रासासिंह ने किया।

वीरेन्द्र 'वीर' दिवंगत

आर्य जगत के सुप्रसिद्ध भजनोपदेशक श्री वीरेन्द्र वीर मुजफ्फरनगर का गत 11 फरवरी 89 को 74 वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। आप अपने पीछे भरा पूरा परिवार छोड़ गए हैं।

आर्य पुनर्गठन परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि! —संपादक

पत्र और विचार

अजमेर को निरक्षरता मुक्त करें

आदरणीय दत्तात्रय जी

आप आर्य संस्थाओं को धारा 30 का संरक्षण प्राप्त कराने के लिए सचेष्ट हैं इसके लिए साधुवाद।

एक काम और हाथ में लें तो देश का कल्याण हो। क्या अजमेर की आर्य संस्थायें आपके नेतृत्व में 1991 की जनगणना तक अजमेर जिले को निरक्षर मुक्त करने का संकल्प ले सकती हैं? राजस्थान में 70 प्रतिशत निरक्षर हैं स्त्रियों में 95 प्रतिशत निरक्षर हैं। तभी देवराला या नाथद्वारा का कलंक राजस्थान पर लगता है।

मुझे विश्वास है कि आपके सुयोग्य और कर्मठ नेतृत्व में अजमेर ज्ञान ज्योति का दीप प्रज्वलित करने में सबसे आगे आयेगा आखिर ज्ञान दीप अजमेर में आपने ही तो प्रज्वलित किया था।

—बी के कुमार
जयपुर

निर्भीक वक्ता

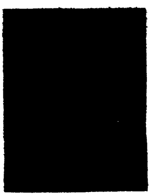
आर्य पुनर्गठन बहुत ही ओजपूर्ण लेखों से समाज का दिग्दर्शन कर रहा है।

इन्हें तो खून करता है दयानन्द की उम्मीदों का' लेख पढ़कर लगा कि पत्र वास्तविक यथार्थ का प्रकाशक है। अन्य सामाजिक पत्र पत्रिकाएं चापलूसी पूर्ण लेखों से भरे रहते हैं।

—आचार्य राजदेव
प्रधानाचार्य
आर्य गुरुकुल
एरवा कटरा इटावा

डॉ. बाबूराम शास्त्री को प्रणवानन्द पुरस्कार

सुप्रसिद्ध संस्कृतविद् एवं वैदिक विज्ञान वेत्ता डा बाबूराम



शास्त्री की ग्रन्थ की पुस्तक वैदिक कालगणना को अखिल भारतीय दर्शन परिषद द्वारा इस वर्ष स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है। डा शास्त्री की यह पुस्तक वैदिक सृष्टि दर्शन पर उत्तम कोटि की पहली पुस्तक है।

1986 ई में आगरा विश्वविद्यालय से डी लिट की उपाधि से अलंकृत श्री शास्त्री ने इससे पूर्व इवोल्यूशन ऑफ उपनिषद व 'कालिदास के ललित प्रयोग' जैसी अन्य कई महत्वपूर्ण साहित्यिक पुस्तकों का भी प्रणयन किया है। वर्तमान में आप दयानन्द शोध पीठ अजमेर के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर के रूप में अनेक शोध छात्रों को शोध निर्देशन दे रहे हैं।

आर्यमित्र का सिद्धान्त विरोधी प्रचार

श्री सम्पादक जी

पुनर्गठन का 15 फरवरी का अंक कलेवर में लघु होने पर भी सारगर्भित सामग्री से परिपूर्ण है। आपने आर्यमित्र के कुम्भ और गंगा विषयक लेख पर जो अपना सम्पादकीय दिया है उसमें आर्यसमाजियों की आंखें खुलनी चाहिए। वस्तुतः आज के आर्यसमाजी पत्र कुछ ऐसे लोगों के हाथों में चले गये हैं जो ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों से अपरिचित हैं ही सिद्धान्त विरुद्ध सामग्री को प्रमुखता देकर छापने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। तभी तो कुम्भ की प्रशंसा और गंगा को त्रिभुवन तारिणी कहा जाता है। क्या स्वामी दयानन्द का कोई अनुयायी गंगा स्नान को पाप नाशक मानेगा? इस सम्पादकीय के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें। ठा प्रेमसिंह जी का लेख ऋषि दयानन्द के जोधपुर प्रवास विषयक अनेक भ्रान्तियों का खण्डन करने वाला है। श्री वाजपेयी का आर्यसमाजों में होने वाले विवाहों विषयक लेख भी सामयिक तथा आर्यसमाज की मर्यादा स्थापित करने वाला है।

—डा भवानीलाल भारतीय
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल जैन द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है सत्य हमारा कर्म।।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनायें।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 गुरुवार 30 मार्च, 1989
अंक 2 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

चैत्र कृ. 8 संवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे



समारोह को सम्बोधित करते हुए बाए से दाए शिक्षा मन्त्री श्री बी डी कल्ला, आचार्य दत्तात्रय आर्य श्री जे एन गौड व प्रधानाचार्य श्री रासासिंह। छाया भाटी

विद्यार्थी आर्यसमाज के आदर्शों से जुड़कर कार्य करें : कल्ला

अजमेर। शिक्षामंत्री श्री बी डी कल्ला ने विद्यार्थियो को आह्वान किया कि वे आर्यसमाज के आदर्शों से जुडकर देश व समाज की एकता और अखण्डता के लिये कार्य कर। श्री कल्ला डी ए वी सीनियर उ मा विद्यालय के वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह म मुख्य अतिथि की हैसियत से बोल रहे थे। श्री कल्ला ने छात्रो से आशा व्यक्त की कि वे धर्म, जाति, और भाषा से ऊपर उठकर समाज मे एकता व अखण्डता कायम रखने के लिये आगे आयेंगे। उन्होंने आर्य शिक्षण संस्थाओ के माध्यम से नई पीढी म प्रचारित-प्रसारित प्राचीन वैदिक संस्कृति पर अपनी खुशी जाहिर की। उन्होंने कहा कि आज के प्रतियोगी युग म वही छात्र कामयाब हो सकता है जो नियमित अध्ययन करता हुआ समय के साथ चलता है।

श्री कल्ला ने विद्यार्थी मे पचतत्वा के होने की आवश्यकता पर जोर दिया। श्री कल्ला ने अध्यापको एव निजी संस्थाओ पर राष्ट्रीय शिक्षानीति को क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी डालते हुए कहा कि अध्यापको का अपने विषय पर पूरा नियत्रण होना चाहिये। उन्होंने छात्रो को पढाते समय नई एवं रोचक तकनीक प्रयोग मे लाने पर बल दिया। इसके पूर्व समारोह के अध्यक्ष सेवा-निवृत आई ए एस श्री जय नारायण गौड ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे शिक्षामंत्री श्री कल्ला से संस्था को दी जाने वाली अनुदान राशि 80 प्रतिशत से बढाकर 90 प्रतिशत करने की सिफारिश की। जिसके जवाब मे श्री कल्ला ने आश्वासन दिया कि रिपोर्ट आते ही वे राज्य की आर्य शिक्षण संस्थाओ का अनुदान बढाने की स्वीकृति दे देंगे। श्री कल्ला ने अपने कर कमलो से इस अवसर पर विद्यालय के अनेक प्रतिभावान छात्रो को भी पुरस्कृत किया।

समारोह के विशिष्ट अतिथि पद से बोलते हुए वरिष्ठ शिक्षाविद् आचार्य दत्तात्रय आर्य ने कहा कि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओ ने देश के नव निर्माण मे अपना महती भूमिका निभाई है। उन्होंने कहा कि इन शिक्षण संस्थाओ का उद्देश्य शिक्षा कार्य के साथ साथ विद्यार्थियो का चरित्रनिर्माण करना भी रहा है। श्री दत्तात्रय आर्य ने कहा कि जहा आजादी से पूर्व आर्य शिक्षण संस्थाओ ने देश के स्वतंत्रता आंदोलन मे भाग लेने के लिए अपने विद्यार्थियो को प्रेरणा प्रदान की वही स्वतंत्रता के पश्चात सुयोग्य एव चरित्रवान नागरिकों की एक नई पीढी तैयार करने मे उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

समारोह की शुरुआत छात्रो द्वारा प्रस्तुत ईश वन्दना से हुई। इसके तुरन्त बाद विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री रासासिंह ने विद्यालय प्रगति रिपोर्ट पेश की। इस अवसर पर स्कूल के अनेक छात्रा ने विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। इस अवसर पर दयानन्द कॉलेज के पूर्व प्राचार्य श्री कृष्णराव बाल्ले, वर्तमान प्राचार्य श्री दिनेशसिंह, भू पू जिला प्रमुख हनुवन्तसिंह रावत आदि गणमान्य व्यक्ति मौजूद थे।

सत्यकेतु विद्यालंकार नही रहे

आर्य जगत के प्रख्यात विद्वान एव इतिहासकार डा सत्यकेतु विद्यालंकार का 16 मार्च को हरिद्वार के पास बहादुराबाद मे कार दुर्घटना म निधन हो गया। उनके साथ यात्रा कर रहे श्री शेरसिंह व डा. धर्मपाल (दिल्ली) भी घायल हुए हैं।

डा सत्यकेतु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने इतिहास ग्रन्थो के अलावा कई राजनीति विषयक ग्रन्थो एव साहित्यिक उपन्यासो का भी प्रणयन किया। आप द्वारा सात भागो मे सम्पादित और लिखित आर्यसमाज का वृहत इतिहास आपकी आर्यसमाज के प्रति अनन्य निष्ठा का प्रतीक है।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के उपकुलपति एव कुलाधिपति के पदो को सुशोभित करने के अलावा डा सत्यकेतु विद्यालंकार उत्तर प्रदेश विधान परिषद के भी सदस्य रहे। आपको विभिन्न सरकारो एव संस्थाओ के साहित्यिक पुरस्कारो के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा मंगला प्रसाद पारितोषिक से भी सम्मानित किया गया था।

आर्य पुनर्गठन' परिवार डा सत्यकेतु विद्यालंकार के निधन पर उन्हे अपनी भावभीनी श्रद्धांजली अर्पित करता है तथा प्रभु से उनकी आत्मा को चिरशांति देने की प्रार्थना करता है।

—सम्पादक

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक रासासिंह   संपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या. 21010

सम्पादकीय

साम्प्रदायिकता का दावानल पुन: धधकने लगा

धर्मनिरपेक्ष भारत मे तथाकथित अल्पसंख्यको के प्रति सरकार की सतुष्टिकरण की लगातार घुटने टेक नीति, वोटो के लालच में अल्पसंख्यको के साथ सदैव खुशामद चापलूसी करने की आत्मघाती प्रवृत्ति, समान नागरिक संहिता तथा मानवाधिकार आयोग के स्थान पर मुस्लिम महिला कानून और अल्पसंख्यक आयोग के गठन किये जाने, धारा 370 तथा धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यको को विशेषाधिकार दिये जाने के विषैले निर्णयो के जहरीले फल अब स्वतन्त्रता के 42 वर्ष बाद राष्ट्र के सामान्य जन को परेशान करने लग गये हैं। मेरठ मुरादाबाद, अलीगढ़, सम्भल, कलकत्ता भिवण्डी, अहमदाबाद श्रीनगर राजौरी, दिल्ली, हैदराबाद आदि साम्प्रदायिकता की दृष्टि से संवेदनशील कहे जाने वाले स्थानो मे तो आये दिन दगे होते ही रहते थे परन्तु राजस्थान जैसे शान्तिप्रिय तथा साम्प्रदायिक सौहार्द्रता के लिये प्रसिद्ध प्रदेश मे भी अब साम्प्रदायिकता का दावानल धधकने लगा है।

कुछ दिनों मकराना के एक सामान्य से पत्रकार द्वारा अपने साप्ताहिक पत्र "औंवसोरा मे विश्वचर्चित सलमान रशदी की पुस्तक "दी सैटनिक वर्सेज" की कुछ टिप्पणियो को लेकर वहा के मुस्लिम वर्ग के असामाजिक तत्वो ने सम्पादक तथा प्रेस पर हमला किया, तोड़ फोड़ की। सम्पादक द्वारा शिकायत की गई परन्तु प्रशासन की अल्पसंख्यको पर हाथ उठाने की हिम्मत नही हुई और फिर जो नियोजित ढंग से तथाकथित अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा (जो मकराना मे बहुमत में है) लूटमार, आगजनी, मारकाट, छुरेबाजी का जो ताण्डव खेल खेला गया उससे कई निर्दोषो की जानें गई, करोडो का नुकसान हुआ, हजारो मजदूर बेरोजगार हो गये। पाली जिले के सोजत, जैतारण अजमेर जिले के ब्यावर, भीलवाड़ा तथा बीगोद, उदयपुर, आदि विभिन्न स्थानो पर पैट्रोडालर के बल पर, पाकिस्तानी घुसपैठियो की शह पर तथा लीगीतत्वो के षड्यन्त्रों से यह आग सुलग तो रही थी पर सरकार की आखमूद नीति और घुटने टेक समर्पण नीति ने इस आग मे घी का काम किया है।

सोचा था कि स्वतत्र भारत मे देश विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिकता की आग सर्वथा बुझ जायेगी। परन्तु धन्य है धर्मनिरपेक्ष शासको की अन्याय पूर्ण नीतियो को जिसके कारण बहुमत की सर्वथा उपेक्षा, अवहेलना एवं निरादर होता है तथा तथाकथित विदेशो से प्रेरणा लेने वाले तथा अयतुल्ला खुमैनी के फतवे से प्रेरणा लेकर मानवता एवं राष्ट्रीयता का गला घोटने वालो को सिर आखो पर चढाया जाता है। भगवान इस सरकार को सद्बुद्धि दे ताकि साम्प्रदायिकता के विषधरो को कुचला जा सके।

देवोऽपि दुर्बल घातक

किसी नीतिकार ने यह कथन ठीक ही कहा है कि कमजोर का साथी कोई नही होता। देवता लोग भी कमजोर पर ही घात करने वाले होते हैं। देवता से प्रार्थना की गई कि आपके लिए वनराज सिंह की बलि चढायें तो उत्तर नहीं। बाघ अथवा हाथी की बलि चढ़ायें तो भी देवता ने इन्कार कर दिया। जब देवता से बकरा (अजापुत्र) चढ़ाने की बात की गई तो सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी। अत देव भी दुर्बल घातक ही होते हैं।

इस ससार का उपयोग वीर लोग ही कर सकते हैं। बहादुरो को ही जीने का अधिकार है और कायरो को सौ-सौ बार धिक्कार है। बलवान के सब साथी होते हैं। नादान की दोस्ती भी का जजाल होती है। इसीलिये कहा गया कि "नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा।" "वीर भोग्या वसुन्धरा।" डारविन का विकासवाद भी चिल्ला-चिल्ला कर कहता है कि योग्यतम की विजय तथा अर्थात अस्तित्व के लिए संघर्ष और अन्त मे कहा कि बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वैसे तो जंगल का कानून माना जाता है परन्तु आज की इस बीसवी सदी मे तो यही हो रहा है। उगते हुए सूर्य को दुनिया नमस्कार करती है, डूबते हुए को कोई नही। ताकतवर को सब सलाम करते हैं। दो समान ताकतवर में ही तो शक्ति सतुलन बना रहता है। उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है कि—

"बहादुर कब किसी का आसरा और अहसान लेते हैं,
उसी को कर गुजरते जो दिल मे ठान लेते हैं।
दिलदार मर्द का लोहा सब मान लेते हैं,
जो कमजोर होता है, कान उसके सब पकड लेते हैं॥

अत मैं आर्य (हिन्दू) जाति से, वैदिक धर्मावलम्बियो से, सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायियो से प्रताप और शिवा की सन्तानों से, राम और कृष्ण के नामलेवाओं से, दयानन्द और विवेकानन्द के आदेशो को मानने वालो से, बन्दा वैरागी और हकीकतराय के गीत गाने वालो से, महावीर और गौतम के आदर्शों का अनुकरण करने वालो से आह्वान करना चाहूगा कि वे शक्तिशाली बने, वीर बने, अपने अधिकारो के प्रति सचेष्ट बने, तथा सगठन सूत्र मे आबद्ध हो जाय। कब तक सरकार की कूटपरक नीति का शिकार होकर 86% आबादी होते हुए भी उपेक्षा, अवहेलना के शिकार होते रहेंगे? अल्पसंख्यको के द्वारा किये जा रहे अपमानो के कड़वे घूंट पीते रहोगे? कब तक मार खाते रहोगे? अपनी शक्ति को पहचानो! अपनी ताकत को जागो, अपनी कमजोरी को दूर करो। अन्धविश्वासो और सडी गली रूढियो को उखाड फैंको। पुरातन भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित होकर अपने कर्त्तव्य और अधिकारो की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनो। यदि अभी नही तो फिर कब जागोगे? याद रखो—

"समय को नही समझा, उसे पिटना पड़ा है।
बच गया तलवार से तो फूल से कटना पड़ा है॥"

क्रान्ति से ही शान्ति आती है। वीर ही अहिंसा का पालन स्वयं भी कर सकते हैं और दूसरो को भी करा सकते हैं। अत

झूम उठो ए भारत के वीरो
तुम हो ताकत से भरपूर।
एक बार फिर मार दो ठोकर
करो शत्रु को चकनाचूर॥

आसुरी शक्तियो से संघर्ष करना होगा। तुम शक्तिशाली हो गये तो दूसरे विधर्मी फिर कभी सिर नही उठायेंगे। तुम्हारा मान सम्मान करेंगे। बहुमत की भावनाओं का आदर करेंगे। गुस्ताखी करने की हिम्मत ही नही करेंगे।

"लख लानत है कमजोर नू
दुनिया मन्दी जोर नू"

—रामसिंह

धर्म के नाम पर यौन शोषण

भारत मे धर्म के नाम पर इतने अनर्थ हुए हैं कि उनकी कोई गिनती नही की जा सकती। इन्हीं अनर्थों मे एक देवदासी प्रथा भी है।

देवदासी वह लडकियां होती है जिनको कि देवी विशेष के नाम पर उनके माता-पिता द्वारा छोटी अवस्था मे ही निराश्रित छोड दिया जाता है। यौवनावस्था मे ये लडकियां समाज व धर्म के ठेकेदारो की काम पिपासा शान्त करने का साधन बनती हैं और बुढापे मे वे भीख मांगने के लिए मजबूर होती हैं।

गत 20 फरवरी को कर्नाटक मे लगभग 3000 नाबालिग लडकियो को देवदासी की दीक्षा दी गई है। स्वतन्त्रता के इतने वर्ष बाद भी नारी अधिकारो का जनाजा निकालने वाली यह देवदासी की कुप्रथा स्वतन्त्र भारत के संविधान के माथे पर एक बदनुमा कलक नही तो और क्या है? भले ही पुरातन काल मे देवदासी का मन्दिरो की सरक्षिका के रूप मे सम्मानजनक स्थान रहा हो (स्थान सम्माननीय होगा, यौन शोषण तो तब भी होता ही था), लेकिन वर्तमान मे तो देवदासियां मात्र काम पिपासा का साधन ही बनकर रह गई हैं। धर्म के नाम पर नारी के किए जा रहे इस यौन शोषण को अविलम्ब रोका जाना चाहिए।

— वीरेन्द्र आर्य

राशिफल भाग्यवादियों एवं अकर्मण्यों के लिए लिखा जाता है

—सैन्नीं प्रसेष—

पत्र-पत्रिकाओं में अपनी राशिफल गम्भीरता से पढ़ने वाले लोगों की संख्या निरन्तर घट रही है। इसका एक कारण यह भी है कि इस युग में निरन्तर सजग रहने वाला व्यक्ति ही तरक्की के रास्ते पर बढ़ता दिखाई देता है, जबकि भाग्य भरोसे बैठने वाला व्यक्ति बहुत जल्दी सब कुछ गंवा बैठता है।

शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि पत्र-पत्रिकाएं कभी भी राशिफल इस विचार से नहीं छापती कि वह सही होता है। पत्र पत्रिकायें पाठको की समझ और परम्परा की नब्ज देखकर ही राशिफल प्रकाशित करती हैं। अधिकांश पत्रिकाएं अपना राशिफल वाला काम ज्योतिषियों के बगैर बड़े मजे से चला लेती हैं। एक राशिफल लेखक का कहना है कि 'राशिफल लेखन में चाहे महनत की जाए, अथवा जरा सा हेरफेर करके इसे छापा जाता रहे यह काफी घटिया काम है। इसे करते हुए कोफ्त होती है और बहुधा हंसी आती है। जब हम यह सोचते हैं कि हमारे उलटफेर को देश भर के कई पढ़े लिखे लोग गम्भीरता से लेंगे तो हमें रोना भी आता है।

यहां हम ज्योति विज्ञान (नक्षत्रों, अन्तरिक्ष जगत) के अध्ययन का विरोध नहीं कर रहे हैं। ज्योतिष के वैज्ञानिक स्वरूप (राशिफल आदि वाले स्वरूप नहीं) की अलग-अलग मान्यताएं हैं।

विश्व के माने हुए चिंतकों ने ज्योतिष को सदा फटकारा है। प्लेटो ने कहा था "ज्योतिष हमें कुछ भी नहीं देता यह हमें पत्थर जैसी हालत में छोड़ देता है, जो हिलाने पर ही हिलता है। ज्योतिष हमें मनुष्य वाली हालत में नहीं रखता जो अपने आप स्वभाव के अनुरूप कार्य करता है।"

जर्मन के विद्वान कोर्नेलियस के अनुसार, "कल्पना और पाखण्ड के सिवा ज्योतिष का कोई आधार नहीं है।" कोर्नेलियस ने ज्योतिष का गहरा अध्ययन करने के बाद ही यह निष्कर्ष निकाला था।

जरमनी के ही खगोलशास्त्री जोहैनिस कैपलर की रोजीरोटी तो चलती ही भविष्यवाणियों के धंधे से थी। किंतु उन्होंने सिर्फ इस कारण से ही ज्योतिष की सराहना की कि उससे अंतरिक्ष के प्रति मनुष्य की रुचि बढ़ी। फ्रांस के ब्रह्मांड विज्ञानी पियरे सिमन लैप्ले का मत यह था, 'स्वयं को ब्रह्मांड के केन्द्र के रूप में देखने की भूल-भुलैया में पड़कर मनुष्य सहज ही अपने को इस रूप में देखने लगा कि सितारे उसके भाग्य पर प्रभाव डालते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि ब्रह्मांड के वास्तविक ज्ञान के व्यापक प्रसार ने इस धारणा को सदा के लिए नष्ट कर दिया है कि सितारे मनुष्य के भाग्य को प्रभावित करते हैं।

एक हिन्दी दैनिक की शुरुआत पर इस लेखक से एक सम्पादक ने आग्रह किया था, "दस बारह दिन के लिए आकर्षक और विश्वसनीय लगने वाला राशिफल लिख दीजिये।" उन्होंने पत्र पत्रिकाओं के ढेर की तरफ इशारा करके कहा था, "आप इस भण्डार में से राशिफल वाले कालमों से मदद ले सकते हैं। अमुक पत्रिकाओं का राशिफल बहुत 'भराबे वाला' होता है, उनका अध्ययन कर लें।'

यह लेखक बढ़िया पारिश्रमिक लेकर भी यह घटिया काम नहीं करना चाहता था। इस पर यह काम एक बेकार युवक को सौंप दिया गया, जो कम्युनिज्म पर भाषण देते नहीं थकता था।

कई पाठक इस बात की तरफ ध्यान नहीं देते कि कई पत्रिकाएं एक ओर राशिफल नियमित छापती हैं और दूसरी ओर ऐसी रचनाएं और विचार सामने रखती हैं जो ज्योतिष की खिल्ली उड़ाते दिखाई देते हैं। महिलाओं की एक पत्रिका ज्योतिष का सीधा मजाक उड़ाने के बावजूद आकर्षक शीर्षकों के नीचे 'आधुनिक' ढंग का राशिफल छापती है।'

शायद राशिफल छापने वाले भलीभांति जानते हैं कि मूर्खों के स्वर्ग में रहने वालों का ध्यान नहीं रखा तो उनकी पत्रिका के ग्राहक कम हो जाएंगे। कुछ पत्रिकाएं तो ज्योतिष पर लम्बे-लम्बे (गम्भीर किन्तु भ्रामक या भोंडे) लेख ही नहीं, विशेषांक भी छापती हैं। अपने पाठकों की समझ को भांपकर ये पत्रिकाएं झाड़फूंक, भूतप्रेत और डायन चुड़ैल वगैरा विषयों पर भी विशेषांक निकालती रहती हैं।

राशिफल छापना एक 'कला' भी मानी जाती है। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने एक बार कुछ छात्रों को अलग-अलग इस प्रकार के वाक्य कहे और छात्रों को खुश होते देखा—

"आप स्नेह व सद्भाव के भूखे हैं।"

"आप को शब्दों से फुसलाना सम्भव नहीं।"

"यौन के मामले में आप जागरूक रहना को सही मानते हैं।"

"अपनी स्वतन्त्रता आपको प्रिय है।"

मनोवैज्ञानिक का मानना है कि इसी प्रकार के वाक्य राशिफल छापने वालों की 'कला' को चार चांद लगाते हैं। "निराश करने की बजाय पाठक की उम्मीद (भले ही विचार की दृष्टि से वह मूर्खतापूर्ण हो) बढ़ानी चाहिए और राशिफल को 'संतुलित' बनाने के लिए निराश करने वाली बात को कमजोर बनाकर इस तरह लिखना चाहिए कि पाठक उसे खास महत्व न दे, बल्कि यही देखकर फूल जाए कि राशिफल उनके विचारों और हालत के अनुरूप है," एक अन्य राशिफल लेखक ने यह बात अपने सहयोगी से कही थी।

राशि फल कभी भी निश्चित नहीं हो सकता। निश्चय राशिफल पर ज्योतिष प्रेमी विश्वास नहीं करेंगे। उनका मजा किरकिरा हो जाएगा। स्वर्ग ढह जाएगा। वे सदा अनिश्चय में, कपोलकल्पनाओं में विचरना पसन्द करते हैं। जो राशिफल उन्हें फैसला सुना दे, उसे अगले दिन या सप्ताह, अगले पक्ष या माह कौन पढ़ेगा? राशिफल के उलटफेर और आकर्षक फतवे ही उसके प्रेमियों के स्वर्ग को बनाए रखते हैं।

एक सीधा सरल सवाल उठता है कि क्या राशिफल को गम्भीरता से लेने वाले लोग आत्मविश्वासी हो सकते हैं? यदि नहीं, तो वे दूसरों के बताए भविष्य पर कैसे सही ढंग से विश्वास कर सकते हैं? यदि हां तो वे अपना भरोसा छोड़कर दूसरों के कहे या लिखे को कैसे सच मान लेते हैं?

राशिफल पर भरोसा करना तो लचर मानसिकता है, लोग अब चोटी के भविष्यदर्शियों को भी महत्व नहीं देते। दुनिया भर के ज्योतिषियों में जिन ज्योतिषियों की पूछ है, वास्तव में ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में उन्हें कोई नहीं पूछता। ब्रिटिश के एक खगोल शास्त्री ने 1978 में चुनौती दी थी कि यदि कोई व्यक्ति मनुष्य की जिन्दगी पर राशि चक्र के प्रभाव को सिद्ध कर दे तो उसे 500 पौण्ड स्टर्लिंग पुरस्कार दिया जाएगा। तब से अब तक कोई ज्योतिषी सामने नहीं फटका। हां, कई लोगों ने यह इच्छा जरूर प्रकट की कि बगैर कुछ पुरस्कार लिए वे राशिफल के कथित प्रभाव को पाखण्ड सिद्ध कर सकते हैं।"

'ज्योतिषी की भविष्यवाणियां कभी भी सच नहीं निकली हैं' एक विद्वान का मानना है, "कभी कभी अटकलें जरूर लग जाती है या संयोग से वही होता है जो किसी ने घोषित कर रखा होता है। वह इस लिए कदापि नहीं घटता कि किसी ने उसकी भविष्यवाणी कर रखी है। यहां तक कि आसार देखकर जो भविष्यवाणियां की जाती हैं, उनकी कल्पना स्वयं औसत बुद्धि का कोई भी व्यक्ति कर सकता है।"

बहुधा, भविष्यवाणियों पर ध्यान देने वाले लोग अपने प्रयत्नों के महत्व को भूल जाते हैं।

> विश्व के माने हुए चिंतकों ने ज्योतिष को सदा फटकारा है। प्लेटो ने कहा था "ज्योतिष हमें कुछ भी नहीं देता, यह पत्थर जैसी हालत में छोड़ देता है, जो हिलाने पर ही हिलता है। ज्योतिष हमें मनुष्य वाली हालत में नहीं रखता जो अपने आप स्वभाव के अनुरूप कार्य करता है।"

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आने वाले चुनाव और आर्य समाज

—प्रो॰ उत्तम चन्द्र शरर—

आर्य समाज मानवता का प्रचारक समाज है, समाज का उपकार करना इसका मुख्योद्देश्य है। भारत भी संसार में आता है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान भारत में धार्मिक सामाजिक एवं राजनैतिक जागृति का मूल स्रोत आर्य समाज ही है। धार्मिक क्षेत्र में मिथ्या आडम्बरों एवं अन्धविश्वास से देशवासियों को इसने ही मुक्त किया तर्क पूर्ण स्वस्थ दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का श्रेय इसी समाज को जाता है नहीं तो मतमतान्तर तो अन्धविश्वास के पोषक रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में भी समाज के अत्याचार से पीड़ित जनों के पक्ष में आर्यसमाज ने आवाज बुलन्द की। यद्यपि सामाजिक वैषम्य आज भी शेष है परन्तु जनमत उस वैषम्य के पक्ष में नहीं रहा। आज सती प्रथा ... छूआछूत इस के बचे-खुचे ... जनसाधारण को विचित्र वस्तु के रूप में नजर आते हैं। अनाथालय हो या विधवाश्रम अथवा कन्या ... के विद्यालय यह सब आर्यसमाज की तपस्या का परिणाम है और जहां आज भी आर्यसमाज के प्रचार की कमी है वहां अ प्रकार भी पूर्ववत है। यह इधर उधर यह जहां तहां है हमारे अजमेर के मासमे जहां हमने वेद के सदा म दी वहां थोथ तर्क भी सहन नहीं।

राष्ट्रीय चेतना का प्रसारक आर्यसमाज ही है। स्वराज्य स्वदेशी स्वभाषा के गौरव की बात केवल और केवल आर्यसमाज के मंच से चली आज उसे भारतीयों ने अपना लिया यह प्रसन्नता की बात है परन्तु जिस माली ने इस बीज का वपन किया उस का यश तो अक्षुण्ण है।

भारत राष्ट्र स्वतन्त्र हो चुका परन्तु सत्ता जिन हाथों में आई वे सम्भवतः भारतीय संस्कृति से प्रभावित कम थे पश्चिम की भाषा ... सहज का उनके मन मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था। परिणामतः वैदिक संस्कृति के संरक्षण का काम अधूरा ही रह गया। आज भारत में विदेशी ... रहन सहन बोल चाल का बोलबाला है भारत की मूल भाषा संस्कृत तो ... पठन से भी बहिष्कृत की ... है हिन्दी भी अपने अस्तित्व को खतरे में पाती है। इन परिस्थितियों में इस वर्ष के अन्त में नये चुनाव आ रहे हैं जिनमें देश की जनता देश की बागडोर अपनी दृष्टि से सक्षम हाथों में सौंपेगी। देश की सभी राजनैतिक पार्टियां तैयारी में हैं। एक होड़सी लग रहा है यह दौड़ देश सेवा के लिये उतनी नहीं है जितनी सत्ता सम्भालने और हुकूमत करने की भावना से है।

आर्य समाज देश का सजग प्रहरी रहा है परन्तु प्रश्न है आने वाले चुनावों में वह कहां है? उसने देश की स्वतन्त्रता के लिये बिस्मिल जैसे बलिदानी दिये भगत सिंह सरीखे दीवाने दिये परन्तु अब उस का अस्तित्व देश की रक्षा के क्षेत्र में कहां है? क्या केवल यज्ञ सन्ध्या तथा वेद प्रवचन और देश भक्ति के तराने ही पर्याप्त हैं? इनके महत्व को नहीं नकारा जा सकता परन्तु यह भी सत्य है कि यदि देश के कर्णधार ... चुने गये जो इन कार्यों में श्रद्धा ही नहीं रखते तो देश का क्या बनेगा? क्या हमारा ब्रह्मचर्य का उपदेश T V के अन्तर्गत प्रलापों की बाढ़ की रोक सकेगा? क्या हमारी चरित्र की दुहाई सरकार द्वारा फैलाए अनाचार का मुकाबला कर सकेगी?

आर्य समाज वर्तमान राजनीति से सर्वथा दूर तटस्थ होकर बैठा है क्या यह उसकी नीति आत्मघाती तो सिद्ध नहीं होगी? दिनकर का यह पद्य तो उसे चेतना देता है—

समर शेष है इस में दोषी
नहीं है केवल व्याध
जो तटस्थ है समय लिखेगा उसका भी अपराध।

आर्य समाज का कोई राजनैतिक विंग नहीं वह संगठित रूप से किसी प्रत्याशी का समर्थन नहीं कर पाता वह केवल आलोचना करता है परन्तु इस आलोचना में भी उस की शक्ति का विखराव किसी से छिपा नहीं। वह वैदिक संस्कृति की रक्षा चाहता है परन्तु वैदिक संस्कृति के रक्षकों को देश की बागडोर देने में पीछे हटता है। इस अवस्था में राष्ट्र के निर्माण में वर्तमान काल में उसका सहयोग कितना रहेगा? और फिर आर्यों को यदि अपना समाज राष्ट्र सेवा में कोई मार्गदर्शन न दे तो किसी अन्य साम्प्रदायिक संगठन का शिकार होने से उन्हें कौन बचायेगा?

मैं समझता हूं कि राजनीति, विशेष रूप से आज के युग में सदाचरण का मार्ग नहीं सदाचार का पथ नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या दूर रह कर इसमें सुधार सम्भव है? और फिर हम ... के ... में कितने सुरक्षित रहेंगे यदि देश के नेता सदाचार के पक्षपाती न हों? रास्ता कठिन है परन्तु आंख मूंद लेने से बिल्ली का भय दूर नहीं होगा। आर्यसमाज को इन चुनौतियों का उत्तर देना होगा और वह जितना शीघ्र यह उत्तर दे पाये समाज के जीवन के लिये उतना लाभदायक होगा।

राशिफल भाग्यवादियो .

(शेष पृष्ठ 3 का)

वे यह सामान्य तथ्य विस्मरण कर देते है कि भाग्य और भविष्य मनुष्य के सही प्रयत्नों से बनता है और गलत प्रयत्नों से बिगड़ता है मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह ज्योतिष हानिकारक है।

ज्योतिषियो के कारोबार को सबसे बड़ा झटका 1975 में लगा था। विश्व के 186 वैज्ञानिकों ने दुनिया को सावधान करते हुए कहा कि ज्योतिष के नाम पर की जाने वाली भविष्यवाणियां कोरा पाखण्ड है और अब इस पाखण्ड को चलाए रखने वाले ज्योतिषियों का पूरी ताकत से विरोध किया जाना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि इन वैज्ञानिको को नोबेल पुरस्कार मिल चुका था।

यह लज्जाजनक स्थिति है कि हमारे देश में सम्पादकों व पत्रकारों की इच्छा न होने पर भी उन्हें मालिकों के आदेश पर या व्यवसायिक सफलता को ध्यान में रखकर ज्योतिष व सबसे घटिया रूप राशि फल को अपनी पत्रिकाओं में जगह देनी पड़ती है। यह स्थिति पढ़े लिखे लोगों व पाठको की रूढ़िवादिता का भी परिचय देती है।

कुछ भी हो ज्योतिष का भविष्य फल सब अ प्रकारका है।

12 फरवरी को स्वामी दयानन्द की जन्म जयंती मनाना कहा तक औचित्य पूर्ण है?

कोटा निवासी स्व. प्रो भीमसेन शास्त्री ने स्वामी दयानन्द के बाल्यकाल की घटनाओं के पौर्वापर्य का निश्चय कर स्वविवेचन के आधार पर फाल्गुन कृष्ण 10 सं 1881 वि तदनुसार 12 फरवरी 1825 को महर्षि की जन्म तिथि निश्चित की थी। कालान्तर में सार्व देशिक सभा द्वारा नियुक्त धर्मार्य सभा ने भी इसी तिथि को स्वामीजी की प्रामाणिक जन्म तिथि मान लिया। हमें प्रो भीमसेनजी की इस खोज पर कुछ नहीं कहना है। हमारा निवेदन तो इतना ही है कि आर्यसमाज महापुरुषों की जन्म जयन्ती विक्रम संवत तथा देसी तिथि के आधार पर मनाई जाती है। उदाहरणार्थ लेखराम की जन्म तिथितृतीया को अतः लेखराम वीर तृतीया को हमारी पंच पद्धति में मान्यता दी गई है। स्वामी दयानन्द का निधन भी कार्तिक अमावस्या को हुआ था यद्यपि उस दिन 30 अक्टूबर का दिन था किंतु आर्यसमाज में कार्तिक अमावस्या को ही ऋषि का निर्वाण दिवस मनाने की परिपाटी है। 30 अक्टूबर को नहीं।

इसी तर्क का अनुसरण करते हुए मेरा सार्व देशिक सभा से अनुरोध है कि यदि वह प भीमसेन निर्धारित तिथि को मान्यता देती है तो उसे फाल्गुन कृष्ण 10 को ऋषि की जन्म जयन्ती मनाना चाहिए और इसे ही आर्यसमाज के कैलेण्डर में स्थान मिलना चाहिए न कि 12 फरवरी को।

—भवानीलाल भारतीय

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मौहल्ला केसरगंज अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनायें।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 5 बुधवार 15 फरवरी 1989
अक 3 पं स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

माघ शु 10 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

'आर्य मित्र'' द्वारा सिद्धात विरोधी प्रचार

इन्हें तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदों का

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की 20 सितम्बर 1987 की अतरग सभा ने आर्यसभासदों के लिये एक नवीन शर्त को प्रण के रूप में स्वीकार किया था। सभा के निणयानुसार इस प्रण का पालन सभी आय सभासदो के लिए अनिवार्य होगा। वह प्रण निम्न है

'मै ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करूगा, ना ही मृतक श्राद्ध या स्थान विशेष को तीर्थ मानूगा। तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि-विधान को नही मानूगा। अर्थात् वेद विरुद्ध आचरण नही करूगा। मैं जन्मगत जाति-पाति या छुआ-छूत को नही मानूगा। मैं किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति सगठन का सदस्य या अधिकारी भी नही बनूगा तथा आर्य समाज के उपनियमो मे वर्णित सदाचार के नियमो का पालन करूगा। यदि मैं इसके विरुद्ध आचरण करू तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जावे।''

सार्वदेशिक सभा ने उक्त प्रण को लेना सभी आर्य सभासदो के लिये अनिवार्य तो कर दिया, लेकिन खेद की बात यह है कि व्यवहार मे तीर्थ आदि के सम्बन्ध मे इसका पालन कहीं नही हो रहा है।

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के मुख पत्र 'आय मित्र' साप्ताहिक के 29 जनवरी, 1989 के मुख पृष्ठ पर 'महाकुम्भ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' नामक एक लघु लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख मे ऋषि दयानन्द की मान्यताओ और वैदिक सिद्धातो की धज्जियां उडाते हुए एक स्थान विशेष (प्रयाग) को तीर्थराज और नदी विशेष के जल को पवित्र और उसमे स्नान करना कर्त्तव्य बताया है। लेख का एक अ श प्रस्तुत है

"ऐ मेरी पावन मातृभूमि! तेरे उत्तर मे हिमकिरीटधारी विशाल नगाधिराज अपन उत्तु ग शैलशिखरो के मध्य कलकल करती पावन जलधाराओ से मेरी प्यारी भारतभूमि के धराधाम को अनादिकाल से सिंचित करता चला आ रहा है। उसकी तीथयात्रा पावन तीर्थराज प्रयाग के सगम स्थल को स्पर्श करती हुई सागर के विशाल अन्तस्थल मे समागम के साथ पूण होती है। इन्ही शैल-शिखरो मे गिरि के गह्वरो मे, नदियो के सगम पर बैठकर ही हमारे पूवजो ऋषियो और मुनियो ने उस विधाता का साक्षात्कार किया था। इसीलिए तुझमे भ्रमण करना तेरे पवित्र जल मे स्नान करना हम अपना कर्तव्य समझते है। और आज उसी की स्मृति मे प्रयागराज कुम्भ मे करोडो की सख्या मे आबाल वृद्ध नर-नारी एक डुबकी भर के लिए लालायित हैं। न सर्दी की चिन्ता है, न भूख-प्यास की। कितना महान है मेरा हिमालय, हिमालय से निकलने वाली यह सुरसरि देवी—सुरसेरि भगवती गगे—त्रिभुवन तारणि तरल तरगे।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आर्यमित्र का सम्पादक मण्डल आम पौराणिको की भांति प्रयाग को तीर्थस्थान और गगा (नदी विशेष) के जल को पवित्र मानता है। ऋषि दयानन्द के भक्तो के लिए इससे अधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति और हो ही क्या सकती है कि देश के सबसे बड़े प्रदेश की समस्त आर्य समाजो के सगठन का मुखपत्र ही ऋषि दयानन्द के सिद्धातो व मन्तव्यो के विरुद्ध और पौराणिकता के पक्ष मे प्रचार कर रहा है।

'आर्य मित्र' मे पौराणिक मान्यता समथक यह लेख प्रथम बार ही प्रकाशित नहीं हुआ है। इससे पूर्व भी यदा-कदा पौराणिक विचारो पर आधारित सामग्री का प्रकाशन इस पत्र के सम्पादकीय मे हुआ है। गत जन्माष्टमी के अवसर पर श्रीकृष्ण पर लिखा गया सम्पादकीय भी किसी पोगापथी के मस्तिष्क की ही उपज था। लेकिन जिस सभा का सर्वोच्च अधिकारी (प्रधान) ही मृतक श्राद्ध व हरिद्वार मे अस्थि विसजन करने जैसी आर्यसमाज विरोधी पौराणिक मान्यताओ का पक्षधर हो, उस सभा के 'पत्र' से और आशा भी क्या की जा सकती है!

अब ऋषि दयानन्द तीर्थ किनको मानते हैं, इसका भी अवलोकन कीजिए —

"वेदादि सत्य-शास्त्रो का पढना पढाना, धार्मिक विद्वानो का सग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास निर्वैर, निष्कपट सत्य-भाषण, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान, विज्ञान आदि शुभ गुण कर्म (यह सब) दु खो से तारने वाले होने से तीर्थ हैं।"

(स प्र स. 11)

'जिससे दु ख सागर से पार उतरे कि जो सत्य भाषण, विद्या, सत्सग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ विद्या दानादि शुभ कर्म हैं, उसी को तीर्थ समझता हू, इतर जल स्थलादि को नही।'

(स्वमन्तव्यामन्तव्य)

"वेदादि सत्य शास्त्रो का नाम तीर्थ है कि जिनके पढने, पढाने और उनमे कहे हुए मार्गों पर चलने से मनुष्य लोग दु ख सागर को तैरके, सुखो को प्राप्त होते हैं।'

[ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ग्र थ (प्रामाण्याप्रमाण्य)

"जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना धर्मानुष्ठान सत्य का सग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं क्योंकि इन करके जीव दु ख सागर से तर जा सकते हैं।

(आर्योद्देश्यरत्नमाला)

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त विचारो के आलोक मे सच्चे तीर्थ की परिभाषा को जाना जा सकता है। हर की पैडी' को ऋषिवर ने 'हाड की पैडी' की उपमा दी थी। परन्तु आज अपने को उन्ही के उत्तराधिकारी कहने वाले तथाकथित आर्यसमाजी नेता उसी 'हाड की पैडी' के जल मे एक डुबकी लगाने मात्र के लिए लालायित है। हा हन्त!

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक · रासासिह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

महर्षि का जन्म दिवस कब ?

नेतृत्व सही मार्गदर्शन दे

इधर एक दो वर्षों से स्वराज्य, स्वधर्म, स्वसंस्कृति स्वभाषा और स्वाभिमान के प्रथम उन्नायक एव मत्र द्रष्टा महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्मदिवस 12 फरवरी को यत्रतत्र मनाने के समाचार प्राप्त हुए है। अब तक आर्य जगत् मे महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे व्याप्त अनिश्चितता एव प्रामाणिक तथ्यात्मक जानकारी के अभाव मे जन्मदिवस नही मनाया जाता था तथा आर्य पर्व सूची आदि मे तथा आर्य तिथि पत्रो मे इसका कही कोई उल्लेख नही मिलता। परिणाम स्वरूप समस्त आय जगत् मे तथा कि सभी आय समाज मे ऋषि जन्म दिवस का आयोजन नही होता था। केवल "ऋषि बोध दिवस" "ऋषि निर्वाण दिवस' आदि मनाये जाते है। परन्तु वेद सस्थान दिल्ली के सौजन्य से विगत एक दो वर्षो से कतिपय विद्वानो न 12 फरवरी 1824 ई को ऋषि का जन्म होना बताया है । तदनुसार आयोजन होने लगे हैं और पत्र पत्रिकाओ मे भी चर्चा होने लगी है। इस सम्बन्ध मे आर्य की शिरोमणि सभा 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा" तथा उसके अन्तर्गत गठित 'धमार्य सभा' तथा आर्य विद्वान समस्त आर्य जगत् को सभी तथ्यो से अवगत करात हुए महर्षि की सही जन्मतिथि तथा समारोह मनाने की प्रक्रिया तय करते हुए समस्त आर्य समाजो को निर्देश जारी करे। अन्यथा एकरूपता नही रह पायेगी और कही मनेगा कही नही मनेगा। सब मनमानी करेंगे। हमारे देश मे जन्मदिवस ही समारोह पूर्वक मनाने की परम्परा रही है यथा जन्माष्टमी, रामनवमी आदि। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस दिवस की गौरव गरिमा को बनाये रखने हेतु सार्वदेशिक सभा शीघ्र ही आवश्यक निर्देश देगी।

वीर हकीकतराय

प्रतिवर्ष बसत पचमी के अवसर पर वीर बालक हकीकतराय के अद्भुत बलिदान का सहज स्मरण हो जाता है। 14-15 वर्ष की किशोरावस्था के उस आर्य वीर ने अपने नाम को सार्थक करते हुए आर्य धर्म की रक्षा के लिये हसते-हसते अपना बलिदान दे दिया। ऐसे रणबाकुरो, अडिग साहसी आर्यवीरो के कारण सदियो की दासता तथा इस्लाम की तलवार और इसाईमत के प्रलोभन के बावजूद भी आर्य (हिन्दू) धर्म बचा हुआ है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

'सिंह भूखा होने पर भी, घास खा सकता नहीं।
रणवीर मर सकता है, पर सर झुका सकता नही ॥"

आत्मिक शक्ति के प्रबल पक्षधर ओ३म् के परमभक्त, राम और और कृष्ण के पद चिह्नो पर चलने वाले तथा शिवा और प्रताप के वशज उस वीर हकीकतराय ने माफी मागने के स्थान पर, इस्लाम को कबूल करने के बजाय जल्लाद की तलवार से अपना सिर कलम करवा दिया। धन्य हो हकीकत!

वह कौम मिट सकती नही, जिसमे हकीकत वीर हो।
कोई बता दे विश्व मे, ऐसा कोई वरवीर हो ॥

आओ आप और हम इस महान अमर बलिदानी की पुण्य स्मृति मे यह सकल्प ग्रहण करे कि—

"सर जावे तो जावे, मेरा वैदिक धर्म नही जावे।"

— रासासिह आर्य

दयानवन्द उवाच

सृष्टि की उत्पत्ति

—डा. बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु स्वामी जी! इस सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति से से हुई है या परमेश्वर से? इसका प्रयोजन क्या है? ईश्वर और जीव मे क्या भेद है?

दयानन्द सृष्टि की उत्पत्ति मे प्रकृति और परमेश्वर दोना ही कारण है सत्व, रजस, और तमस की साम्यावस्था रूप जड प्रकृति सृष्टि का उपादान कारण है और सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है जैसे चेतन पुरुष के सहयोग के बिना जड मिट्टी से स्वत घटोत्पत्ति नही हो सकती उसी प्रकार चेतन पुरुष-परमेश्वर, के बिना जड प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति नही हो सकती जो नासमझ लोग मकडी का दृष्टान्त देकर ईश्वर को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बतलाते है— उनकी मान्यता यथार्थ नही है क्योकि ईश्वर मकडी के समान शरीरवाला नही है और न ही उसमे मकडी के समान जडता का अश है— मकडी का जड शरीर तन्तु का उपादान कारण है और चेतन जीवात्मा उसका निमित्त कारण है। "जन्माद्यस्ययत' या "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" आदि युक्तियो के आधार पर यदि कोई ईश्वर को उपादान कारणता सिद्ध करना चाहे तो यह उसकी तर्क-विहीन विद्या बुद्धि का परिचायक है। समरणशील विकारी व मरण-धर्मा विश्व का उपादान कारण ईश्वर को मान लिया जावे तो सच्चिदानन्द स्वरूप अज और अधिकारी परमेश्वर भी वैसा ही हो जावे या "कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य" को सिद्धान्तानुसार ईश्वर के गुणकर्मस्वाभावानुसार ससार का भी गुण-कर्म-स्वभाव हो जावे किन्तु प्रत्यक्ष मे ऐसा देखा नही जाता। अत ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण ही है—उपादान नही—सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। सृष्टि उत्पत्ति क्रम मे प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति होती हैं, महत्तत्व से अहकार—अहकार से एकादश इन्द्रिया एव पचतन्मात्राए और पचतन्मात्राओ से पचमहाभूतो की उत्पत्ति होती है और पचमहाभूतो से सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि होती है।

सृष्टि का प्रयोजन जीवो को भोग और अपवर्ग—मोक्ष प्राप्त कराना है, यदि सृष्टि न हो तो जीवो को अनन्त भोग न प्राप्त हो सके और पुण्यात्मा ज्ञानीजनो को अपवर्ग की प्राप्ति न हो सके। जगत को बनाने मे ही ईश्वर की ज्ञान-इच्छा-क्रिया रूपी सामर्थ्य का साफल्य है और इसी म ईश्वर के न्यायप्रियता, दया भी पालकत्वादि गुणो की सार्थकता है। यदि सृष्टि न हो तो ईश्वर पूर्वसृष्टि मे जीवो के द्वारा किये गए पुण्य-पापादि कर्मो का फल कैसे दे सकता है? अत ईश्वर स्व सामर्थ्य के प्रकाश व जीवो को भावापवर्ग प्रदान करने के लिए ही सृष्टि करता है। जो तैत्तिरीय उपनिषद मे आकाश आदि क्रम से, छान्दोग्य मे अग्न्यादि-क्रम से, ऐते मे जलादि क्रम से, वेदो मे कही पुरुष, कही हिरण्यगर्भ आदि क्रम से, मीमासा मे कर्म, वैशेषिक मे काल, न्याय मे परमाणु योग मे पुरुषार्थ, साख्य मे कृति और वेदान्त मे ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है—उनमे कोई विरोध नही है। जब महाप्रलय होता है तो आकाश-आदि क्रम से सृष्टि होती है, जब आकाश और वायु का प्रलय नही होता और अग्न्यादि का होता है तो अग्न्यादि क्रम से सृष्टि होती है, और जब अग्नि का भी प्रलय नही होता तो जलादि क्रम से सृष्टि होती है अर्थात् दिन-अवान्तर प्रलय मे जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है— भावी सृष्टि वही से प्रारम्भ होती है। पुरुष या हिरण्यगर्भ परमेश्वर के वाचक हैं— परमेश्वर के निमित्त कारण है, महाप्रलय के बाद उसी की प्रेरणा से प्रकृति सृष्टि का सृजन करती है। जो मीमासा आदि दर्शनो मे कर्म आदि को

(शेष पृष्ठ 4 पर)

जोधपुर नरेश और ऋषि दयानन्द

—ठाकुर प्र मसिह—

महाराजा जसवतसिहजी जोधपुर नरेश द्वारा निमत्रित स्वामी दयानद सरस्वती जोधपुर 31 मई 1883 का पधारे और वहा विशिष्ट राजकीय अतिथि के रूप मे 16 अक्तबर १८८३ तक रहे वही स्वामी जी पर भयकर रोग का आक्रमण हुआ और अतत रूग्णावस्था मे अजमर आकर 30 अक्तूबर 1883 को निधन हो गया। जोधपुर का वातावरण उस समय ऐसा विपरीत रहा जो जोधपुर एव जोधपुर राजघराने के लिए कलक रूप बन गया।

मेरे पिताजी रावराजा रघुनाथ सिंह जी उस समय तेरह वष के थे उनके पिना रावराजा सुरतानसिह जी का कुछ समय पूव निधन हो गया था। उन पर जोधपुर नरेश की कृपा थी तथा राजघराने से सबध होने के कारण एव जागीर के पाटवी कु वर होने से नरेश ने ने उनको अपने सरक्षण मे लेकर अपने पास राइका बाग पैलस मे रख लिया। जोधपुर राज दरबार का वातावरण राजस्थान के अ य देशी रजवाडा की तरह ही था। राजा लोग मरहठो पि डारियो की लूट, आपसी युद्ध एव मुगल दरबार मे सेवा के लिए उपस्थिति से मुक्त होकर आराम का जीवन व्यतीत कर रहे थे। मुगल दरबार के विशिष्ट व्यक्तियो न इन रियासता मे अपना स्थान बना लिया था। जयपुर नरेश महाराजा सवाई रामसिह जी कुशल प्रबधक एव विद्वानो का आदर करनेवाल कटटर शैव थे उदयपुर नरेश महाराणा सज्जनसिह जी वार व्यवहार कुशल व बुद्धिमान थे। जोधपुर नरेश महाराजा जसवत सिह जी भी युद्ध कुशल एव गुणवान व्यक्तियो के कद्रदान थे। यहा के सभी नरेश आखेट प्रिय थे। उत्तम अश्वारोही व अस्त्र शस्त्र के उपयोग मे प्रवीण थे। अश्व सचालन एव शस्त्र का उपयोग मृगया मे सहायक था। वे मास मदिरा सेवन तथा भारतीय शास्त्रीय सगीत व वेश्याओ के न य आदि मे रुचि लेते थे। वेश्याओ को रियासत की नौकरी मे रक्खा जाता था जो गुणिजन महकमा कहलाता था। जोधपुर मे मुगल सभ्यता का अधिक प्रभाव था। जोधपुर नरेश के पास तो नन्ही भगतन कृपापात्र थी ही पर तु वहा के लगभग कई जागीरदारो प्रतिष्ठित राजपुरुषो व सेठ-साहूकारो के पास भी अपनी अपनी वेश्या नौकर थी, जो प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाती थी। जोधपुर नरेश यद्यपि स्वामी जी से प्रभावित हुए थे परन्तु प्रारभ मे अपने अस्वस्थ होने तथा बाद मे अपने स्वभाव के कारण कवल तीन बार स्वामी जी के निवास स्थान पर पधारे व स्वामी जी भी केवल तीन बार राइकाबाग राजमहल मे पधार। उस समय स्वामी जी का नरेश ने राजगुरु के समान सत्कार किया। राजमहल एव दरबारियो मे आपसी अधिकार तथा स्वाथवश षडय त्र तो सव त्र ही थे परन्तु जोधपुर मे कुछ विशेष थे। स्वामी जी द्वारा निर्भीक होकर सत्य के प्रचार करने से प्रत्येक हि दू सम्प्रदाय के ठेकेदारा मुसलमान व ईसाई धम के सकुचित विचार वाले प्रचारको आदि उन समस्त ऐसे व्यक्तियो का जिनके स्वाथ आर्थिक लाभ एव अध विश्वास व भक्ति पर कुठाराघात हुआ वह स्वामीजी क विरुद्ध हो गए। परतु नरेश क भय से स्वामीजी के विरुद्ध षडय त्र गुप्त रूप से हुआ।

स्वामी जी जब राइका बाग पलेस मे नरेश से भट करने पधारे तब पिताजी को स्व मीजी के दशन तथा वार्तालाप सुनने का सौभाग्य प्र प्त हुआ। स्वामी जा के व्यक्तित्व सुगठित शरीर एव नरेश के साथ वार्तालाप एव व्यवहार का पिताजी पर स्थायी प्रभाव हुआ। कुछ समय बाद जब पिताजी को महाराज प्रतापसिह जी के सरक्षण मे नरेश की आज्ञा से रख लिया गया तब पिताजी आय समाज के विद्वान् एव स यासियो के सम्पक मे आने लगे और आजीवन स्वामी जी के परम भक्त बने रहे।

महार ज प्रतापसिह जी द्वारा जोधपुर राज्य मे सुधार काय के कारण उनके अनेक शत्रु हा गये और अतत महाराजा जसवतसिह जी के 11 अक 1895 को स्वगवास हो जाने पर भावी नरेश महाराज सरदारसिंह जी के नाबालिगी मे तथा उनके राज्याभिषक के उपरान्त जोधपुर रियासत के प्रबध मे उनका प्रभाव कम हो गया। तब वहा आयसमाज का सरकारी महकमा भी समाप्त कर दिया गया। फलत कमचारियो व अन्य सबा की सेवा स्वत ही समाप्त हो गई।

मेरे पिताजी भी उस उथलपुथल के समय अपनी जागीर के गाव जीवद स्थायी निवास क लिए चले गये और प अचलेश्वर जी श्रीमाली ब्राह्मण सोजत निवासी जो जोधपुर आयसमाज के अतरग सभा के सभासद एव पादरियो के द्व रा ईसाई प्रचार के विरुद्ध महाराज प्रतापसिह जी द्वारा उपदेशक पद पर नियुक्त थे उनको अपने पास स्थायी निवास के लिए बुलाकर निवास व भोजन आदि का प्रबध कर दिया। फलस्वरूप स्वामीजी के ग्र थो व जीवन चरित्र आदि का पारायण प्रतिदिन सायकाल के समय एक घन्टे तक ठिकाने के प्रमुख व्यक्तियो व पिताजी क सम्मुख प्र रभ हुआ तथा आयसमाज के प्रतिष्ठित स यासियो उपदेशका आदिको निमत्रित किया जाने लगा स्वामी जी के जोधपुर प्रवास की घटनाओ पर भी प अचलेश्वर जी चर्चा से होने लगी। इस समय यह भी अनुभव हुआ कि जोधपुर से सबधित कुछ घटनाओ का मिथ्या प्रचार होने के कारण जोधपुर मे आय समाज का प्रभाव बहुत कम होने लगा था। इन सब विषया पर आय समाज के प्रसिद्ध जीवना लेखक डाक्टर भवानी लाल जी ने उत्तम प्रकाश डाला है। डाक्टर साहब ने बडे परिश्रम से तत्कालीन दस्तावेजो हकीकत बही आदि का निरीक्षण व अध्ययन करके अधिकार पूवक लिखा है। मैं भी मेरा स्मति के आधार पर यहा पर कुछ लिख रहा हू।

(1) स्वामी जी को जोधपुर पधारने का निमत्रण देने का कारण -

स्वामी जी उस जमाने के प्रसिद्ध सुधारक वेदो के प्रकाण्ड पण्डित व राज सम्मानित व्यक्ति थे। उदयपुर मे स्वामी जी का राजकीय सम्मान अति विशिष्ट राज गुरु की भाति हुआ था अत जोधपुर मे भी यह सोचा गया कि ऐसे महामानव के सम्मान मे जोधपुर क्यो पीछे रहे! जोधपर मे सामाजिक अधविश्वास ईसाई पादरियो द्वारा हि दू सम्प्रदायो की घटिया तरीके से आलोचना मसलमान अधिकारियो का नरेश पर प्रभाव आदि के बढ जाने से महाराज प्रताप सिह जी ने यह उचित समझा कि स्वामी जा के जोधपर पधारने से समस्त बुराईयो का निराकरण हो जायेगा।

(2) स्वामी जी के राइका बाग पलम मे आगमन के समय न ही भगतन का नरेश के पाम उपस्थित होना तथा शीघ्रता पूवक उसको रवाना करने के लिए पालकी मे बिठाना व उम पालकी को नरेश द्वा । सहारा देना—यह अतिसुन्दर कपोल कल्पना की गई है। जिन लोगो ने रियासत के समय राइका बाग पैलेस देखा है—वह जानत है कि उस भवन मे एक स्थ न स दूसरे स्थान मे जान के लिए पालका का उपयोग महारानियो क लिए भी नही होता था तो न ही भगतन के लिए पालका का उपयोग क्या कर किया गया? क्या नरेश के पाम अन्य कोई नौकर नही था जो स्वय द्वारा सहारा देनेकी नौबत आ गई क्या स्वामा जी अचानक नरेश के महल मे चले गये और क्या नरेश से मिलने किसी व्यक्ति अथवा किसी विशिष्ट अतिथि के जाने के लिए पहले से समय निर्धारित नही किया जाता था क्या आजकल स्वतत्र भारत मे भी गवनर अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति से मिलना बिना पूव निर्धारित समय के सभव है? यह कल्पना जोधपुर नरेश को बदनाम करने के लिए की गई थी और आश्चय है कि इस प्रकार के चित्र भी कल्पना के आधार पर बना लिए गए और इस घटना का राजदरबार के शिष्टाचार से अनभिज्ञ लोगो ने मान लिया।

(क्रमश)

आर्य समाज में होने वाले विवाह : कुछ नैतिक और कानूनी प्रश्न

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य

प्रावधान का दुरुपयोग

मेरी अंग्रेजी पुस्तक "आर्य समाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म" की समीक्षा "इल्लस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया" नामक सुपरिचित अंग्रेजी साप्ताहिक मे जब प्रकाशित की गई, तो वहा आर्य समाज के बारे मे पुस्तक मे दी गई जानकारी की प्रशसा की गई वही एक बात यह भी लिखी गई कि इससे पूर्व आर्य समाज के बारे मे साधारणत लोग यही समझते थे कि वह एक ऐसी सस्था है जो विवाह कराती है और विशेषकर ऐसे विवाह जो अन्यत्र नही किये जा सकते।

आर्य समाज के बारे मे इस गलत धारणा का कारण यह प्रतीत होता है कि बम्बई जैसे बडे शहरो मे कुछ आर्य समाजे इस प्रकार के विवाह रचाकर पर्याप्त धनराशि एकत्र करती हैं। अन्य प्रान्तो व नगरो में भी कई आय समाजे केवल कुछ निश्चित राशि लेकर इस प्रकार के विवाह कराती हैं और बदले मे विवाह का प्रमाण-पत्र देती हैं, जिसका उपयोग न्यायालयो अन्य स्थानो मे इस प्रकार के विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त करने के लिये किया जाता है। अजमेर की केसरगज स्थित प्रसिद्ध एव पुरानी आय समाज से इस प्रकार के विवाह सम्पन्न कराने के लिए विशेष प्रयत्न व आग्रह किया जाता है, क्योकि उसके द्वारा दिया गया प्रमाण पत्र आसानी से स्वीकार हो जाता है।

गत कुछ वर्षों मे इस समाज मे विवाह के लिए आए प्रार्थना पत्रो का विवेचन करने से इस बात की पुष्टि होती है कि उनमे से कुछ विवाह नैतिक अथवा कानूनी दृष्टि से वाछनीय नहीं थे। परिणामस्वरूप जब ऐसे कई अभ्यर्थियो के आवेदनो को अस्वीकृत किया गया तो कुछ निहित स्वार्थी तत्वो द्वारा इसके विरुद्ध इस समाज की समालोचना की गई। व्यवहार मे देखा जाता है कि ऐसे विवाहो मे कानूनी प्रावधानो की शर्त की उपेक्षा की जाती है। प्राय अन्तर-जातीय व धर्मान्तरण के अतिरिक्त ऐसे विवाह भी विशेष धनराशि लेकर आर्य समाजों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं जिन्हें आर्य समाज के सिद्धान्तो तथा नैतिक दृष्टि से भी उचित नही कहा जा सकता। अक्सर विवाह अभ्यर्थी इसीलिये "चट मगनी, पट ब्याह" करने का आग्रह करते हैं और इस प्रकार उनके बारे मे जाच पडताल करके उन्हे सम्पन्न कराना आर्य समाज के लिये भी कठिन हो जाता है।

उदाहरण के लिये "प्रेम विवाह" के नाम पर अक्सर एक कालेज मे पढने वाले लडके-लडकिया सुबह घर से निकलकर दिन मे आर्य समाज मे विवाह कराकर सायकाल या तो अन्तर्ध्यान हो जाते हैं या अपने अभिभावको को विवाह का प्रमाण पत्र दिखाकर उसे स्वीकार करने के लिये बाध्य कर देते हैं। उदाहरण के लिये एक सिंधी प्राध्यापिका को अपने पूर्व विवाह की सूचना दिये बिना उसके एक साथी अध्यापक ने इस समाज द्वारा विवाह करने मे सफलता प्राप्त कर ली।

आर्य विवाह कानून

आर्य समाज में होने वाले विवाह को कानूनी मान्यता एक केन्द्रीय अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त है, जो मध्यप्रदेश के तत्कालीन सासद और प्रसिद्ध आर्य नेता श्री घनश्याम जी गुप्त के प्रयत्न से पारित किया गया था। इसका नाम 'आयमैरिज एक्ट" 1937 है, जो 1955 के एक्ट द्वारा सशोधित किया गया। उसकी पहली धारा मे ही ये स्पष्ट किया गया है कि इस अधिनियम के अतर्गत किये गए वे ही विवाह वैध माने जायेंगे जो आर्य समाजियो मे परस्पर सम्पन्न किये जाते हैं। वस्तुत इस कानून की इस लिये आवश्यकता अनुभव की गई कि आर्य समाज के अनुयायियो मे जन्मगत जाति बन्धन तोडकर और कई बार अहिन्दुओ को शुद्ध करके विवाह किये जाते थे। इसी प्रकार विधवा विवाह भी आय समाज के माध्यम से सम्पन्न होते थे। इसलिये इस अधिनियम की धारा दो मे यह स्पष्ट किया गया कि "हिन्दू लॉ" या रीति रिवाज और परम्परा चाहे जो हो किन्तु आर्य समाज के अनुयायियो मे सम्पन्न किया गया कोई विवाह इस आधार पर अवैध नही माना जावेगा कि वर-वधू भिन्न जातियो व उपजातियो के थे अथवा कोई एक या दोनों विवाह से पूर्व हिन्दू धर्म से भिन्न धर्म के अनुयायी थे। इसी प्रकार वयस्क और पूर्व मे अविवाहित अहिन्दू धर्मान्तरण करके आर्यसमाजी होने की घोषणा करे तो उनके भी विवाह किये जा सकते हैं।

इस प्रकार ये स्पष्ट है कि आर्य समाज मे सम्पन्न किये गये इस प्रकार के विवाह के दोनो पक्ष अर्थात् वर-वधू आर्य समाज के अनुयायी होने चाहिये। जाने-अनजाने वे किसी आयु व विवाह विच्छेद सबधी किसी कानून के विरुद्ध न हो साथ ही आर्य समाज के सिद्धान्तो और नैतिक मर्यादाओ का उल्लंघन करनेवाले न हो।

आर्य समाज अजमेर का निश्चय

उपरोक्त पृष्ठ भूमि मे आर्य समाज अजमेर ने निश्चय किया है कि भविष्य में उसके द्वारा केवल निम्नलिखित अवस्थाओ मे ही आर्य समाज मन्दिर में विवाह की अनुमति दी जाए—

1– दोनो पक्षो मे से एक आर्य समाज का अनुयायी हो। साधारणत आर्य समाजियो को अपने विवाह आर्य समाज मन्दिर मे कराने चाहिये ताकि वे वैदिक पद्धति से ही किए जाए और उनमे प्रचलित आडम्बरो तथा अपव्यय के लिये स्थान न रहे।

2– अन्तरजातीय विवाह

3– विधवा विवाह

4– धर्मान्तरण करके आर्य समाज मे प्रवेश करने के इच्छुक वर-वधू के विवाह।

5– आर्य समाज मे होने वाले विवाहो और विशेषकर धर्मान्तरण के बाद होने वाले विवाहो की एक शर्त होनी चाहिये कि विवाह के बाद वे अपने नाम के आगे आर्य शब्द लिखने की लिखित घोषणा करें।

6– विशेष परिस्थितियो में वे विवाह जो बिना दहेज, मुहूर्त अथवा अन्य धार्मिक व सामाजिक कुरीतियो के कारण अन्यत्र न किये जा सकें।

उपर्युक्त शर्तों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमाण पत्र भी आवश्यक होने चाहिये–

1- आयु

- पहले अविवाहित होने सबधी

3- यदि विवाह विच्छेद हुआ तो न्यायालय का निर्णय

4- यथा सभव वर-वधू के पक्ष के अभिभावको की स्वीकृति।

सृष्टि कर्ता...

(शेष पृष्ठ 2 का)

सृष्टि का कारण बतलाया गया है—वह युक्तिसगत ही है क्योकि किसी भी पदार्थ की सृष्टि कर्म अर्थात् चेष्टाविशेष काल, उपादान विज्ञानरूप पुरुषार्थ, विभिन्न घटक तत्वो का सम्मेलन और कर्ता विशेष के अभाव मे नहीं हो सकती—अत कर्मादि समस्त रूप मे सृष्टि के प्रति हेतु हैं—न कि व्यस्त रूप मे।

ईश्वर और जीव मे महान अन्तर है ईश्वर सर्ग-स्थिति-सहार-कारक सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक है— जीव मे इन गुणो का अभाव है। ईश्वर अविद्या अस्मिता आदि पचक्लेश, कर्म विपाक और आशय से अछूता है—अत अज है जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त है किन्तु जीव क्लेश कर्मादि के वशीभूत होकर बार-बार शरीर धारण करता है। जीव भोक्ता है—ईश्वर द्रष्टा है। जीव का परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है जबकि ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, और मुक्तस्वभाव है। जीव आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करके ही आनन्दित होता है, ईश्वर का प्राप्तव्य कुछ नही है। ईश्वर अखण्ड एव सच्चिदानन्द है—वह मन-वाणी के परे है—जीव उसे प्राप्त करने के लिए ही जप, योग, उपासना आदि का आश्रय ग्रहण करता है। 'द्वा सुपर्णा' आदि आदि ऋग्वैदिक मत्र में जीवात्मा को भोक्ता एव ईश्वर को द्रष्टा बतलाकर दोनो का भेद स्पष्ट कर दिया गया है। अत ईश्वर और जीव उपर्युक्त भेदो के कारण परस्पर भिन्न हैं।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनायें।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

वर्ष 5 मगलवार 28 फरवरी 1989
अक 4 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

फाल्गुन कृ 7 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

स्वामी शक्तिवेश की हत्या से सबक लो!

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

स्वामी शक्तिवेश जी की नृशस हत्या अन्य हत्याओ से कई तरह से अलग है। स्वामी जी की हत्या के कारणो के अध्ययन से यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि मामला अत्यन्त गम्भीर है। और यदि इसे गभीरतापूर्वक नही लिया गया तो कालातर मे आर्यसमाज के अस्तित्व के लिए सकट पैदा हो सकता है।

स्वामी जी की हत्या क्यो हुई ? यह कोई छिपा हुआ राज नही है। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के स्वामित्व को लेकर पैदा हुए मतभेद की परिणति स्वामी जी की हत्या मे हुई। इससे खेदजनक बात और हो भी क्या सकती है कि स्वामीजी के हत्यारे (हत्या का षडयन्त्र रचने वाले) भी तथाकथित आर्यसमाजी ही हैं।

अभी कुछ समय पहले न्यायालय द्वारा गुरुकुल इद्रप्रस्थ के स्वामित्व (सचालन) सम्बन्धी मुकदमे का निर्णय स्वामी शक्तिवेश के पक्ष मे दिया गया था। प्रकटतया इससे गुरुकुल पर अपना अधिकार जताने वाला कुछ लोगो का एक गुट उनसे रुष्ट था। यह गुट शक्तिवेश जी से इसलिए अप्रसन्न नही था कि वे कोई भ्रष्टाचारी या अकर्मण्य व्यक्ति थे। वस्तुत इन लोगो का स्वामी जी से विरोध इसलिए था कि उनके स्वामित्व के कारण गुरुकुल से जुडे इन लोगो के स्वार्थ पूरे नही हो सकते थे।



स्व. स्वामी शक्तिवेश जी

स्वामी शक्तिवेश जी की हत्या से आर्यजनो की आख खुल जानी चाहिए। स्वामी जी की हत्या सच्चे ऋषिभक्तो के लिए एक चेतावनी है—जिस गभीरता से लिया जाना आवश्यक है। गत कुछ

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आर्य संस्थाओं को धारा 30 का लाभ देने की मांग

अजमेर। राजस्थान की समस्त आर्य समाजी शिक्षण संस्थाओ ने एकजुट होकर माग की है कि अल्प सख्यक शिक्षण सस्थाओ के लिये बनाई गई सविधान की धारा 30 का लाभ अन्य अल्पसख्यक हिन्दू शिक्षण सस्थाओ की तरह आर्य समाजिक शिक्षण सस्थाओ को भी दिया जाय।

यह प्रस्ताव 17 फरवरी 89 को दयानन्द कालेज मे डी ए वी सीनियर उ मा विद्यालय अजमेर के स्थापना शताब्दी समारोह के तहत आयोजित शिक्षा सस्थाओ के सम्मेलन मे पारित किया गया। आर्य शिक्षण सस्थाओ के इस सम्मेलन मे राज्य के श्री गगानगर ब्यावर, अलवर, जयपुर, सुमरपुर बादीकुई और अजमेर आदि स्थानो से लगभग 100 प्रतिनिधियो ने भाग लिया।

सम्मेलन मे प्रस्ताव रखते हुए दयानन्द कालेज के पूर्व प्राचार्य एव स्वागताध्यक्ष श्री दत्तात्रय आर्य ने कहा कि स्वाधीनता के बाद देश की शिक्षा पद्धति मे सुधार की दृष्टि से किये गये परिणाम निराशाजनक ही रहे हैं। उन्होने कहा कि आज गैर सरकारी शिक्षण सस्थाओ मे सरकार का हस्तक्षप बहुत अधिक बढ गया है। जिसका प्रभाव विद्यार्थियो को नैतिक शिक्षा देने मे बाधा पहुचाता है। इस कारण आर्य समाज जैसी शिक्षण सस्थाए भी स्वय की निष्ठा खोती जा रही हैं। अत आज जरूरत पुराने गौरव को बनाये रखने की है।

उन्होने कहा कि ईसाई मिशनरी स्कूलो मे आज प्रत्यक्ष या

(शेष पृष्ठ 4 पर)



शिक्षा सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए बायें से दायें श्री जगनप्रसाद रावत व आचार्य दत्तात्रय आर्य।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक रासासिह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

धार्मिक कट्टरता राष्ट्र के लिए घातक

सच्चा धर्म जोड़ना सिखाता है, तोडना नहीं। भारत विविध धर्मों एव सम्प्रदायो का देश है। यद्यपि यहा पर 85% सत्य सनातन वैदिक (हिन्दू) धर्म को मानने वाले हैं फिर भी भारतीय सविधान ने किसी एक धर्म को प्रमुख राजधर्म घोषित न करके इसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया है। सर्वधर्म समभाव की नीति राज्य की ओर से अपनायी गई है और सब धर्मों को अपने अपने प्रचार, प्रसार की स्वतत्रता है।

भारतीय धर्म और सस्कृति की सदैव यह परम्परा रही है कि उसमे व्यापकता, उदारता, सच्चाई, मानवता, सहिष्णुता को स्थान मिला है उसमे सकुचितता, घृणा, कट्टरता आदि के लिये कोई स्थान नही है। परन्तु विदेशी भूमि पर जन्मे तथाकथित धर्मों और सम्प्रदायो मे 'मजहब मे अक्ल को कोई दखल नही' को तरजीह दी गई है। व्यक्ति विशेष के द्वारा चलाये गये धर्मों मे, मसीहा, पैगम्बर, आदि के वचनो को 'बाबा वाक्य प्रमाण' मानकर तथा जिहाद धर्मयुद्ध आदि की कल्पनाकर लोहे की लकीर मान लिया गया है बाईविल एव कुरान की कई असगत एव बुद्धि विरुद्ध अवैज्ञानिक बातो के विरुद्ध जब जब भी कोई आवाज उठाने की हिम्मत की गई तब तब उन आवाज उठाने वाला के विरुद्ध पादरियो, मुल्ला मौलवियो, और धर्माचार्यों द्वारा कई फतवे दिये गये और धर्म के नाम पर कइयो को जिन्दा जला दिया गया, कइयो को अमानुषिक यातनाए दी गई रथ के पहियो के नीचे कुचलवा दिया गया अथवा सर कलम कर दिया गया।

मनुष्य एक विवेकशील एव बुद्धिजीवी प्राणी है। परमात्मा ने उसे सोच विचार कर कार्य करने मननशील होने, ज्ञान पूर्वक आचरण करने हेतु उन्नत मस्तिष्क प्रदान किया है। दिमाग पर ताले नही लगाये जा सकते। धर्म और विज्ञान, धर्म और सच्चाई, धर्म और ज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना ज्ञान, विज्ञान और सच्चाई के धर्म मे कई अनगल अप्रामाणिक तर्क विहीन अन्धविश्वासो, दूषित परम्परा और दोषपूर्ण कर्मकाण्डो को जन्म मिल जाता है। ज्ञान विज्ञान की खिडकिया बन्द कर देने पर कट्टरता, कठमुल्लापन को जन्म मिलता है जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और मानवता के लिये घातक है।

हमारे वैदिक धर्म मे धर्म के 10 लक्षणो का उल्लेख करते हुए उनमे धृति क्षमा, दम अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, अक्रोध के साथ साथ धी, विद्या और सत्य को भी स्थान दिया गया। धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया 'यतो अभ्युदय निश्रेयस सिद्धि" अर्थात् जिनसे इस लोक और परलोक दोनो की उन्नति और सिद्धि है। वही यह भी कहा कि 'वेद प्रतिपादितो धर्म " अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही धर्म है। वेद स्वय ज्ञानार्थक है। वेद ज्ञान भण्डार है। धर्म ही ग्राह्य है। "यस्तर्केण अनुसन्धत्त स एव धर्म" अर्थात् तर्क और सत्य की कसौटी पर जो खरा उतरे वही धर्म है। यह ठीक है कि व्यावहारिक पक्ष को दृष्टिगत रख कर यह कह दिया गया कि 'सत्य ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात्, सत्य अप्रिय। प्रिय च अनृत न ब्रूयात् एष धर्म सनातन।।" अर्थात् सत्य बोलो पर प्यारा लगनेवाला सत्य बोलो, कडवा लगने वाला सत्य मत बोलो। प्यारा लगने वाला झूठ भी मत बोलो, यही सनातन धर्म है।

दुर्भाग्य से भारत में मूलरूप से जन्मे तथा वर्तमान मे ब्रिटेन के नागरिक प्रसिद्ध विवादास्पद लेखक सुलेमान रशदी द्वारा लिखित "दी सेटेनिक वर्सेज" नामक पुस्तक मे उल्लिखित तथ्यों को लेकर तानाशाह शासक अयातुल्लाह खुमैनी द्वारा उन्हे मौत के घाट उतार देने का फतवा देने से समस्त विश्व के मनीषी विद्वानो, लेखको एव साहित्यकारो मे एक रोष की लहर फैल गई है, विश्व मे तनाव बढ गया है और कई देशो ने विचारो की आजादी का समर्थन करते हुये तथा लेखको को मारने की धमकी एवं फतवे की निन्दा करते हुए ईरान से अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिये हैं। पर इधर तमाम इस्लामी देशो मे इस्लाम के अलम्बरदार सुलेमान रशदी के खून के प्यासे होकर तोडफोड, प्रदर्शन और नारेबाजी कर जिहाद को बढावा दे रहे हैं जो इसानियत के लिये घातक है।

यद्यपि भारत ने पहले ही इस पुस्तक के प्रकाशन पर पाबन्दी लगा दी है फिर भी यहा के मुस्लिम कट्टरवाद के शिकार होकर धर्मान्धता का परिचय देते हुये जलसे जुलूसो का आयोजन करने के साथ जगह-जगह बन्द का आयोजन करवाकर साम्प्रदायिक दगो और तनाव को उकसा रहे हैं जो राष्ट्र के लिये तथा मानवता के लिये घातक है। तर्क का जवाब तर्क से, कलम का जवाब कलम से देना चाहिए, परन्तु इस्लाम मे वैचारिक स्वतन्त्रता न होने के कारण ही यह धर्मोन्माद बढ रहा है, जो स्वय इस्लाम के लिए भी दुखदायक है। काश मजहब मे भी अकल के लिये दखल होता। तभी तो एक उर्दू शायर को कहना पडा—

"खुदा के बन्दो को देखकर खुदा से मुनकिर हुई है ये दुनिया।
जिस खुदा के ये मानने वाले हैं, वह खुदा कोई अच्छा खुदा न होगा।।"

—रासासिंह

'आर्य पुनर्गठन' का विवरण

फार्म नं. 4

(नियम 8 देखिये)

1	प्रकाशन का स्थान	अजमेर
2	प्रकाशन की अवधि	पाक्षिक
3	मुद्रक का नाम	रतनलाल गर्ग
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हा
	पता	आर्य प्रिन्टर्स बाबू मौहल्ला, अजमेर
4	प्रकाशक का नाम	रासासिंह
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हा
	पता	आर्य समाज केसरगज अजमेर
5	सपादक का नाम	रासासिंह
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हा
	पता	आर्य समाज, केसरगज, अजमेर
6	उन हिस्सेदारों के नाम और पते जिनके पास कुल पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के हिस्से हैं।	आर्य समाज, केसरगज, अजमेर

मैं रासासिंह एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी के अनुसार पूर्णतया सत्य है।

रासासिंह
दिनाक · 28-2-89 (ह० प्रकाशक)

जोधपुर नरेश और ऋषि दयानन्द

— ठा प्रेमसिंह —

(गताक से आगे)

(5) स्वामी जी के जोधपुर आगमन एव प्रस्थान के समय "रोपड़" गाव मे विश्राम करने का उल्लेख है। गाव 'रोहट' उस समय एक ठिकाना था। वहा के जागीरदार प्रगतिशील विचारो के भद्र पुरुष थे। डाक्टर साहब ने जीवन चरित्र मे ग्राम के नाम को सही लिखा है।

(6) स्वामी जी से मिलने रावराजा मोहनसिह जी आये थे तथा वेदान्त विषय पर चर्चा की—यह नाम भी गलत लिखा गया था उस समय इस नाम के कोई रावराजा नही थे। रावराजा सोहनसिह जी सस्कृतज्ञ थ और स्वामी जी से वार्तालाप इन्होने ही किया था। यह नाम दुरुस्त करना आवश्यक है।

यहा मैं यह भी लिखना चाहूगा कि जोधपुर के हालात का स्पष्टीकरण डा साहब ने अति उत्तम किया है। महाराज प्रतापसिह जी तथा रावराजा तेजसिह जी द्वारा आय समाज के काय मे योगदान देने का विवरण डा साहब ने अलग पुस्तक मे दिया है। परन्तु मेरे विचार से जोधपुर नरेश और महाराज प्रताप सिह जी के विरुद्ध प्रचार तथा मास मदिरा सेवन को इतना तूल देने से लेखको द्वारा आय समाज का कोई हित नही हुआ बल्कि आय समाज को सरकारी विभाग से अलग कर दिया गया और जोधपुर नरेश महाराजा सरदार सिह जी के शासन काल मे आय समाज वहाँ बहुत शिथिल हो गई। यहा एक और शका उत्पन्न होती है कि जब स्वामीजी को जोधपुर मे इलाज से कोई लाभ नही हुआ तो स्वामी जी ने किसी अन्य मे इलाज कराने का क्यो नही कहा और जोधपर राज्य से बाहर के किसी आय भद्र पुरुष को क्यो नही सूचित किया।

आजकल का वातावरण तत्कालीन वातावरण से बिलकुल भिन्न है पराने आदर्श समाप्त प्राय हो गये हैं। खान पान मे विपरीत प्रगति हुई है। आय समाज के पुनर्गठन की और आय समाज अजमेर के यशस्वी प्रधान द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। धम के मूल सिद्धान्त तो अटल है परन्तु सदाचार और व्यवहार के सिद्धात परिवतनशील होते हैं। अत इस विषय पर विचार आवश्यक है। साप्ताहिक सत्सग मे सत्याथ प्रकाश का पाठ व वेद कथा होती ही है परन्तु हमारे युगपुरुष राष्ट्र पितामह स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र को जानना भी आवश्यक है। नव जागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती पुस्तक का भी इसी प्रकार पाठ प्रारम्भ किया जावे तो आपत्ति नही होनी चाहिये।

(3) नन्ही भगतन हिन्दू कट्टर वैष्णव थी और छुआछूत मे बहुत विश्वास करती थी। स्वामी गणेश पुरी की भक्त थी। वह नन्हीं जान के नाम से प्रसिद्ध नही थी। जन साधारण तथा राजमहल मे उसे नेनीजी के नाम से जाना था। दरबार (नरेश) की वह कृपा पात्र थी। परन्तु वह रखैल नही थी। राज काज मे भी उसका दखल था।

(4) स्वामीजी को काच पीस कर दूध मे दिया गया इस विषय पर डाक्टर भवानी लाल जी भारतीय ने प्रकाश डाला है। विष देने सबधी नरेश या महाराज प्रताप सिह जी व रावराजा तेजसिह जी को उस कुछ भी ज्ञात नही हो सका। अपने प्रतिद्वन्द्वी को मारने के लिये विष देने का राजस्थान के रजवाडो मे प्रचलन था परन्तु विष मे सखिया या धतूरा उपयोग मे लिया जाता था। पिताजी को इस बाबत कोई जानकारी नही थी अत डाक्टर साहब का निष्कर्ष ही सही है।

दयानन्द उवाच

बन्ध और मोक्ष

—डा बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु स्वामी जी! मोक्ष किसे कहते है? बन्ध और मोक्ष का कारण क्या है? मोक्ष के साधन क्या हैं? क्या मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है या मुक्त जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है?

दयानन्द दुख से आत्यन्तिक निवृत्ति—दुख से सदैव के लिए छूट जाना ही मोक्ष है। प्रकृति और पुरुष—ईश्वर, जीव के भेद का ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही जीव के बन्धन का कारण है। मोक्ष के साधन 4 हैं नित्यानित्य वस्तु विवेक इस लोक-परलोक के कमजन्यफल के भोग से वैराग्य शम दम-उपरति-तितिक्षा समाधान श्रद्धारूप षटक सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की इच्छा। इन चार साधनो से सम्पन्न पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी है। ऐसे सात्विक जितेन्द्रिय साधक को मैत्री-करुणा-मुदिता उपेक्षावृत्ति का यथायोग्य आचरण करना चाहिए और श्रवण मनन-निदिध्यासन और योगाभ्यास के द्वारा अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप, पाँच क्लेशो को विनष्ट कर आत्मानुभूति करनी चाहिए।

मुक्त जीव ब्रह्मलीन नही होता क्योकि यदि ब्रह्मलीन हो जाये तो मोक्ष का आनन्द कौन भोगे? ब्रह्मलीन होने का तात्पर्य है—ब्रह्म मे जीव का प्रलय होना—जीव अजर अमर है शाश्वत है इस प्रकार की मुक्ति मुक्ति नही विनाश है ब्रह्म मे लय होना समुद्र मे डूब मरना है वस्तुत जीवात्मा जब अपना बुद्धि और आत्मा मे स्थित सत्य ज्ञान अनन्त और



डा बाबूराम शास्त्री

आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है—वह उस व्यापक ब्रह्म मे स्थित होकर अनन्तविधानिधान ब्रह्म की कृपा से सभी कामनाओ को प्राप्त करता है अर्थात् यथाकाम आनन्द का भोग करता है—यथेच्छ लोको का स्वेच्छा से भ्रमण करता है—उसकी गति आबाधित होती है—वह सृष्टि के रहस्य को जान लेता हैं मुक्तात्माओ का सत्सग प्राप्त करता है—और पदार्थों का ज्ञान उसे हस्तामलक होता है।

जैसा कि कहा गया मुक्तात्मा ब्रह्मलीन नही होता—उसकी स्वतत्र सत्ता बनी रहती है। यह मुक्त जीवात्मा परान्तकाल पयन्त मोक्षानन्द भोग कर पुन जन्म लेता है। यह कहना सगत नही है कि जब जीव सदैव के लिए आवागमन के बन्धन से नही छूटता तो ऐसे मोक्ष से क्या लाभ? लाभ महान है—मोक्षकाल मे जीवात्मा ब्रह्मानन्द का अधिकारी होता है और इस मोक्षकाल की अवधि बहुत बडी है—अल्पज्ञ और अल्पशक्तिसपन्न जीव का आनन्दोपभोग अनन्त नही हो सकता और परान्तकाल तक आनन्दभोग करना कुछ कम तो नही है। वस्तुत तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी—दो सहस्र चतुर्युगियो का एक अहोरात्र ऐसे तीस अहोरात्रो का एक मास, ऐसे बारह मासो का एक वर्ष और ऐसे शत वर्षो का एक परान्तकाल, होता है—इस प्रकार मुक्तात्मा 31 नील 10 खरब 40 अरब वष तक मुक्तावस्था मे मोक्षानन्द का भोग करता है। मोक्ष की अवधि वस्तुत इतनो अधिक है कि आचार्यों ने अथवाद का आश्रय लेकर यहा तक कह दिया कि न च पुनरावर्तते अर्थात मुक्तात्मा का पुनरावतन नही होता जबकि अज नित्य, शाश्वत और पुराण जीवात्मा के लिये पुनरावतन अपरिहाय है अन्यथा ईश्वर का सृष्टि-उपक्रम ही खटाई मे पड जायेगा।

डी.ए.वी. संस्थाओं का एक गौरवपूर्ण इतिहास है —रावत

अजमेर। उत्तर प्रदेश के पूर्व गृहमन्त्री श्री जगनप्रसाद रावत ने कहा है कि डी ए वी शिक्षण सस्थाओ का इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

श्री रावत यहा डी ए वी सीनियर उच्च माध्यमिक विद्यालय अजमेर के स्थापना शताब्दी समारोह के अवसर पर आयोजित भूतपूर्व छात्रो के सम्मेलन मे मुख्य अतिथि पद से अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। उन्होने कहा कि डी ए वी शिक्षण सस्थाओ की शिक्षा के क्षेत्र मे ही नहीं स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है और अजमेर के डी ए वी विद्यालय के अनेक छात्रो व अध्यापको ने भी स्वतन्त्रता की लडाई मे सक्रिय रूप से भाग लिया था। यह ज्ञातव्य है कि श्री रावत भी इसी विद्यालय के छात्र रहे हैं। इस सम्मेलन की अध्यक्षता राजस्थान हाईकोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश व विद्यालय के ही भूतपूर्व छात्र श्री जसराजसिंह राणावत ने की।

इस अवसर पर सर्वश्री दत्तात्रेय आर्य—पूर्व प्राचार्य डी ए वी कालेज अजमेर, श्री कृष्णराव जी वाब्ले पूर्व प्राचार्य डी ए वी कालेज, श्री लक्ष्मीलाल जी जोशी पूर्व अध्यक्ष माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राज श्री ओ पी माथुर, प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय अजमेर श्री रमेशचन्द्र जी गुप्ता जिला शिक्षा अधिकारी (छात्र) अजमेर श्री मुकुन्दराम जी गर्ग—प्रसिद्ध वकील श्री चितरंजन जी वर्मा-एडवोकेट ने भी भूतपूर्व छात्रो के समक्ष अपने विचार व्यक्त किये। ज्ञातव्य है कि ये सभी महानुभाव डी ए वी सीनियर उ मा विद्यालय अजमेर के पूर्व छात्र थे।

सम्मेलन का सचालन विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री रासासिंह ने किया। श्री सिंह ने बाहर से प्राप्त शुभकामना संदेशो के बारे मे जानकारी देते हुए सभी आगन्तुक महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया।

स्वामी शक्तिवेश.

(शेष पृष्ठ 1 का)

दशको मे आयसमाज मे ऐसे नामधारी घुसपैठियो का वर्चस्व अत्यधिक बढ गया है जो कि अपने स्वार्थों की पूर्ति मे बाधा बनने वाले किसी भी व्यक्ति को अपने मार्ग मे हटाने के लिए कही तक भी जा सकते हैं जाहिर है कि जब ऐसे लोगो की आयसमाज के सिद्धातों मे ही निष्ठा नही है तो फिर इन्हे आयसमाज की प्रतिष्ठा के जनसाधारण मे गिरने से तो सरोकार होने का प्रश्न ही पैदा नही होता।

आय समाज के अस्तित्व को अब इन नामधारी आर्यों से सकट पैदा हो गया है। ऐसे लोग समाज के सगठन मे अनेक सर्वोच्च पदो पर आसीन हो गये हैं। विभिन्न प्रदेशों की प्रतिनिधि सभाओ के ~~चुनाव के असामाजिक~~ तत्वो के बल पर ये लोग अपना दबदबा बना चुके हैं। ये एक कटु सच्चाई है कि प्रदेशीय सभाओ के चुनाव ऐसे लोगो के कारण ही श्रमिक सगठनो के चुनावो का रूप ले चुके हैं।

स्वामी शक्तिवेश जी की हत्या मे आयजनो को सबक लेना चाहिए और आयसमाज के सगठन मे घुस आये स्वार्थी नामधारी आयसमाजियो को अलग थलग कर देने के लिये एक जोरदार अभियान चलाना चाहिए। यही स्वामी शक्तिवेश जी को आय जगत् की सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

आर्य संस्थाओं को....

(शेष पृष्ठ 1 का)

अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा वातावरण बन गया है जिसके प्रभाव से विद्यार्थी सस्कृति को खोते जा रहे हैं। अत यह जरूरी हो गया है कि अल्पसख्यकों की शिक्षण सस्थाओ मे नैतिक मामलो की रक्षा के लिये बनाई गई सविधान की धारा 30 का लाभ आय समाज की शिक्षण सस्थाओ को भी दिया जावे।

अत मे श्री आय ने कहा कि आय समाजी भी अल्प सख्यक ही है इस लिये उन्हें भी हिन्दू समाज को जैन, बौद्ध सिक्ख और यहा तक स्वामी विवेकानद द्वारा स्थापित स्वामी रामकृष्ण मिशन की शिक्षण सस्थाओ के समान अल्पसख्यक मानकर आय शिक्षण सस्थाओ को सविधान की धारा 30 के अतगत लिया जावे। इस प्रस्ताव को औपचारिक रूप से सम्मेलन मे जेठमल आय ने पढकर सुनाया जिसका समथन जयपुर के सत्यव्रत सामवेदी ने किया तथा अन्य सभी प्रतिनिधियो ने हाथ खडे कर प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

इस दौरान राज आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान छोटूसिंह की अध्यक्षता मे अग्रिम कायवाही के लिये 21 सदस्यीय समिति का गठन किया गया। जिसके अध्यक्ष श्री दत्तात्रय आय व मत्री सत्यव्रत सामवेदी होगे। उ प्र के पूव गृह मत्री जगनप्रसाद रावत सम्मेलन के मुख्य अतिथि थे। सम्मेलन का सचालन डी ए वी स्कूल के प्रधानाचाय श्री रासासिंह जी ने किया।

उत्सव

—श्री गुरुकुल [illegible] गुरुकुल महोत्सव [illegible] 12 मार्च 1989 को [illegible] सम्मेलन वेद सम्मेलन योग एवं अध्यात्म सम्मेलन एव यजुर्वेद पारायण यज्ञ तथा विभिन्न विषयो की सगोष्ठियो के साथ आयोजित होने जा रहा है। आयजगत के नेता राजनेता वैदिक विद्वान व अनेक शिक्षाविद इस महोत्सव को अपनी सान्निध्यता से अनुगृहित करेगे।

—मुख्याधिष्ठाता

मोतीलाल माल्यावार दिवगत

डी ए वी सीनियर उच्च माध्यमिक विद्यालय अजमेर मे भूतपूर्व विज्ञान शिक्षक एव अधिवक्ता श्री मोतीलाल माल्यावर का निधन 25 फरवरी 1989 को 92 वष की आयु मे हो गया।

अजमेर आय समाज ने उनके निधन पर शोक व्यक्त किया है और उनकी आत्मा की चिरशांति की प्रभु से कामना की है।

उल्लेखनीय है कि श्री मोतीलाल जी के सान्निध्य में अजमेर समाजके प्रधान आचार्य दत्तात्रयजी व आय समाज शिक्षा सभा के मत्री श्री कृष्णराव वाब्ले ने शिक्षा प्राप्त की थी।

स्वामी शक्तिवेश के निधन पर शोक व्यक्त

आय समाज अजमेर ने आय जगत् के प्रसिद्ध सन्यासी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के सचालक व अधिष्ठाता एव प्रवासी गुरुकुल उपदेशक महाविद्यालय अजमेर के सस्थापक के निमम हत्याकाण्ड से हुए असामयिक निधन पर शोक व्यक्त किया है।

पूज्य स्वामी जी का निधन आय जगत् की अपूरणीय क्षति है। अजमेर आय समाज के प्रति उन्हे विशेष लगाव था। हम सब परमपिता परमेश्वर से प्राथना करते हैं कि वह पूज्य स्वामी जी की आत्मा को चिर शाति एव सद्गति प्रदान करे तथा शोक सतप्त समस्त गुरुकुल वासियो को इस असहनीय दुख को सहन करने की शक्ति धैय एव सात्वना प्रदान करे।

निर्वाचन

आय समाज फोर्ट, बम्बई

1 प्रधान श्री रामरिछपाल अग्रवाल
2 उप प्रधान श्री सुदर्शन कुमार तहरन
3 मत्री श्री सदाशिव पर्णकर
4 उपमत्री एवं पुस्तकाध्यक्ष श्री बी टी सालीयान
5 कोषाध्यक्ष श्री भगवान नदीराम मल्होत्रा

—मत्री

स्वत्वाधिकारी आयसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन अजमेर से प्रकाशित।

ओ३म्

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 रविवार 15 अप्रेल, 1989
अंक 7 प.स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

चैत्र शु दशमी सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

भारत में शैक्षिक क्रांति और डीएवी शिक्षण संस्थाएं

—डा बाबूराम शास्त्री—

पिछले सौ वर्षों मे आर्य समाज ने शिक्षा जगत् मे जिस क्राति का बीजारोपण किया है—वह किसी शिक्षाविद् से तिरोहित नही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म-दर्शन सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए—स्त्रियो, शूद्रो तथा समाज के पिछडे वर्ग के लोगो के लिए, सम्यक् शिक्षा की एक सुविचारित सार्वजनीन आर्षशिक्षा पद्धति का शुभारम्भ किया जिसके फल-स्वरूप देश-विदेश मे अनेको गुरुकुलो का जन्म हुआ जिनमे वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार छात्र-छात्राए ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्य के सान्निध्य मे रहकर विद्याध्ययन करते हैं, गुरुकुलो मे छात्र-छात्रा के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया जाता है जिसमे यम-नियमादि के पालन पर ध्यान दिया जाता है योगासन, प्राणायामादि के द्वारा शारीरिक व मानसिक विकास का पथ प्रशस्त किया जाता है और सध्यावन्दनादि के द्वारा आध्यात्मिक उत्थान का उपाय किया जाता है औपचारिक शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक शिक्षा को भी महत्व दिया जाता है। चारित्रिक शिक्षा गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का महत्वपूर्ण अग है सदाचरण के द्वारा ही मनुष्य आदरास्पद होता है—सम्मान का भाजन होता है, वेद भी "मनुर्भव" का उपदेश करके हमे मनुष्य—उत्तम पुरुष, ही बनने की प्रेरणा देता है। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग मे जहा विश्व के दूसरे राष्ट्र विज्ञान व तकनीक मे दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहे हैं, देश को उस दिशा मे भी अग्रसर होना नितान्त आवश्यक हो गया है अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए। इन्ही भौतिक उपलब्धियो को दृष्टिगत करते हुए—आर्य समाज की स्थापना और गुरुकुल शिक्षा पद्धति के उदय के साथ ही समाज के प्रगतिशील विचारको—शिक्षाशास्त्रियो एव समाजोन्नायक विभूतियो ने—एक कालोचित—समन्वित शिक्षा पद्धति की रूपरेखा तैयार की, उसी का क्रियान्वयन—डी ए वी सस्थाओ की स्थापना के रूप मे हुआ, जिन सस्थाओ मे—आर्ष मर्यादाओ के ताने-बाने मे आधुनिक शिक्षा-पट निर्मित होने लगा। इसी शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप डी ए वी शिक्षण सस्थाओ ने राष्ट्र को असख्य सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ व ईमानदार राष्ट्रनेता, प्राध्यापक, डाक्टर, इजीनियर, न्यायाधीश, विधिवेत्ता, व्यवसायी व प्रशासनिक अधिकारी प्रदान किये, अपने अपने क्षेत्र मे जिनकी सेवाए अविस्मरणीय हैं। डी ए वी शिक्षण सस्थाओ ने शिक्षा जगत् म जो क्रान्ति उत्पन्न की है, इन इन सस्थाओ ने जिस वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया है, समाज और राष्ट्र को जो इनकी देनहै—उसकी कोई इयत्ता नही है—वह निस्सन्देह अतुलनीय है वह बेजोड है, किंतु ऐसा लगता है कि इन सस्थाओ से राष्ट्र और समाज का भौतिक अभ्युदय तो हुआ—जो समयोचित भी है और आवश्यक भी, पर इससे समाज का शरीर ही पुष्ट हुआ है—आत्मा नही, शायद प्रारम्भ में इन शिक्षण सस्थाओ में भौतिक ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आत्मिक विकास पर भी पर्याप्त बल था—जो शिथिल हो गया है। आज वह बात नही है जो पहले थी आज डी ए वी शिक्षण सस्थाए अपनी पहचान खोती जा रही हैं, अन्य शिक्षण सस्थाओ और डी ए. वी शिक्षण सस्थाओ मे अब विशेष अन्तर नही रहा है। हमारी शिक्षा पद्धति, हमारे आचार-व्यवहार, क्रियाकलाप वैसे ही हो चले हैं जैसे औरो के हैं। यह बात नही है कि महर्षि दयानन्द ने लौकिक अभ्युदयकारिणी अर्थकारी व्यावसायिक शिक्षा का समर्थन न किया हो या आर्य समाज मात्र निःश्रेयस् का पक्षपाती हो, स्वामी जी स्वय जर्मन के प्रोफेसर वाइज से पत्र-व्यवहार करके देश के नवयुवको को कला-कौशल की शिक्षा दिलाना चाहते थे और राष्ट्र के भौतिक अभ्युदय की उत्कट अभिलाषा रखते थे किंतु स्वामी जी क प्रमुख उद्देश्य वैदिक—धर्म—दर्शन एव सस्कृति का पुनरुद्धार करना था, लौकिक अभ्युदय के साथ—राष्ट्र के शरीर की रक्षा के साथ-साथ, राष्ट्र की आत्मा—धर्म—सस्कृति, की रक्षा करना उनका मुख्य लक्ष्य था गुरुकुल शिक्षा पद्धति मे इस पर विशेष बल दिया जाता था—और आज भी गुरुकुलो मे इस पर बल है। इन आवासीय गुरुकुलो मे छात्र-छात्राए आचार्य के सान्निध्य मे विद्याग्रहण के साथ-साथ आचार की भी शिक्षा-ग्रहण करते है, इसी मे आचार्य का आचार्यत्व निहित है, आचार—व्यवहार से ही शिक्षार्थी की परख होती है—मात्र औपचारिक शिक्षा से नही। आज समाज मे व्याप्त अनाचार, भ्रष्टाचार का मात्र एक ही कारण है—हमारी विकृत शिक्षा पद्धति जिसमे सदाचार को कोई स्थान ही नही दिया गया है छात्र चरित्रनिर्माण की दिशा मे सचेष्ट न होकर उपाधियो के पीछे भाग रहा है और नाजायज तरीके से भी डिग्री प्राप्त करने मे कोई सकोच नही कर रहा है। आचार-सदवृत्त, ही वैदिक सस्कृति का प्राण है इसी-'आचार को परम धर्म" कहा है और यह कहा गया है कि "आचार से हीन व्यक्ति को वेद भी नही पवित्र कर सकते" और "आचारवान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है"।

यह देश का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि आजादी के 42 वर्षों के बाद भी आज इस देश की कोई सुविचारित राष्ट्रोपयोगी शिक्षानीति नही है। "मैकाले" ने दुरभिसन्धि मे जिस शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया था—उसी पर हम आज भी चल रहे है। इस शिक्षा पद्धति से निश्चित ही राष्ट्र का गौरव कम हुआ है और यह अध पतन जारी है। इससे आर्यत्व खतरे मे है शिक्षा खतरे मे हैं शिक्षा का यदि यही विकृत रूप पनपता रहा और देश के राजनेताओ की अदूरदर्शितापूर्ण दुर्जन तुष्टीकरणनीति और अल्पसख्यक-बहुसख्यक, सवर्ण-अवर्ण, अनुसूचित-अननुसूचित, उच्च निम्न वर्ग की भेदक नीति बनी रही तो आर्य सस्कृति और आर्य जाति की पहचान समाप्त होने मे अधिक समय नही लगेगा और अगली शताब्दी तक वैदिक धर्म और वैदिक सस्कृति का नाम लेने वाला शायद ही बचे।

इन परिस्थितियो मे "आर्य समाज" के शिक्षाविदो, वैदिक विद्वानो, अधिकारियो एव प्रबुद्ध कार्यकर्ताओ का पुनीत कर्तव्य है कि वे मिल बैठकर वर्तमान प्रच-

(शेष पृष्ठ 4 पर)

सम्पादकीय

"जग को जगाने वाला आर्यसमाज है।
विश्व को बचाने वाला आर्य समाज है ॥"

किसी आर्यकवि की ये पंक्तियाँ कितनी सार्थक एव उपयुक्त प्रतीत होती हैं। 7 अप्रैल 1875 ई को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई नगरी मे आर्य समाज की स्थापना की थी। इस सगठन को स्थापित हुए 114 वर्ष हो चुके हैं। इन सौ से अधिक वर्षों मे इस महान क्रान्तिकारी सगठन ने जो महान कार्य किया है वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है।

ऋषि दयानन्द के मिशन को आगे बढाने के लिये आर्यसमाज ने धर्म, समाज, राष्ट्र, मानवता, राजनीति, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य आदि प्रत्येक क्षेत्र मे आमूलचूल परिवर्तन लाने के लिये अथक प्रयास किये। अपनी सेवाओ, अपने अनूठे बलिदानो, अपने जूझारू आदोलनो, अपनी सत्यनिष्ठाओ और चारित्रिक सुदृढता के आधार पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में अनुपम योगदान दिया। वेदो के सन्देश को घर-घर पहुचाने, उन्हे जन साधारण तक लोकप्रिय बनाने, जातिगत सस्कारो को मूलोच्छेदन करने, अन्धविश्वासो को मिटाने, पाखण्डो के गढ ढहाने, डके की चोट सत्य का जयघोष करने, राष्ट्रीयता और देश भक्ति की घुट्टी पिलाने, आजादी की भावना को सस्कारित कर प्रत्येक के दिलो मे तदर्थ जाग्रति एव चेतना उत्पन करने, निराश लोगो मे आशा का सचार करने, खोये हुए भारत को जगाने, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वराज्य, स्वदेश एव स्वसस्कृति के प्रति स्वाभिमान पैदा करने मे आर्यसमाज अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। आज भी जो सगठन हजारो शाखाओ के रूप मे देश विदेश मे फैल कर मानवता की सेवा कर रहा है, एकेश्वरवाद का प्रचार प्रसार कर चरित्र निर्माण एव मानवता का पाठ पढा रहा है, हजारो शिक्षण सस्थाओ के माध्यम से कोटि-कोटि जनता की सेवा मे लगा हुआ है, बिछुडो को गले लगाने वाला, विधर्मियों की ईंट का जवाब पत्थर से देने वाला, वीरत्व के भाव जगाने वाला, दीन-दुखियो की सेवा करने वाला, अनाथ एव विधवाओ को सहारा देने वाला सगठन आर्य समाज ही है।

तभी तो भारतीय स्वाधीनता सग्राम के महान पुरोधा सुभाषचन्द्र बोस ने एक बार कहा था—"महर्षि दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषो मे से थे, जिन्होने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो इसके आचार सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। हिन्दू समाज का उद्धार करने मे "आर्य समाज" का बहुत बडा हाथ है। रामकृष्ण मिशन ने बगाल में जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पजाब और उत्तरप्रदेश मे किया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पजाब का प्रत्येक नेता आर्यसमाजी है। स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हू। सगठन कार्यों मे सामर्थ्य और प्रचार प्रसार की दृष्टि से आर्य समाज अनुपम सस्था है। सगठन कार्य दक्षता, उत्साह और समन्वय की दृष्टि से आर्य समाज की समता कोई नहीं कर सकता।"

आर्य समाज का पुनर्गठन आवश्यक — 'आर्य पुनर्गठन' आर्य समाज के 114वें स्थापना दिवस पर समस्त आर्य जगत को यह आह्वान करना चाहता है कि वे एक बार फिर अपनी सुप्तप्राय शक्ति का आत्म साक्षात्कार करें, इस धधकती हुई आग को पुन धधकायें, इस पर पडी हुई राख का उडा दें और आर्यसमाजों का नये ढग से पुनर्गठन करें। चुनावी प्रक्रिया और प्रजातन्त्रीय प्रणाली तथा गुटबदी आदि के कारण कई निहित स्वार्थी पौराणिक तत्व भी इस महान क्रान्तिकारी सगठन में घुसकर इसे भीतर से खोखला कर रहे हैं। इसे निष्क्रिय एव शिथिल सगठन बताकर तथा कट्टरवादी एवं तर्कवादी सगठन कहकर इसे कुण्ठ करने के दुष्प्रयत्न कर रहे हैं, इससे हीनता का भाव भर रहे हैं। जाति, वर्ण, सम्प्रदायगत व धर्मो मे बधे हुए ये लोग पौराणिकरूढियो, अन्धविश्वासो, सामाजिक कुरीतियों एवं दकियानूसी विचारो के विरुद्ध लडने का साहस नही जुटा पा रहे हैं, थोथी एकता एवं सर्वधर्म समभाव एव समन्वय के नाम पर पोप लीलाओ एवं पाखण्डो पर प्रहार करने तथा सच्ची बात डके की चोट से कहने मे सकोच कर रहे हैं। 'यथास्थितिवादी' 'सत्तावादी' अथवा सरकारी बनकर सगठन को हानि पहुचाते हुए दयानद की आत्मा को दु ख पहुचा रहे हैं, आर्यसमाज मे भीतर घात कर रहे हैं। ऐसे लोगो को बाहर निकालना होगा, सगठन से हटाना होगा, शुद्धिकरण करना होगा, "कृण्वन्तो विश्व आर्यम्" का अलख पहले जगाना होगा। तभी आर्य जाति, वैदिक धर्म एव आर्यावर्त्त का कल्याण होगा। तभी हमारा यह कहना सार्थक होगा कि 'जो बोले सो अभय, वैदिक धर्म की जय।"

—रासासिंह

आर्य समाज

जग को जगाने वाला आर्य समाज है।
विश्व को बचाने वाला, आर्य समाज है॥
ईश की उपासना का, रास्ता दिखा दिया,
जड की अराधना के पाप से बचा लिया,
ढोंग ढोल जिसके भय से, डोल रहा आज है।
आर्य समाज ....

ठाकुरो की ठोकरो ने, कर दिया बेहाल था,
दरिन्दयो का फैला हुआ, चारो ओर जाल था,
जिसने देश जाति की, बचाई आज लाज है।
आर्य समाज ....

नारियां भी वेद पाठ, सध्या, हवन कर रही,
रूढियां कुरीतियां हैं, अपने आप मर रहीं,
वेद के प्रचार का जो, कर रहा सुकाज है।
आर्य समाज ....

कौन था जो आर्यो की, भावना जगा गया,
कौन था जो मौत से भी, जूझना सिखा गया,
श्रद्धानन्द, लेखराम, प्यारा हसराज है।
आर्य समाज ....

देशहित में वार दी, अनेक ही जवानियाँ,
खून से लिखी हैं इसने, देश की कहानियाँ,
लाजपत जुटा के आज, पा लिया स्वराज है।
आर्य समाज . . ..

कौन वागवाद से जो, विश्व को बचायेगा,
पाप-पुण्य क्या है कौन, विश्व को बतायेगा,
मानवीय रोग का तो, एक ही इलाज है।
आर्य समाज ....

शोक व्यक्त

आर्य समाज, अजमेर ने हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार एव पुरानी पीढी के आर्य समाजी वेद मुक्तत के एवं वयोवृद्ध गांधी वादी चिन्तक, पत्रकार और ऋषि भक्त श्री रामनारायण चौधरी के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया है तथा दिवगतों की आत्मा की चिर शांति के लिए प्रभु से प्रार्थना की की है।

—मन्त्री

पीयूष सम्मानित

आर्यसमाज सान्ताक्रुज ने इस वर्ष का 11000/- रु. का वेदोपदेशक पुरस्कार वरिष्ठ जननीप-देशक पन्नालाल पीयूष को प्रदान किया है।

—डॉ. वेद रत्न आर्य

महर्षि दयानन्द की विवादग्रस्त मृत्यु

प्रस्तुत लेख के लेखक डॉ ब्रजभूषणसिंह 'आदर्श' हिन्दी-जगत के एक वरिष्ठ पत्रकार हैं। आपने लम्बे समय तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है और पत्रकारिता पर लिखी आपकी कई पुस्तकें खासी चर्चित हुई हैं। महर्षि दयानन्द की मृत्यु के कारणों पर अपने इस लेख में डॉ आदर्श ने कुछ विशेष शोध परक जानकारिया देने का स्तुत्य प्रयास किया है। हम आय विज्ञजनो की भी इस पर प्रतिक्रियायें आमन्त्रित करते हैं।

—सम्पादक

स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु का प्रकरण विवादास्पद है और उस पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। स्वामी जी की प्राय सभी जीवनियो म कहा गया है कि उनकी मृत्यु विष देने से हुई और यह जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह द्वितीय की रखैल नन्ही जान की दुरभिसंधि का परिणाम था। नन्ही एक अनिद्य सुन्दरी तथा कट्टर वैष्णव हिंदू थी। जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह उसे सबसे अधिक चाहते थे। उसकी सम्पन्नता का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति की नीलामी से सरकार को 20 लाख रु मिले। उसके पास 700 तो कीमती घाघरे थे। अनेक बीमारियो से ग्रस्त उसकी मृत्यु स्वामी जी की मृत्यु के बहुत बाद 24 जुलाई 1909 को हुई। वह धर्म परायण थी और इस कारण नन्ही भगतिन के नाम से लोकप्रिय थी।

जीवनीकार बताते हैं कि जब स्वामी जी धर्म प्रचार के लिए जोधपुर गए उन्होने राजा को नन्ही बाई की पालकी मे कधा लगाते देखा। इस पर उन्होने राजा की भर्त्सना की। यह बात नन्ही को खटक गई और उसने स्वामी जी को जहर दिलवाने की दुरभिसधि की। इस घटना का इतिहास में कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता है। अत उनकी मृत्यु के लिए किसी को जिम्मेदार ठहराना औचित्यपूर्ण नही है।

यह कहानी मनगढन्त लगती है क्योंकि स्वामी जी के जोधपुर आगमन के समय नन्ही जोधपुर मे नहीं थी और उसका स्थान नैनीबाई ने लिया था। दूसरी बात यह कि जोधपुर महल का जनाना खाना (रानी का बाग) पुरुषो के हिस्से से लगा हुआ था। वहा जो सकरा सा रास्ता था उसे पार करने के लिए पालकी की जरूरत ही नहीं पडती थी। राजा को पालकी में कधा लगाने की बात तो दूर।

महाराजा ने स्वामी जी को दीवान फैजुल्लाह के बाग मे ठहरने की व्यवस्था कराई थी। वे उनके अनन्य भक्त थे और उनका बडा मान सम्मान करते थे। ऐसी स्थिति मे स्वामी जी का महाराजा को बिना पूर्व सूचना दिए राजमहल मे जाना भी सभव प्रतीत नहीं होता।

एक अन्य जीवनी लेखक देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय का कथन है कि जो टिप्पणी स्वामी जी ने की थी वह महाराजा के अनुज किशोरसिंह की अध्यायी के प्रति थी और जिसके लिए उसने स्वामी जी से क्षमायाचना की थी। ननीबाई की छोटी बहिन नान्हीबाई उन दिनो किशोरसिंह की रखैल थी। इन रखैलो के कारण ही रियासतो मे षडयन्त्र के खेल खेले जाते थे और स्वामी जी को यह बात भली भाति मालूम थी।

इन जीवनीकारो ने अलग प्रकार से जहर देने वाले रसोइए के नाम बताए हैं और कुल मिलाकर 8 नाम सामने आते हैं। इनमे प्रमुख नाम जगन्नाथ का है। इसी प्रकार जहर का नाम भी स्पष्ट नही है। कोई कहता है कि स्वामी जी को काच पीस कर खिलाया गया, कोई संखिया और कोई पारा पिलाने का दावा करता है। यहा भी बहुमत दूध मे पिसा हुआ काच पिलाने के पक्ष मे है।

पर डाक्टरो का मत क्या था जिन चिकित्सको ने स्वामी जी का उपचार किया था वे थे—डा सूरजमल, डा अलीमर्दन खा पश्चिमी राजपूताना के मुख्य चिकित्सक डा एडम्स और रेसीडेन्सी सर्जन डा रोबेन। इन डाक्टरो ने स्वामी जी का इलाज जोधपुर मे किया पर नाकामयाब रहे। इनमे से किसी ने भी न तो जहर की बात की और न उसका उपचार ही किया। लोगो ने सदेह किया कि अलीमर्दन और अग्रेज चिकित्सको ने जान बूझकर इलाज में लापरवाही की। पर सबसे पहले डाक्टर जिन्होने स्वामी जी की चिकित्सा की थी वे थे डा सूरजमल। उन्होने भी न तो जहर की बात की और न उसका उपचार। स्वामी जी जैसे योगी भी गिलास भर काच मिला दूध पी गए और उन्हे भी इसका कुछ आभास नही हुआ। यह बात कुछ जमती नही। उतना ही नही जहर सेवन और डाक्टरो की लापरवाही के बाद भी स्वामी जी की मृत्यु एक माह बाद हुई।

जब स्वामी जी ने जोधपुर से माउन्ट आबू के लिए प्रस्थान किया उसके बाद डा लक्ष्मणदास ने उनकी चिकित्सा की। एक आर्यसमाजी नेता भागे-भागे अजमेर भी गए और वहा के प्रसिद्ध हकीम पीर जी की दवा लाए जो स्वामी जी को मारवाड जक्शन पर दी गई। इसके बाद अजमेर पहुचने पर डा न्यूमन ने उन्हे डबल निमोनिया बताया। इस सदर्भ में प्रो जे ए एस जोर्डन्स ने अपने नवीनतम शोध पूर्ण ग्रथ स्वामी दयानन्द सरस्वती लाइफ एण्ड आईडयाज मे लिखा है कि दो सौ मील की रेल यात्रा करने बाद स्वामी जी अजमेर आए जहा सिविल सर्जन डा न्यूमन ने उनकी जाच कर डबल निमोनिया बताया। डाक्टर की स्पष्ट हिदायत के बावजूद भी स्वामी जी तीव्र ज्वर मे भी कमरे के बाहर बरामदे मे चले गए जहा कडाके की ठड पड रही थी। इससे उनकी स्थिति बहुत गम्भीर हो गई।

स्वामी जी के लिए चिकित्सको की जाति को लेकर कोई भ्रांति नही थी। अन्यथा वे हिंदू मुस्लिम और अग्रेज सभी चिकित्सकों से चिकित्सा नही करवाते। सच तो यह है कि महाराज ने अच्छी से अच्छी चिकित्सा का प्रबंध स्वामी जी के लिए किया।

स्वामी जी की मृत्यु के काफी समय बाद उन्हें जहर देने की बात प्रचारित हुई और पुष्टि के लिए नन्ही जान रसोइए द्वारा जहर देने, मुसलमान और अग्रेज डाक्टरो द्वारा जान बूझकर लापरवाही बरतने का त्रिकोण बनाया गया। ऐसा प्रतीत होता है।

ज्ञातव्य है कि आर्यसमाज लाहौर के मुख पत्र दि आर्य ने भी स्वामी जी को जहर देने का कोई उल्लेख नही किया था। बल्कि 1883 के अक मे स्पष्ट कहा गया कि उनकी मृत्यु नजले से हुई।

ये तथ्य बताते है कि वस्तुत स्वामी जी की मृत्यु प्राकृतिक रूप से हुई। स्वामी जी की महानता पर इसका कोई असर नही पडता। क्योंकि वह उनके महान कार्यों पर आधारित है। रोम्या रोला के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय एकता तथा पुनर्निर्माण के बहुत उत्साही प्रवक्ता थे। उनकी मृत्यु पर मैडम ब्लैवेटस्की ने कहा था कि शकराचार्य के बाद स्वामी दयानन्द से बडा संस्कृत विद्वान, दार्शनिक ओजस्वी वक्ता तथा सामाजिक बुराईयो पर निर्मम प्रहार करने वाला कोई नही हुआ। महर्षि अरविंद ने कहा कि वे ज्ञान मार्ग के सिपाही देवलोक के योद्धा व्यक्ति और संस्थाओ के निर्माता और कठिनाई के विजेता थे।

—डा ब्रजभूषणसिंह आदर्श—

पता — गल 203 कोटरा, भोपाल

उपदेशक-महाविद्यालय मे प्रवेश प्रारम्भ

श्री स्वतानन्द निगमाश्रम गजदारा गर, बिजनौर (उ प्र) के अन्तर्गत स्वामी इन्द्रवेश के निर्देशन मे सचालित उपदेशक महाविद्यालय म जून-जुलाई 89 म 50 नए विद्यार्थियो को प्रवेश दिया जाएगा।

स्वामी इन्द्रवेश द्वारा जारी विज्ञप्ति मे उक्त जानकारी दी गई है। विज्ञप्तिनुसार चार वर्षीय उपदेशक कोर्स के सभी विद्यार्थियो का व्यय आश्रम ही वहन करता है। प्रवेश इच्छुक जन विस्तृत जानकारी के लिए आश्रम से सम्पर्क करें।

प्रख्यात गांधी वादी चिंतक स्वर्गीय श्रीरामनारायण चौधरी की वसीयत

मेरे पास इस समय इस प्रकार रुपया है:—

(1) स्टेट बैंक की अजमेर शाखा मे तीन टी डी आर के रूप मे 15,000 रु (अक्षरे पन्द्रह हजार रुपये)

(2) कृष्णा ब्रदर्स पुस्तक विक्रेता महात्मा गांधी मार्ग अजमेर मे 10,000 रु (अक्षरे दस हजार रुपये) बिना ब्याज उधार तीन वर्ष मे अनुबंध के अनुसार लौटाने की शर्त पर

(3) इस 15,000 रुपये (अक्षरे पन्द्रह हजार रुपये) की राशि का इस प्रकार उपयोग किया जाय।

(क) 5,000 रु (अक्षरे पांच हजार रुपये) टी डी आर के परिपक्व होने पर जीवन निर्माण संस्थान-गोल बाग मार्ग, भरतपुर को दान स्वरूप दिया जाय ताकि संस्थान इस रुपये से राजस्थान् त्रिमूर्ति अर्थात स्व अर्जुन लाल जी सेठी, केसरीसिंह जी बारहठ और विजयसिंह जी पथिक की स्मृति मे एक कुटिया बनाये।

(ख) 5,000 रु (अक्षरे पांच हजार रुपये) श्री सवाईसिंह किशोर निवास, त्रिपोलिया बाजार जयपुर को दिये जाय ताकि वे मेरी पूर्व सूचना के अनुसार वर्तमान व्यवस्था परिवर्तन आदि के लिए खर्च करें।

(ग) 5,000 रु. (अक्षरे पांच हजार रुपये) मेरी बड़ी बेटी चि सीता को उनके द्वारा प्रस्तावित स्व अजनादेवी की स्मृति मे मातृछाया नामक लावारिस बच्चो के कल्याण के लिये आश्रम के बनाने और काम करने लगने पर दिया जाय।

(घ) 10,000 रु. (अक्षरे दस हजार रु) मेरी छोटी बेटी सुभद्रा को तीन वर्ष बाद दिया जाय ताकि ये रिटायर होने पर अपनी पसन्द की कोई सेवा कार्य की योजना बनावे तो उसके सचालन के लिये काम आये।

(ङ) इन 25,000 रुपये (अक्षरे पच्चीस हजार रुपये) के ब्याज का और मेरी पुस्तको की रायल्टी तथा बिक्री के लाभांश का जो रुपया आये वह तथा बैंको मे मेरे बचत खातो मे जमा निकले वह मेरे दामाद चि जगदीश जी के पास अमानत जमा रहे और वे चि सुभद्रा के रिटायर होने पर या अन्यथा अजमेर मे आकर रहे उस वक्त तक मैं चि. सुभद्रा के जिस मकान में रहता रहा हूँ, उसकी मरम्मत, सफेदी, पुताई आदि के लिए खर्च करते रह सकें।

मेरा सब सामान, कपड़े, फर्नीचर, पुस्तकें और कागजात चि. सुभद्रा को दिये जाए।

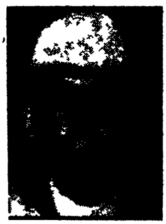
(4) मेरी जहा मृत्यु हो वहीं दाहसस्कार कर दिया जाय। मेरे लिये कोई शोक सभा, जुलूस या अन्य कोई मातमी रस्म अदा न की जाय। मेरे शव को मानव कधों के बजाय किसी वाहन में मरघट तक पहुँचा दिया जाय।

(5) मैंने ये वसीयत पूरे सोच विचार के बाद और पूरे होश हवास मे लिखी है ताकि सनद रहे और वक्त जरूरत काम आये।

(6) इस वसीयत के बाद मेरी और अजना देवी की कोई वसीयत हो तो वह रद्द समझी जाय।

(7) इस वसीयत के कार्यान्वयन का भार मेरे परम स्नेही और दुख-सुख के साथी श्री दत्तात्रेय आर्य पर होगा। मेरे शव का दाहसस्कार [illegible] प्रताप नारायण करेंगे।

—रामनारायण चौधरी



स्वर्गीय श्री रामनारायणजी चौधरी का आर्यसमाज, अजमेर एव उसकी शिक्षण सस्थाओ तथा इन सस्थाओ के सचालक आचार्य दत्तात्रेय आर्य से लगभग 60 वर्ष पुराना सबध था। इन्ही आत्मीय सबधो के कारण स्वर्गीय श्री चौधरी ने अपनी अतिम वसीयत आचार्य दत्तात्रेय जी के नाम की थी। इस अक मे हम वह वसीयत अपने पाठको के अवलोकनार्थ प्रकाशित कर रहे है। आगामी अक मे हम श्री चौधरी के सम्बन्ध मे आचार्य दत्तात्रेय आर्य के सस्मरण प्रकाशित करेंगे।

—सम्पादक

भारत में शैक्षिक

(शेष पृष्ठ 1 का)

लित आर्य शिक्षा पद्धति का पुनर्मूल्यांकन करे और ह्रासोन्मुख इस शिक्षा पद्धति का पुनरुद्धार करे है। इस दिशा मे मैं निम्न बाते कहना चाहूँगा, इन पर व्यापक रूप से विचार विमर्श के बाद कोई निर्णय लिया सकता है।

1 आर्य शिक्षाशास्त्रियो वैदिक विद्वानो एव कर्मठ सदाचारी अधिकारियो व कर्मचारियो की एक 'विद्वद् परिषद्' का गठन किया जाय जो राष्ट्रीय एव सार्वजनीन व सर्वागीण शिक्षा नीति की रूपरेखा तैयार करे।

2 आर्यमर्यादानुकूल, चारित्रिक शिक्षा-प्रमुख ऐसे आवासीय विद्यालयो की स्थापना की जाय जिसमे सस्कृत हिन्दी के अनिवार्य रूप से पठन-पाठन का प्रबन्ध हो और ऐच्छिक रूप से विज्ञान, वाणिज्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, भूगोल, आदि विषयों के (प्राचीन और आधुनिक) तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था हो। सामान्य अग्रेजी भाषा का अध्ययन भी यथावसर, यथोपयोगी कराया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि डी ए वी शिक्षा पद्धति और गुरुकुलीय आवासीय आर्य शिक्षा पद्धति के समन्वयात्मक रूप का क्रियान्वित किया जाय।

3 सभी प्रदेशो मे कम से कम एक "दयानन्द शोध एव अध्ययन केन्द्र" की स्थापना की जाय जिससे प्रामाणिक वैदिक ग्रथो का प्रणयन हो सके—एतदर्थ तपस्वी, निष्ठावान्, सदाचारी वैदिक विद्वानो का आह्वान किया जाय और उन्हे प्रोत्साहन दिया जाये।

4 वैदिक सन्यासियों एव वानप्रस्थो व त्यागी धर्मप्रचारको की एक धर्म परिषद गठित की जाय जो समय-समय पर उक्त विद्यालयो की शिक्षा पद्धति व कार्यप्रणाली का निरीक्षण करे व सम्यक् सुझाव दें।

5 अनुभवी, प्रशासनिक कुशलता वाले, न्यायविद् व विधिवेत्ता आर्य विद्वानों का एक 'सेवा आयोग' गठित किया जाय जो योग्य आर्य प्रत्याशियो को उनकी योग्यता के अनुसार—वरीयता से विभिन्न सेवाओ (Services) मे नियुक्त कराने के लिए सरकार व अन्य नियोजको से सम्पर्क करे।

सभी प्रबुद्ध आर्यजनो की ऐसी धारणा बन रही है कि "आर्य समाज" का वर्चस्व अब पहले जैसा नही रहा, सगठन मे अब शिथिलता आ गयी है, शायद वह "जीवेम शरद शतम्" की अवधि पूरी कर चला है अत समाज के "पुनर्गठन" की आवश्यकता है हमारे प्रसिद्ध समाजसेवी, शिक्षाविद्, आर्यसमाज, अजमेर के प्रधान और डी ए वी. कॉलिज के पूर्व प्राचार्य प्रो दत्तात्रेय जी इस दिशा मे बहुत पहले से सचेष्ट है किन्तु आपकी शिकायत है कि—

उद्बाहुर्विरोम्येष नैव कश्चित् शृणोतिमाम्।
कृशनोऽस्य समाजस्य पुनर्संऽघ विधीयताम्॥

प्रबुद्ध आर्यजन और समाज सेवी बुधजन प्रो दत्तात्रेय जी की पीड़ा समझते हैं—किन्तु जाने क्यो इस दिशा में कदम नही उठ रहे हैं? समाज के उद्देश्यो की पूर्ति एव महर्षि के स्वप्नों को साकार करने के लिए समाज का पुनर्गठन आवश्यक है।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 रविवार 30 अप्रेल, 1989
अक 8 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

वैशाख कृ नवमी सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

काबे में कुफ्र

संरक्षण के नाम पर शोषण

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

राजस्थान सरकार अपने समाज कल्याण विभाग के अधीन राज्य भर मे समाज से बहिष्कृत एव निराश्रित महिलाओ के लिए महिला सदनो का सचालन कर रही है। इन सदनो मे फैली दुर-व्यवस्था एव व्याप्त भ्रष्टाचार का सदनो की व्यवस्था व नियत्रण और महालेखा परीक्षक ने अपनी रिपोट मे खुलासा किया है।

महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट से स्पष्ट होता है कि 'महिला सदन' की आवासनियो का जीवन कैदी से भी निम्नतर होता है। सदन मे व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण आवासनियो को भर पेट खाने से भी व चित रखा जाता है और चिकित्सा तथा जीवन एव स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य सुविधायें भी उन्हें उपलब्ध नही कराई जाती।

भ्रष्टाचार तो आज समाज मे चारो ओर ही व्याप्त है, इस-लिए महिला सदनों मे व्याप्त भ्रष्टाचार के समाचारो से जनसाधा-रण की सवेदन शीलता पर कोई प्रभाव पडने वाला नही है। अब यदि कोई कहे कि समाज कल्याण के नाम पर यह सब अकल्याण-कारी काम किया जाता है, तो यह तर्क भी आज कोई सार नही रखता है। आज तो सदाचार की आड मे ही दुराचार किया जाता है और ब्रह्मचर्य की आड मे यौनाचार होता है।

महालेखा परीक्षक ने सदनो मे व्याप्त लालफीताशाही की ओर सकेत करते हुए कहा है कि कई आवासनियो को अदालती आदेशो के बावजूद कई वष बाद तक मुक्त नही किया गया। निश्चित रूप से यह भी एक गम्भीर मामला है। लेकिन इससे भी गम्भीर एव चिन्तनीय एक तथ्य और भी है जिसका महा-लेखा परीक्षक सभवत: अपनी सीमाओ के कारण रिपोर्ट मे उल्लेख नही कर पाया है। यह एक सुविदित तथ्य है कि महिला सदन की आवासनियों का अधिकारियो द्वारा यौन शोषण भी होता है। अजमेर की नारीशाला के सम्बन्ध मे प्रकाशित समाचारो का उदाहरण इस सदर्भ मे दिया जा सकता है।

वस्तुत यदि कोई व्यक्ति महिला-सदन या नारी शालाओं में व्याप्त अव्यवस्था एव अधिकारियो द्वारा किए जा रहे आवासनियो के शोषण के लिए सरकार को दोष देना चाहे तो यह उसकी नादानी ही होगी। सरकार लाख कोशिशे करके स्थिति मे कोई विशेष सुधार करने मे सफल नहीं हो सकती है। समाज मे फैले वैचारिक प्रदूषण को जब तक दूर नही किया जाता तब तक स्थिति के सुधरने की आशा करना व्यथ है। और समाज के विचारो को परिमार्जित करने का काम बुद्धिजीवी वग ही कर सकता है, सरकार तो मात्र इस कार्य मे उसका थोडा-बहुत सहयोग ही कर सकती है।

हम हिंदू नहीं आर्य हैं

—आचार्य राजवीर शास्त्री—

आर्यों का इतिहास सृष्टि क प्रारभ से अरबो वर्षों का है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आय चक्रवर्ती शासक रहे हैं। उनका साहित्य, विज्ञान, कला कौशल आदि विश्वविख्यात है। किंतु परतत्र भारत मे उनका हिंदू नाम कुतुबुद्दीन ऐबक का रखा हुआ है जो स्वय हिंदू अर्थात् मुहम्मद गौरी का गुलाम था। जिसके अनुसार हिंदू की आयु एक हजार वर्ष से भी कम है।

यदि हम आर्य लोग इस अप-मान सूचक शब्द को तिलाजलि नही देगे, तो हम प्राचीनता से सर्वथा पृथक हो जायेगे। क्योंकि उपलब्ध रामायण, महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रथो मे कही भी हिंदू शब्द नही आया है। इस देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त्त था, जिससे स्पष्ट होता है कि इस देश के मूल निवासी आर्य ही हैं।

इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करने वाले कतिपय लोग अब भी अपमान सूचक हिंदू शब्द की वकालत करते रहते हैं, यह एक दुर्भाग्य की बात है।

अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'वेदमार्ग' पत्र के जनवरी 89 के अक मे श्री नृसिंह देव अरोडा का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमे आर्य और हिंदू पृथक् नही है इसका समर्थन करते हुए हिंदू शब्द की व्याख्या कल्पित ढग से की है। उनके अनुसार यह शब्द हिमालय के (हि) और इन्दु सरोवर के (न्दु) को मिलाकर बना है। उनका आशय यह है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी (इन्दु सरोवर) तक जो लोग रहते है, वे हिंदू है। उनका आशय तो बुरा नही कहा जा सकता। क्योकि महर्षि मनु ने भी बहुत पहले आर्यावर्त्त की यही सीमा बताई थी। परन्तु एक गलत शब्द की पुष्टि पर आक्षेप अवश्य है। इसमे पूर्व कुछ व्यक्ति एक वेदमत्र के हिरण्वती के (हि) और दुहाना के (दु) को मिलाकर हिंदू शब्द का निर्माण करते थे। और कुछ ऐसी भी व्याख्या करते थे 'यो हिंसया दूयते स हिन्दू' अर्थात् जो हिंसा को देखकर दु खी हो जाता है, वह हिंदू है। अब अरोडा जी ने एक अन्य व्याख्या ही कर दी। प्रश्न तो यह है कि क्या कन्याकुमारी को इन्दु सरोवर' कहने का कोई प्रमाण है? तथा इन्दु सरोवर' का अतिम शब्द 'वर' है 'न्दु नही। और शब्द का निर्माण आपने किस भाति कर भी लिया, किंतु उसका इतिहास क्या है? क्या आप वैदिक वाग्मय, रामायण, महा-भारत, धर्मशास्त्र आदि से अपने को पृथक रखना चाहते है? अथवा अपने गौरवपूर्ण 'आर्य' शब्द के प्रयोग मे कुछ हीनता समझने लगे हैं? इस प्रकार की अप्रमाणिक बातें करना स्वाभि-मानी व्यक्तियो के लिए शोभा नही देता।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक रासासिंह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

आर्य शिक्षण संस्थाओं का संगठन आवश्यक

आज राजस्थान में अनुदानित शिक्षण संस्थाओ का भविष्य समुज्जवल नही है। ये संस्थाए ऐतिहासिक शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जन सेवा में संलग्न होने पर भी सरकार द्वारा सर्वथा उपेक्षित हो रही हैं। राजस्थान मे सरकारी शिक्षण संस्थाओ की संख्या आटे मे नमक के समान ही है। यद्यपि ये अनुदानित शिक्षण संस्थाए सरकारी शिक्षण संस्थाओ की तुलना में कम खर्च और कम साधनो के बावजूद अच्छे परीक्षा परिणाम देकर अच्छा अनुशासन रखकर उत्तम कार्य कर रही हैं।

राजस्थान मे आर्य समाज की शिक्षण संस्थाए भी गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओ मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। डी ए वी आदि शिक्षण संस्थाएं स्वाधीनता संग्राम से जुडी हुई रही हैं। राष्ट्रीय एव नैतिक शिक्षा इन शिक्षण संस्थाओ की अपनी विशेषता रही है। साम्प्रदायिक, जातीय वर्गीय संकीर्णताओ से ऊपर उठकर बिना किसी भेदभाव के इन शिक्षण संस्थाओ में शिक्षा दी जाती रही है। हिन्दी माध्यम, संस्कृत शिक्षण तथा विशेषता रही है। सुधारवादी विचारधारा तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाने पर भी य संस्थाए जोर देती आई हैं। परन्तु सरकार की भेदभावपूर्ण नीति, 'सब धान बाइस पसेरी' की कहावत को चरितार्थ करते हुए अनुदान प्रतिशत का वर्गीकरण शिक्षा विभाग का बढता हुआ हस्तक्षेप, कर्मचारियो के हित के नाम पर अनुशासन हीनता का प्रोत्साहन आदि जैसी कई समस्याए बढती जा रही हैं। शिक्षा निजी क्षेत्र मे स्वायतत्ता लिये हुए होनी चाहिये परन्तु व्यवहार म तजी से सरकारीकरण का डण्डा घूमता जा रहा है।

फिर ईसाई मुसलमान सिक्ख आदि की शिक्षण संस्थाओं को संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत कई विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनमे सरकार हस्तक्षेप करते, हुए भी डरती है और कई बार इनमे अराष्ट्रीय तत्वो का प्रोत्साहन मिलता है परन्तु राष्ट्रीयता एव देश भक्ति की प्रबल पोषक आर्य शिक्षण संस्थाओ को ये विशेष सुविधाए उपलब्ध नही है।

इन आर्य शिक्षण संस्थाओ को धारा 30 के अतर्गत विशेषाधिकार दिलवान हिंदी, संस्कृत, राष्ट्रीयता एव देश भक्ति को प्रोत्साहित करने आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के मतव्यो के अनुकूल आर्य शिक्षण संस्थाओ को संचालित करने, भारतीयता को बढावा देने, इन्हे एक सूत्र मे आबद्ध करने हेतु दिनांक 17 फरवरी 1989 ई को अजमेर नगर मे डी ए वी स्कूल की शताब्दी के अवसर पर राजस्थान की आर्य समाज की शिक्षण संस्थाओ के प्रतिनिधियो का सम्मेलन आयोजित हुआ। जिसमे पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात प्रातीय स्तर पर "राजस्थान आर्य शिक्षण संस्था परिषद्' का गठन किया गया। जिसके अध्यक्ष श्री दत्तात्रेय आर्य, कार्यवाहक अध्यक्ष श्री छोटूसिह आर्य तथा महामंत्री श्री सत्यव्रत जी सामवेदी जयपुर चुने गये तथा प्रदेश की समस्त आर्य शिक्षण संस्थाओ के प्रमुख प्रतिनिधियों को भी इसमे सम्मिलित किया गया है।

इस "आर्य शिक्षण संस्था परिषद् का दूसरा प्रातीय अधिवेशन आर्य समाज आदर्शनगर (जयपुर) मे 9 अप्रैल, 1989 को श्री छोटूसिहजी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। जिसमे पूर्व निदेशक शिक्षा श्री तपेन्द्र जी, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति श्री बी के हूजा, राजस्थान उच्च न्यायालय के के न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री शिखर लाल मेहता, पूर्व सांसद आचार्य भगवान देव आदि महानुभाव भी विशेष आमंत्रित थे। इस अधिवेशन में संगठन को अधिक सक्रिय एव गतिशील बनाने का निश्चय हुआ।

जूझारू व्यक्तित्व

— इस आर्य शिक्षण संस्था परिषद् के अध्यक्ष श्री दत्तात्रेय आर्य ने बंगाल के रामकृष्ण मिशन की भांति ही राजस्थान की आर्य शिक्षण संस्थाओ को भी धारा 30 के अंतर्गत न्यायोचित हक दिलवाने, इन संस्थाओ की अस्मिता की रक्षा करने हेतु स्वयं ही राजस्थान उच्च न्यायालय मे न्याय पाने के लिये असाधारण तैयारी कर एक अनुभवी अभिभावक के रूप मे स्वयं इस अस्सी से अधिक-उम्र मे पैरवी का कार्य किया और "एकला चलो रे" की उक्ति को चरितार्थ करते हुए एक लक्ष्य को पूरा करने हेतु अपना समय, शक्ति तथा ज्ञान अर्पित किया है। सुनवाई पूरी हो चुकी है अब फैसले की प्रतीक्षा है। इस जूझारू व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति को ईश्वर सफलता प्रदान करे यही प्रान्त की आर्य जनता की कामना है।

—रासासिंह

पारायण यज्ञों की नई बीमारी से आर्यसमाज सावधान

पिछले कुछ समय से आर्य समाज जैसे सर्वपूत, विवेक संपन्न क्रान्तिकारी विचार धारा वाले संगठन मे भी विभिन्न प्रकार के यज्ञो के नाम पर पौराणिको की राह पर ही कर्मकाण्ड का मायाजाल प्रचलित हो रहा है।

जिस प्रकार से सनातनी पौराणिक भाई शांति यज्ञ, तांत्रिक यज्ञ, चण्डी यज्ञ, आदि आयोजित करते रहते हैं उसी लकीर पर आर्यसमाज को अपने गुरुडम में लपेटने का दुस्साहस करने वाले तथाकथित छद्मवेषी एव धर्मध्वजी आर्य समाजी "ऋग्वेद पारायण यज्ञ", 'चतुर्वेद पारायण यज्ञ', 'वेद परायण यज्ञ' वर्षा यज्ञ और कुछ नहीं तो 'गायत्रीयज्ञ', प्रचण्ड गायत्रीयज्ञ' सवाकरोड गायत्री मन्त्रो का यज्ञ आदि संपन्न करवाने, आयोजित करवाने को तत्पर रहते हैं। उसके पीछे लोक कल्याण, राष्ट्रभूतय विश्व शांति आदि मोहक उद्देश्य भी उद्घोषित किये जाते हैं, फिर कई जोडों को यजमान बनाने के लिये उत्प्रेरित कर मोटी मोटी धन राशियां भी ली जाती हैं। पूर्णाहुति का धुआधार प्रचार किया जाता है। पुण्य के भागी बनिये', धर्म यश प्राप्त करें, धर्म लाभ प्राप्त करें आदि लुभावने नारे दिये जाते हैं। जिसमे जनसाधारण की यज्ञ के प्रति श्रद्धा का शोषण किया जाता है। फिर कर्मकाण्डी पुरोहित, ब्रह्मा आदि बनने वाले तथाकथित आर्य पण्डित जन अनजाने पौराणिको की भांति ही कई पोपलीलाए एव सस्ते सौदे करने लग जाते हैं जिनका न कहीं आदि होता है और न अन्त। इसी प्रकार पंचकुण्डीय तथा एक सौ पृष्ठ मुद्रीय यज्ञ भी होने लगे है।

महर्षि दयानन्द प्रणीत ग्रथो मे इस प्रकार के यज्ञो को करने का उल्लेख हुआ है या नही यह तो विद्वान लोगो के लिये शोध एव चिन्तन का विषय है। प्राचीन एव अर्वाचीन वैदिक साहित्य में ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ अतिथि यज्ञ अग्निहोत्र, वेद यज्ञ

(शेष पृष्ठ 4 पर)

ऋषि दयानंद की मृत्यु को विवादग्रस्त कहना भ्रम है

—डा भवानीलाल भारतीय—

दिनाक 15 अप्रैल के 'आर्य पुनर्गठन' में "महर्षि दयानन्द की विवादग्रस्त मृत्यु" शीर्षक लेख का प्रकाशन कोई प्रथम घटना नही है। इससे पूर्व भी हमीदिया कालेज भोपाल के इतिहास के भूतपूर्व प्रोफेसर डा बी के सिंह ने अंग्रेजी साप्ताहिक इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया मे इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। प्रिंसिपल श्री राम शर्मा ने लगभग 16-17 वर्ष पूर्व हरियाणा सरकार के आर्थिक अनुदान से अग्रेजी मे स्वामीजी की जीवनी पर एक पुस्तक लिखी। इसमे भी उन्होने स्वामीजी की मृत्यु को सहज, स्वाभाविक और किसी प्रकार के षड्यन्त्र से रहित माना।

यह पुस्तक प्रकाशित तो नही हो सकी किंतु इसकी तीव्र प्रतिक्रिया उन दिनो विस्फोटात्मक रूप मे हुई। वस्तुत यह पुस्तक तो हरयाणा की तत्कालीन सरकार की प्रेरणा से ही लिखी गई थी किंतु लेखक का मनोनयन पजाब विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति प्रिंसिपल सूरजभान ने किया था। इस पाण्डुलिपि को मैंने आद्योपान्त पढ़ा है और इसके लेखक स्व श्रीराम शर्मा से इसमे उल्लिखित ऋषि की मृत्यु के प्रकरण पर विस्तार से चर्चा भी एकाधिक बार की थी। यहा यह लिख देना भी आवश्यक है कि जब शर्मा जी के द्वारा निर्धारित इस धारणा का पता आम जनता को लगा कि वे स्वामीजी की मृत्यु का सहज एव स्वाभाविक प्राकृतिक मृत्यु सिद्ध करने के लिए उधार खाये बैठे हैं तो आर्य जनो मे इसकी भयकर एव कटु प्रतिक्रिया हुई थी। हजारो आर्यसमाजो ने इस पुस्तक को छापने का विरोध करते हुए उक्त विश्व विद्यालय को तार भेजे तथा और इसमे से कइयों ने तो यहा तक लिखा कि स्वामीजी की मृत्यु को लेकर इस प्रकार की विवादमूलक धारणा को प्रचालित कर दयानन्द की दुबारा हत्या की जा रही है। तार मे प्रेषित प्रतिवाद मूलक शब्द थे You are murdering Swami Dayanand second time

मैंने स्वामीजी को विष दिये जाने की घटना का विस्तृत एव विवेचनामूलक उल्लेख अपने ग्रथ 'नवजागरण के पुरोधा दयानद सरस्वती' मे किया है। पुनर्गठन के पाठको से निवेदन है कि इस विषय को वे वहा अवश्य देखे। श्री ब्रजभूषण सिंह के इस लेख मे जो आक्षेप योग्य स्थल हैं, उनकी समीक्षा इस प्रकार है।

1 स्वामी दयानद के जोधपुर आगमन के समय नन्ही भगतन निश्चित रूप से महाराजा के अत पुर मे थी। इसका स्पष्ट उल्लेख स्वामीजी द्वारा जोधपुर नरेश को 8 सितम्बर 1883 (अनुमान पर आधारित) को लिखे पत्र मे पाया जाता है। यहा स्वामीजी ने महाराजा को सावधान किया है और कहा है कि वे वेश्या सग स य हेज करे। इस पत्र मे न ही का स्पष्ट उल्लेख है। परोक्ष रूप से तो ऐसे उल्लेख उनके अनेक पत्रो मे हैं।

2 श्री सिंह का यह कथन ठीक है कि स्वामी जी को विष देने वाले के अनेक नाम भिन्न-भिन्न जीवनचरितो मे आये है। ज्ञातव्य है कि विष देने वाला शाहपुरा का ब्राह्मण धूडजी या धूल जी मिश्र था। सखिये को दूध मे मिला कर दिया गया। यही विचार अ तिम रूप से स्वीकृत हुआ। दूध मे काच मिलाने की पुष्टि नही हुई।

3 डाक्टरो ने विष देने की चर्चा नही की या तदनुकूल उपचार नही किया यह बात विष न देने के पक्ष मे नही जाती। डा लोग तो अपने विचार या निश्चय के अनुकूल ही चिकित्सा करते है। 1883 मे ऐलोपैथी चिकित्सा उस हद तक विकसित नहीं थी जैसी आज है। आज तो भक्ष्य पदार्थों के परीक्षणो के द्वारा तुरन्त यह निश्चय हो जाता है कि किस प्रकार का विष दिया गया है और उसका उपचार भी हो जाता है। डा अलीमर्दान ने चिकित्सा मे लापरवाही तो की ही, भारी विश्वासघात भी किया। वह औषधि के बहाने स्वामी जी के शरीर मे विजातीय द्रव्य (विष) पहुचाता रहा। यही कारण है कि महाराज एक मास तक तो कष्ट ही भोगते रहे और अन्तत पूरे एक महीने के बाद परलोकगामी हुए।

4 डा जॉर्डन्स लिखित विष प्रकरण की समीक्षा मैंने अपने ग्रन्थ नवजागरण के पुरोधा मे की है। वही देखें।

5 मैंने तो प महेशप्रसाद मौलवी के लेख के हवाले से यहा तक सिद्ध कर दिया है कि अली मर्दान को रिश्वत के रूप मे 1700 रुपये दिये गये ताकि वह स्वामीजी की चिकित्सा को बिगाड़े और उन्हे मार डाले। द्रष्टव्य नवजागरण के पुरोधा पृ 518 पाद टिप्पणी 47

6 स्वामीजी को डबल निमोनिया होना, ठण्ड लगना और तीव्र ज्वर होना तथा इसी स्थिति मे उनका अजमेर की भिनाय की कोठी मे कमरे से बरामदे मे आकर लेट जाना आदि घटनायें तो विष देने के एक महीने बाद की हैं। विष तो 29 सितम्बर की रात को ही दे दिया गया था।

7 यह तो ठीक है कि लाहौर से प्रकाशित The Arya (सपादक एव प्रकाशक-रतनचन्द बेरी) ने स्वामीजी के मृत्यु सूचक समाचार मे विष देने की चर्चा नही की। किंतु यह तो स्वाभाविक ही था। विष देना तो एक गोपनीय एव विश्वासघात पूर्ण कृत्य था। इसका तुरन्त भण्डाफोड़ होना तो सभव था ही नहीं और अजमेर से हजारो मील दूर लाहौर के पत्र सम्पादक का महर्षि की मृत्यु के वास्तविक कारण का तुरन्त पता लग ही कैसे सकता था। तथापि महाराज के परलोक गमन के तुरन्त पश्चात् ही विष देने की चर्चा जगल मे लगी आग की भाति सर्वत्र फैल गई थी।

8 वस्तुत आलोच्य लेख का आधार डा बी के सिंह, श्रीराम शर्मा तथा डा जार्डन्स द्वारा प्रस्तुत विचार ही हैं। मैं भी इन पर विस्तार पूर्वक लिख चुका हूँ।

पुनश्च राजस्थान के एक भूतपूर्व आई ए एस अधिकारी श्री ओंकारसिंह ने भी स्वामीजी को विष न दिये जाने की पुष्टि मे एक लेख टाइम्स आफ इण्डिया, राजस्थान पत्रिका आदि मे छपाया था। मैंने इस लेख का भी तत्काल प्रतिवाद कर दिया था।

प्रौढ शिक्षा प्रचार तथा धारा ३० के सम्बन्ध में आर्यसमाजो को आह्वान

महोदय,

श्री सत्यव्रत जी द्वारा बुलाई गई अन्य शिक्षण सस्थाओ की बैठक मे जो आप मे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। उस बैठक मे यह निर्णय लिया गया कि स्वामी दयानन्द की कल्पना के अनुसार राजस्थान मे विद्यार्य सभा स्थापित की जाय और वह आर्य शिक्षण सस्थाओ का बदलती परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर मार्ग निर्देशन करे। आशा है श्री छोटूसिंह इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

उक्त बैठक मे आर्य सस्थाओ को धारा 30 के अन्तर्गत अल्पसरक्षक समुदाय का दर्जा दिलाने के लिये सर्वसम्मति प्रकट हुई। इस दिशा मे प्रो दत्तात्रय जी सचेष्ट हैं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि उन्हे सफलता प्राप्त होगी। आर्य समाज का केस रामकृष्ण मिशन से कहीं अधिक सुदृढ आधार पर अवलम्बित है।

समय कम था, बोलने वाले

(शेष पृष्ठ 4 पर)

दयानंद उवाच

वेदोत्पत्ति

—डा बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु स्वामी जी। वेदो की रचना किसने की? वेदो की की रचना किसने की? वेदो की रचना का प्रयोजन क्या है?

दयानन्द वेदो की रचना सच्चिदानन्द परमब्रह्म परमेश्वर नकी इसमे यजुर्वेद स्वय प्रमाण है। यजुर्वेद की मान्यता है कि यज्ञस्वरूप विष्णु सब व्यापक परमेश्वर से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्व वेद प्रकट हुए ईश्वर वाक्य होने से मनुष्यो को वेद का ही पठन-पाठन करना चाहिए और वेदोक्त मार्ग पर ही चलना चाहिए। अथर्व वेद भी इसी सिद्धात का प्रतिपादन करता जो है सम्पूर्ण विश्व का धारण करने वाला परमेश्वर है—उसका ही नाम स्कम्भ है उसी [illegible] वेदो का कर्ता समझो—मनुष्य मात्र को उसी की उपासना करनी चाहिए। इस विषय मे महर्षि याज्ञवल्क्य भी प्रमाण है। याज्ञवल्क्य की धारणा है कि आकाश से भी बड़ा जो सर्वव्यापक परमेश्वर है—उसी से ऋक यजु, साम और अथर्व वेद उत्पन्न हुए जैसे मनुष्य का श्वास बाहर भीतर होता रहता है स्वभावत चलता रहता है—उसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर के निश्वासरूप वेद प्रकट होते हैं और प्रलयकाल मे उसी मे समाहित हो जाते हैं—वे कभी नष्ट नहीं होते जैसे बीज मे अकुर सदा विद्यमान रहता है—वही वृक्षरूप मे विकसित होकर पुन वृक्ष के बीज में गुप्त रहता है—उसी प्रकार वेद भी प्रलयकाल मे ईश्वर के ज्ञान मे गुप्त रहते हैं—ईश्वर की विद्यारूप होने से वेद भी नित्य है।

परमेश्वर सब का रक्षक होने से जगत् का पिता और परमकारुणिक होने से सबकी माता के समान है—वह मानव जाति के कल्याण के लिए—धर्मार्थकाममोक्ष के साधनभूत वेदों का उपदेश करता है। सभी सत्यविद्याओं [illegible] विज्ञान वेद मे अन्तर्निहित है—अत अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना करने वाले को वेदो का स्वाध्याय करना चाहिए।

पारायण यज्ञों...

(शेष पृष्ठ 2 का)

राजसूय यज्ञ अश्वमेध यज्ञ सोमेध यज्ञ आदि के नाम का तो उल्लेख तो विभिन्न स्थानो पर मिलता है परन्तु इन नवीन प्रकार के यज्ञों का प्रचलन कब से हुआ तथा क्या ये वैदिक है या अवैदिक? इसी प्रकार, गायत्री मत्र के प्रभाव और माहात्म्य को लेकर भी अन्ध श्रद्धा उत्पन्न होने जा रही है। गायत्री मत्र का जाप करने से प्रमुख-प्रमुख लाभ होते हैं यह धारणा तो कई अच्छे-अच्छे आर्य समाजियों की है। अत सर्वाधिसभा से अनुरोध है कि इस नई बीमारी की फैलने से पहले ही रोकने हेतु उचित व्यवस्था करवाने के निर्देश दे अन्यथा स्तुतामया वरदा वेदमाता के स्थान पर कोरा गायत्री का जाप ही सवस्व हो जायेगा और उस गूढ मत्र अतर्निहित भाव के के क्रियात्मक पहलू की अवहेलना एव उपेक्षा होती रहेगी। एक बीमारी से पीछा छुड़ाते छुड़ाते हमे दूसरी बीमारी न लग जाये।

आर्य समाज का रोल सास्कृतिक, धार्मिक एव सुधारवादी प्रगतिशील सगठन होने के नाते एक एक डाक्टर का है। डाक्टर को मरीज का इलाज करना है। मरीज को स्वस्थ करना है। परन्तु यदि डाक्टर को ही मरीज का [illegible] बन जाय तो फिर वह डाक्टर क्या डाक्टरी करेगा? फिर यदि जो कुएं की बनने का प्रयास करें और कुवे ही रह जाए तो उसका फिर कोई धनी धोरी नहीं रहेगा।

अत समाज को लकीर का फकीर नहीं बनना है। परपराओं को तोड़ना है, रूढ़ियों को नेस्तनाबूद करना है। प्रगतिशीलता को अपनाना है। वेदानुसार सत्य एवं धर्म की राह पकड़नी है।

लीक लीक गाडी चले, लीक हि चले कपूत।

लीक छाडि तीनो चले-शायर, सिंह, सपूत।।

यहा मैं आर्य समाज के मन्दिरो मे सेवा कार्य करने वाले पण्डितो पुरोहितो सस्कारकर्त्ताओ, कर्मकाण्डियों से अनुरोध करूंगा कि वे स्वय इस प्रकार के अध विश्वासो को न पनपने दे। अपने यजमानो को सजग करें सावधान करें। लोभ मोह और सस्ती वाहवाही के चक्कर में पड़कर भूलकर भी ऐसे कार्यों को प्रोत्साहित न करें।

यह सत्य है कि 'यज्ञ वै श्रेष्ठतम् कर्म' अर्थात् यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है यज्ञ के बल पर ही देवताओ ने विजय प्राप्त की थी। पर यहा यज्ञ का अर्थ देव पूजा सगतिकरण दान होता है। यज्ञ का अर्थ तपस्या, त्याग बलिदान, श्रेष्ठ कार्य हेतु समर्पण होता है। —रासासिंह

प्रौढ़ शिक्षा

(शेष पृष्ठ 3 का)

अधिक थे अत मैंने उक्त सभा मे प्रौढ शिक्षा विशेष कर प्रौढ [illegible] शिक्षा का विषय नही उठाया। मैं समझता हू जब आर्य विद्या सभा निर्मित हो जाती है उस को इस ज्वलन्त समस्या की ओर पुरजोर ध्यान देना चाहिए। राजस्थान मे देवराला तथा नाथ द्वारा जैसे अक्षम्य असामाजिक घृणित काण्ड क्यो होते है? क्योकि स्त्री शिक्षा और प्रौढ शिक्षा का अभाव है। आज राजस्थान मे स्त्री शिक्षा केवल 5% है। 95% स्त्रिया निरक्षर हैं। क्या यह हम पर कलक नहा है?

क्या इस कलक को धोने मे आर्य शिक्षण सस्थाओ का कोई कर्त्तव्य है? आर्य समाज के नियमो मे एक नियम यह भी है कि प्रत्येक को केवल अपनी उन्नति से सतुष्ट नही होना चाहिए। सब की उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए। दिल्ली मे गत वर्ष लिटरेसी मिशन के तत्वावधान मे दस डीएवी स्कूलो ने गहरा योगदान दिया। क्यो न राजस्थान की आर्य सस्थायें इसी प्रकार राजस्थान साक्षरता मिशन मे योगदान दें? विद्यादान समय की पुकार है और सम्पूर्ण विकास की नींव है। आप के पत्र द्वारा मैं आर्यसस्थाओ को इस यज्ञ मे आहुति देने के लिये आमंत्रित करता हूँ।

—बलभद्र कुमार हूजा
जयपुर।

युवक प्रशिक्षण शिविर

सार्वदेशिक आर्य युवक परिषद, आर्य समाज शक्तिनगर नई दिल्ली द्वारा 3 मई से 9 मई 1989 तक उडीसा के आदिवासी अचलो म एक विशाल युवक प्रशिक्षण शिविर लगाया जा रहा है। परिषद ने अपनी विज्ञप्ति मे इस आयोजन मे सभी आर्यजनो से आर्थिक सहयोग देने की अपील की है।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए ।
—महर्षि दयानन्द

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 6 रविवार 15 मई, 1989
अंक 9 पं स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

वैशाख शु दशमी संवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

बाल विवाह की बलिवेदी पर

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

इस बार फिर हर वर्ष की भांति राजस्थान मे हजारो मासूम बालको को अक्षय तृतीया के दिन बाल-विवाह की बलिवेदी पर चढा दिया गया ।

केन्द्र सरकार यद्यपि दशको पूर्व शारदा एक्ट (बाल-विवाह निरोधक कानून) बनाकर बाल-विवाहो को गैर कानूनी करार दे चुकी है, लेकिन ऐसे विवाहो म इसके बावजूद कोई कमी नही आई है ।

गत कुछ वर्षों से सैंकडो बालको के विवाह एक साथ सामूहिक रूप से समारोहपूर्वक सम्पन्न कराये जाते हैं । इन समारोहो के चित्र समाचार-पत्रो मे भी प्रकाशित होते हैं । किन्तु इसके बाद भी प्रशासन हरकत मे नही आता है । कानून की अवमानना से उसे जैसे कोई सरोकार ही न हो ।

बाल-विवाह की कुप्रथा केवल अल्पशिक्षित लोगो मे ही हो ऐसी बात नहीं है । कुछ जाति विशेषो मे तो शिक्षित वर्ग भी इस कुप्रथा की चपेट मे है। गत कई वर्ष पूर्व राजस्थान के एक तत्कालीन मन्त्री द्वारा अपनी लडकी का बाल-विवाह करने का मामला भी अखबारो सुर्खियो में आया था ।

बाल-विवाह समर्थक ऐसे विवाह के पक्ष में जो तर्क देते हैं, वे भी बहुत ही लचर और बचकाना हैं । उनका पहला तर्क होता है कि बचपन मे शादी होने पर ऐसे युवाओ के चरित्रहीन होने का डर नही रहता । जबकि वास्तविकता यह है कि चरित्रहीन न होने देने मे बाल-विवाह कदापि सहायक नही हैं ।

वस्तुत जहा बाल-विवाह युवाओ के मूलभूत अधिकार का हनन करने वाला है, वहीं यह सुखी दाम्पत्य के लिए भी एक भारी अभिशाप है ।

विवाह जैसे जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय मे सम्बन्धित वर-वधू को सम्मिलित न करना उनके प्रति एक बडा अक्षम्य अपराध है । भावी जीवन-साथी के स्वभाव, रुचिया व योग्यता पूर्व मे जाने बिना दाम्पत्य-सूत्र मे बध जाने वाले व्यक्तियो का दाम्पत्य-जीवन प्राय असफल ही रहता है ।

प्रश्न पैदा होता है कि आखिर बाल-विवाहो को किस प्रकार रोका जाए ? यह सत्य है कि किसी भी सामाजिक कुरीति के उन्मूलन मे जन चेतना का प्रमुख हाथ होता है, लेकिन इसम कानूनी दण्ड भी अपना काम करता है ।

सामाजिक सुधारवादी सगठनो व बुद्धिजीवियो को जनसाधारण को बाल विवाह की बुराइयो स अवगत कराकर इसके विरुद्ध जनमत बनाने का काम करना चाहिए तथा सरकार को बाल-विवाह के पोषक-समर्थक—व्यक्तियो को अभयदान नहीं देना चाहिए । बाल-विवाह की कुरीति का उन्मूलन तभी सभव है ।

अखबारों से यूं निपटेगी सरकार

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

केन्द्र की राजीव सरकार मानहानि-विधेयक लागू कराने मे विफल होने के बाद अब एक दूसरे अचूक तरीके से अखबारो का शिकार करने निकल पडी है ।

यद्यपि इस की केन्द्रीय सरकार जब से मानहानि विधेयक लाने के मामले मे जनमत के विरोध के कारण औंधे मुह गिरी है, तभी से किसी न किसी अन्य तरीके से अखबारो व पत्रकारो को परेशान करती आ रही है । लेकिन लगभग गत दो माहो से मे उसने अखबारो से निपटने का जो तरीका अपनाया है, वह बहुत ही मारक और खतरनाक है ।

पिछले दो माह से सरकार ने स्वय द्वारा नियन्त्रित अखबारी कागज के मूल्य मे अप्रत्याशित वृद्धि की है । और यह वृद्धि इतनी अधिक है कि लघु-पत्रो या मझौले पत्रो की तो बात छोडिए बडे-बडे पत्रो के सामने अपने अस्तित्व के लिए सकट पैदा हो गया है। अनेक प्रमुख दैनिक पत्रो ने अपने पृष्ठो की सख्या मे कमी कर दी है । कईयो ने परिशिष्टो का प्रकाशन अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिया है ।

इस तथ्य का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जब प्रमुख पत्रो की स्थिति भी इस मूल्य वृद्धि से इस कदर गडबडा गई है तो अन्य छोटे पत्रो का क्या हाल होगा ? निश्चित रूप से यदि स्थिति यही रही और अखबारी कागज के मूल्यो मे कोई कटौती नही की गई तो अधिकाश लघु एव मध्यम स्तर के समाचार-पत्र बन्द हो जाएगे । सरकार चाहती भी यही है ।

इस प्रेस-मारक नीति के कई गम्भीर परिणाम निकलेंगे । यह सत्य है कि अखबारो को समाप्त करके या असहाय और अपनी कृपा का पात्र बनाकर सरकार निरकुश हो जाएगी । और निरकुश शासन मे जनता की क्या हालत होती है—इसे सब जानते हैं । इसके अतिरिक्त सरकार की इस कुनीति स पाठकहीन पत्रो-पत्रकारो को भी प्रश्रय मिलेगा । क्योकि दस-बीस प्रतियां फाइलो के लिए छापने वाले पत्रो की सेहत पर कागज की मूल्य वृद्धि से कोई प्रभाव पडने वाला नही है । साथ ही विज्ञापनो व पत्रकारिता के माध्यम से अपन अन्य क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करने वाले इन पत्रो के स्वामियो को सरकार की चमचागिरी करने से भी कभी परहेज नही रहा है । य लोग अब भी अपना इस भाड परम्परा का दृढता से पालन करते रहेंगे । और इस तरह घोडो के न रहने पर गधो की बन आएगी ।

सरकार अपने प्रेस मारक रवैये के चलते देश को एक गहरे सकट मे ले जा रही है । कोई आम जागरूक नागरिक भी वर्तमान स्थिति को देखते हुए इस तथ्य को सहज ही समझ सकता है । लेकिन सत्ताधारी दल के सभी चार सौ सासद अपनी सरकार की इस देश एव आदर्श पत्रकारिता घाती नीति के विरुद्ध अपनी आवाज नही निकाल रहे है । इन लोगो को यह कभी नही भूलना चाहिए कि अभी इस चुप्पी का दड चुनावो मे जनता भले ही नही दे लेकिन एक दिन इतिहास उनके नेता राजीव गांधी के साथ उन्हे भी अवश्य दड देगा । इतिहास सबके साथ न्याय करता है और दोषी को कभी क्षमा नही करता, यह एक शाश्वत सत्य है ।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक रासासिंह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा हिन्दी की उपेक्षा असह्य

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, भारत के संविधान द्वारा घोषित राज भाषा है, कोटि-कोटि जनो की आशा है। हिन्दी के माध्यम से ही स्वाधीनता संग्राम का युद्ध लड़ा गया तथा जन-जन तक आजादी का अलख पहुंचाया गया। राष्ट्र के सभी महान पुरुषों–महर्षि दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, विश्व कवि रविन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, पं जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, वीर विनायक दामोदर सावरकर, महामना मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानंद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि ने हिन्दी के महत्व को स्वीकरते हुए इसे जनभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार किया।

15 अगस्त 1947 ई को भारत स्वतंत्र हुआ। 26 जनवरी 1950 ई को भारत को सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया। 14 सितम्बर 1949 ई को संविधान मे हिंदी को भारत गणराज्य की राजभाषा का दर्जा दिया गया। भारत की जनता यह अपेक्षा कर रही थी कि संविधान लागू हो जाने के बाद धीरे-धीरे देश के केवल दो प्रतिशत लोगो द्वारा बोली और समझी जाने वाली विदेशी भाषा अंग्रेजी का वर्चस्व समाप्त हो जायेगा तथा देश के राजकाज मे हिन्दी तथा प्रदेशो मे क्षेत्रीय भारतीय भाषाओ को उनका सम्मानजनक स्थान मिलेगा। परन्तु यह आशा फलवती नही हो पाई, कोई सपना बन कर रह गई। विदेशी भाषा अंग्रेजी का प्रभुत्व और वर्चस्व बढ़ता ही चला गया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजी ही सर्वेसर्वा बन बैठी। जनभाषा हिन्दी निरन्तर उपेक्षित ही हो रही है।

आज देश की युवा पीढ़ी का कालेजो तथा विश्वविद्यालयो मे अधिकांश समय, शक्ति और धन इस अंग्रेजी भाषा के ज्ञान को प्राप्त करने मे लग जाता है फिर भी पूरा दक्षता प्राप्त नही की जा सकती। उनका अंग्रेजी ज्ञान अधकचरा ही रहता है। यह भारतीय शासको की मानसिक दासता का ही दुष्परिणाम है कि आजादी के 42 वर्षों मे भी राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा भारतीय भाषाओ को उनका सम्मानजनक स्थान प्राप्त नही हो सका है।

स्व राष्ट्र कवि मैथिली शरण गुप्त ने एक बार राज्यसभा (संसद) मे कहा था कि—

'किसी देश मे निजता का पद पाती है परवत्ता क्या ?
बिन एक व्यापक वाणी के राष्ट्र की सत्ता क्या ?'

इससे भी पूर्व हमारे मनीषियो ने मुक्त कण्ठ म उद्घोषित किया था कि—

'जिसको न निज भाषा निज देश का अभिमान है।
वह नर नही पशु निरा है और मृतक समान है॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी कहा था कि–

"निजभाषा उन्नति अहै सबै उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

अत्यन्त रोष के साथ कहना पड रहा है कि भारत सरकार के अभिकरण "संघ लोक सेवा आयोग" द्वारा राष्ट्रीय स्तर की उच्चाधिकारियो से सम्बन्धित 14 केन्द्रीय प्रतिस्पर्धा परीक्षाए आयोजित होती हैं, परन्तु उनमे से दो चार को छोडकर अधिकांश का माध्यम केवल अंग्रेजी भाषा होती है। देश की अस्सी प्रतिशत जनता गावा मे निवास करती है। वह पब्लिक स्कूलो के आडम्बरो से दूर राजकीय अथवा सामान्य विद्यालयो मे हिन्दी या भारतीय भाषाओ के माध्यम स शिक्षा प्राप्त करती है। केवल दो प्रतिशत अंग्रेजी जानने समझने वाले लोग ही इन सब नौकरियो को हड़प लेते हैं और देश की 98% युवा पीढ़ी अंग्रेजी से बाधित होकर बेरोजगारी का शिकार हो जाती है अथवा ऊची नौकरियों से वंचित रहती है।

इसी जोर जुल्म और अत्याचार का प्रतिरोध करने तथा हिन्दी एवं भारतीय भाषाओ को भी संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओ का माध्यम बनाने, अंग्रेजी के वर्चस्व को दफनाने के लिये कुछ नौजवान और संगठन आगे आये और उन्होने "अखिल भारतीय भाषा संरक्षण संगठन" बनाकर संघ लोक सेवा आयोग के मुख्यालय पर सत्याग्रह का बिगुल बजा दिया। 16 अगस्त 1988 ई. से धरने, प्रदर्शन, घेराव, जुलूस, क्रमिक अनशन आदि का कार्यक्रम चला। राजधानी और देश के कई प्रबुद्ध संगठनों, राजनैतिक दलो, युवा संघो ने इन्हे भरपूर सहयोग दिया। पर भारत सरकार ने हठधर्मिता पूर्ण अड़ियल रवैया अपनाया। उसके कानों पर जू तक न रेंगी। सत्याग्रहियो धरणार्थियो को पुलिस के क्रूर जुल्मो का सामना करना पडा। पर सत्याग्रही भी लोहे के बने हुए थे उन्होने हार स्वीकार न की और अन्ततोगत्वा 28 अप्रैल 1989 ई से चार नौजवानो ने आमरण अनशन प्रारम्भ किया है। उनकी हालत चिन्ताजनक हो गई है। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक यद्यपि संसद मे भी चर्चा हुई है, और राजीव गांधी के कानो तक भी आवाज पहुची है, गृह राज्यमंत्री चिदम्बरम् तथा गृहमंत्री बूटासिंह का भी द्वार भी खटखटाया गया है पर कोरे आश्वासनो के अलावा अभी परिणाम वही ढाक के तीन पात है।

'आर्य पुनर्गठन' भारत सरकार से प्रबल शब्दो मे यह मांग करता है कि इन चार रणबांकुरे नौजवानो के प्राणो को बचाने के लिये अविलम्ब राष्ट्र भाषा और राजभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान देते हुए संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओ से अंग्रेजी का वर्चस्व समाप्त किया जाय तथा हिंदी एवं भारतीय भाषाओ को परीक्षाओ का माध्यम घोषित कर भारतीय संविधान मे उल्लेखित मर्यादाओ का अविलम्ब पालन किया जाय। यदि इनके प्राणो पर कुछ संकट आया तो देश की जनता तुम्हे बख्शेगी नही।

आखिर संघर्ष रंग लाया

भारत सरकार द्वारा उद्घोषित नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की क्रियान्विति के नाम पर केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड द्वारा 10+2 स्तर पर नये सत्र से देववाणी संस्कृत का गला घोटन का जो कुचक्र चलने जा रहा था उसका संस्कृत प्रेमियो, आर्यसमाज, देश के तत्व चिंतक मनीषियो और जन संगठनो एवं नेताओ द्वारा पुरजोर विरोध किया गया। समाचार पत्रो ने भी इसमे भरपूर सहयोग दिया। यद्यपि भारत सरकार के मानसिक गुलामो वाले वातानुकूलित कमरो मे बैठने वाले अंग्रेजी परस्त अधिकारिया पर तो फिर भी असर नहीं पड़ा, पर देश के सर्वोच्च न्यायालय मे इस संस्कृत गला घोटू आदेश के विरुद्ध याचिका प्रस्तुत कर न्याय पाने की गुहार की गई तो माननीय न्यायाधीशो ने संस्कृत के महत्व को स्वीकार कर इस अन्यायकारी आदेश के विरुद्ध स्थगनादेश दे दिया और पूर्ववत् केन्द्रीय बोर्ड के विद्यालयो मे संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन जारी रखे जाने के आदेश दे दिये। इस निर्णय का 'आर्य पुनर्गठन' स्वागत करता है। संस्कृत प्रेमियो से अनुरोध करता है कि वे जागरूक रहे तथा मैकाले के मानस पुत्रो के षड्यन्त्रो से सावधान रह कर देश की इस अमर धरोहर को सुरक्षित रखे।

(सम्पादकीय शेष पृष्ठ 3 पर भी)

आज की डी. ए. वी. संस्थाएं

15 अप्रैल 1989 के 'आर्य पुनर्गठन' में डॉ बाबूराम शास्त्री का लेख 'भारत मे शैक्षिक क्रान्ति और डी ए वी शिक्षण सस्थाए" पढा।

आज डी ए वी स्कूल अथवा डी. ए वी पब्लिक स्कूलो की जो अवस्था है, लेखक ने उस पर अच्छा प्रकाश डाला है। अब मैं अपना निजी अनुभव यहा लिखना चाहती हू, कि आज डी ए. वी शिक्षण सस्थाओ मे कितना परिवतन आ गया है। मुझे कितनी निराशा तथा हार्दिक आघात लगा है। आज इन सस्थाओ का एगलो स्वरूप की भौतिकता का ही स्वरूप सामने आया है। वैदिक स्वरूप जो कि महर्षि की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था, वह समाप्त ही समझो।

आज से करीब 50–60 वर्ष पहले वैदिक शिक्षण सस्थाओ मे सध्या, हवन, नैतिक शिक्षा धर्म शिक्षा के दो पीरियड लगते थे। मेरे शहर (डेरा गाजी खा) की आर्य पुत्री पाठशाला, जिसमे मैंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की है, यह सब कुछ आवश्यक था, धर्म शिक्षा आवश्यक थी, उसमे फेल कन्या को फेल ही समझा जाता था। उसके पश्चात् मेरा बेटा डी ए वी स्कूल दिल्ली और चण्डीगढ मे पढा है। थोडी बहुत धर्म शिक्षा अथवा वेद मन्त्र थोडा बहुत होता था। अब मेरा पोता अभिषेक जिसे भारी धन राशि खर्च करके डी ए वी पब्लिक स्कूल वैस्ट पटेल नगर दिल्ली मे दाखिल कराया है। दो वर्ष से अधिक समय से यहा पढ रहा है। L.K G व U K G तथा क्लास 1st मे अब पढ रहा है। कोर्स की पढाई मे तो 5½ वर्ष के बच्चे को आवश्यकता से अधिक बोझ डाला जा रहा है। धर्म शिक्षा तथा किसी भी वैदिक शिक्षा के लिए नाम मात्र भी कुछ नही। सब कुछ दूसरे स्कूलो जैसा ही है। श्री दरबारीलाल ने कुछ समय पहले टाई गले मे लगाना तथा गुडमार्निग के बदले नमस्ते का एलान किया था। सभी आर्य पत्रिकाओ मे भी प्रसन्नता व्यक्त की गई थी। परन्तु कुछ समय बाद टाई लगाना फिर से प्रारम्भ कर दिया तथा। हमे उसके लिए फिर से खरीदनी पडी। मुझे एक दिन यह सुन कर आश्चर्य हुआ कि हमारा बच्चा यदि मैडम को नमस्ते कहे तो वह नाराज हुई और बच्चो को गुड मानिग कहने का आदेश दिया। मैंने देखा है कि डी ए वी स्कूल अथवा डी ए वी पब्लिक स्कूलो की अध्यापिकाओ मे वैदिक धर्म के विषय मे न तो कोई रुचि है न ही जरा भी ज्ञान है।

कहा हमारे समय मे नित्य ही सध्या हवन मे सम्मिलित होना आवश्यक था वर्ना अनुपस्थिति लगती थी। सप्ताह मे एक बार हमारी बाल समाज लगती थी। रविवार के साप्ताहिक सत्सग मे उपस्थिति आवश्यक थी। जिसमे हमे विद्वानो के भाषण में वैदिक शिक्षा, देश भक्ति, स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, आदि शिक्षा हमारी रग–रग मे कूट-कूट कर भर दी गई थी। आज भी इस वृद्धावस्था मे भी अपनी सस्कृति, स्वदेश प्रेम तथा वैदिक धर्म के प्रति अपार श्रद्धा तथा प्यार है।

आज के बच्चे चाहे वह डी ए वी स्कूल कालिजो के हो अथवा और किसी सस्थाओ के हो, भौतिक दौड में ही बराबर है, नैतिकता, धम शिक्षा, सदाचार की शिक्षा मे शून्य हैं। देश के प्रति किसी को भी कोई दद नही। यह सब आज की शिक्षा मे कमी है। इतना भारी खच इस शिक्षा पर करके भी यह डी ए वी पब्लिक स्कूलो के बच्चे मनुष्य नही बन पायेंगे। इसका मुझे भारी दुख है।

—कृष्णा आर्या
मोतीनगर नई दिल्ली न 5

पुस्तक-समीक्षा

महर्षि दयानंद-पत्रों के दर्पण में

लेखक डा कृष्णपाल सिंह
प्रकाशक दयानन्द वैदिक शोधपीठ अजमेर
सन् 1988, पृष्ठ I–VIII+88
मूल्य 50 रुपये

तेरह अध्यायो मे विभाजित यह पुस्तक महर्षि दयानन्द के पत्रो मे अभिव्यजित उनके प्रार्थनापासना, यज्ञ, सस्कृत भाषा, पुराणमीमासा हिंदू या आर्य, गृहस्थ राजधर्म, समाज सुधार, शिल्पकला गोरक्षा और राजनीति विषयक विचारो का दर्पण है—इसके पर्यालोचन से महर्षि के तद्विषयक विचार सुगमता से हृदयगम हो जाते हैं। महापुरुषो का व्यक्तिगत पत्र व्यवहार उनके भक्तो, प्रशसको और चरित लेखको के लिए ही नही सर्वसाधारण के लिये भी सदा एक विशेष उत्सुकता और आकर्षण का विषय रहा है, इसका कारण यह है कि जिन्हे ऐसे व्यक्तिगत पत्र लिखे जाते हैं वे उनके निकटस्थ अथवा उनसे सबधित लोग होते है और उनमे जिन विषयो का सकेत या विवरण होता है वे प्राय अन्या की जानकारी मे नही होते। ऋषि दयानन्द ने अपने जीवनकाल मे स्वय जो पत्र लिखे हैं अथवा जो उन्हे लिखे गये हैं उनकी अभी तक ज्ञात सख्या एक हजार से ऊपर है। उनके पत्रो के सग्रह पर आधारित यह रचना एक प्रकार से उनके विचारो का एक दर्पण है जिसे देखने का यह पहला अवसर है। इसमे स्वामी जी की एक विशेष छवि देखने को मिलती है। उनका जीवन एक ऐसी खुली पुस्तक था जिसमे कोई भी व्यक्ति झाककर देख सकता है। उनके जीवन, विचार व व्यवहार मे किसी भी गोपनीयता के लिए गुजाइश नहीं है। इस विशेषता के अतिरिक्त इन पत्रो से उनके कुछ परिचित और अपरिचित विचारो और सिद्धातो का भी समथन और स्पष्टीकरण होता है, यह इस पुस्तक की दूसरी विशेषता है।

यह पुस्तक सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है, आर्यजनो को इससे दिशा-निर्देश मिलेगा और स्वामीजी की मान्यताओ से परिचय भी पुस्तक सरल भाषा मे लिखी गयी है—विचारो की अभिव्यक्ति मनोरम है—प्रस्तुति हृदयग्राही।

—दत्तात्रेय आर्य

संपादकीय...

पंजाब के आर्य जगत मे आशा की किरण

"देर आयद, दुरुस्त आयद"। यदि सुबह का भूला हुआ सायकाल वापिस घर आ जाय तो उसे भूला हुआ नही कहते है। गत वर्ष पजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन के समय दो दल हो गये थे और धडे बदी एव दलबन्दी से दो सभाये हो जाने से आर्यसमाज के सामाजिक सगठन का अस्तित्व आतकवाद के साये मे रहने वाले पजाब मे, खतरे मे पड गया था। पर इस बार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री आनन्द बोध जी सरस्वती की दूरदर्शिता पूर्ण सूझ-बूझ, पजाब के आर्य भाइयो की एकता की दृढ इच्छा एव वीरेन्द्र जी के रचनात्मक सहयोग से देश की बडी और पुरानी आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के सर्वसम्मति से चनाव होकर योग्य व्यक्तियो को कार्यभार सौंपा गया। इसके लिए सभी सम्बन्धित पक्ष बधाई के पात्र हैं।

'आर्य पुनर्गठन' जोड़क है तोड़क नहीं

'आर्य पुनर्गठन' आर्य समाज को पुन सगठित एव सुदृढ करना चाहता है, सैद्धान्तिकता को बढावा देना चाहता है, आर्य समाज मे घुस आई बुराईयो का पर्दाफाश करके ऋषि दयानन्द के परम पुनीत सद्मार्ग को आलोकित करना चाहता है। अत इसकी आलोचनाओ एव प्रत्यालोचनाओ का आर्य जनता स्वागत करे। आर्य पुनर्गठन जोडने वाला है तोडने वाला नही। यह सुई है पर जोडने के लिए कैंची की कतरन भी आवश्यक है। अत ऋषि की निर्वाण स्थली अजमेर से निकलने वाले इस पत्र के आशय को आर्य जनता इसी सदभावना के साथ स्वीकार करे। हमारा एक मात्र लक्ष्य आर्यसमाज को शुद्ध, प्रामाणिक, विश्वसनीय, सुदृढ क्रातिकारी, सिद्धातनिष्ठ सगठन बनाना है।

—रासासिंह

दयानन्द प्रसंग

इतिहासार्थ

—डॉ. भवानी शास्त्री—

जिज्ञासु : स्वामी जी ! इतिहास किसे कहते हैं ? क्या विष्णु पुराणादि इतिहास ग्रंथ हैं ?

दयानन्द : आप्त प्रमाण से युक्त इतिवृत्त ही इतिहास कहलाता है। जो व्यक्ति साक्षात् सब पदार्थ विद्याओं को जानने वाला, छल कपट-ईर्ष्या-द्वेष आदि से रहित व धर्मात्मा है—जो सत्यवादी व सदाचारी है—पूर्णविद्या से आलोकित आत्मा वाला जो—"सर्वजनहिताय सुखाय" की भावना से मानव जाति के कल्याणार्थ सत्य का उपदेश करने वाला है—जिसने [illegible] से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लिया है और तदनुसार आचरण भी करता है—उसे आप्त पुरुष कहते हैं। उसी का उपदेश प्रमाण होता है—इसके विपरीत व्यक्ति का नहीं। ऐसे सत्य वृत्तान्त का नाम ही इतिहास है—किसी का नहीं। सत्य प्रमाणयुक्त सत्य वृत्तान्त जो आप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट है वही इतिहास है। विष्णु पुराणादि ग्रन्थ आप्तोक्त नहीं हैं—न ही उनमें सत्य वृत्तान्तों का उल्लेख है : उनमें अनेकों कपोल-कल्पित आख्यान व उपाख्यान हैं। अतः उन्हें इतिहास नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रंथ [illegible] एवं आप्तोक्त हैं—ऋषियों ने उनमें सत्य वृत्तान्तों का ही उल्लेख किया है और [illegible] जाति के कल्याणार्थ ही कर्तव्य-कर्मों का उपदेश किया है। अतः उन्हें ही पुराण व इतिहास समझना चाहिए।

आर्य जगत और विश्व

"पौराणिक कर्मों का पाखंड और आर्य समाज"

अल्पकाल होते हुए भी "आर्य पुनर्जागरण" आर्यसमाज को एक नई दिशा देने में सफल हो रहा है। इसके लेख आर्यसमाज के सम्मुख प्रस्तुत ज्वलंत समस्याओं के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं तथा हमें सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

पिछले अंक में आर्यसमाज में प्रचलित पौराणिक कर्मों के पाखण्डपूर्ण प्रचार की ओर श्री रासासिंह ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यह नितान्त समीचीन तथा आवश्यक है। पौराणिकों की पाखण्डलीला का खण्डन करने वाले आर्यसमाजी लोग स्वयं ही कर्मकाण्ड के मोहाविष्ट कपोल कल्पित आडम्बरों का शिकार हो रहा है। आश्चर्य है कि हम इस प्रकार के अशास्त्रीय कृत्यों पर अंकुश लगाने में स्वयं को नितांत असमर्थ पा रहे हैं।

—डा. भवानीलाल भारतीय
चण्डीगढ़।

सम्मान की घोषणा आर्य पुरस्कार राजेन्द्र 'जिज्ञासु' को

हिंडोन सिटी। स्थानीय नगर आर्यसमाज द्वारा श्री प्रह्लाद कुमार आर्य द्वारा स्थापित श्री पूरनमल आर्य पुरस्कार इस बार 1989 में प्रख्यात आर्य विद्वान् व शोधकर्त्ता प्रोफेसर श्री राजेन्द्र 'जिज्ञासु' को आपके द्वारा लिखित व सम्पादित महात्मा हंसराज व आर्य समाज पर श्रीकृष्ण जन्माष्टमी दिनांक 24 अगस्त, 89, दिन बृहस्पतिवार के पावन-पर्व पर दिया जा रहा है।

इस सम्मान में आपको सम्मान-राशि के अतिरिक्त अभिनन्दन पत्र तथा एक शाल नागरिक सम्मान के साथ प्रदान किया जावेगा।

—सचिव

दयानंद महाविद्यालय अजमेर के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा एक करोड़ की योजना स्वीकृत

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने नवीन शिक्षा नीति के अन्तर्गत अन्य त्रिवर्षीय पाठ्यक्रमों के समान खेलकूद, स्वास्थ्य तथा शारीरिक प्रशिक्षण के लिये भी एक त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम की योजना तैयार की है। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में कम से कम एक महाविद्यालय को इस काम के लिए लगभग एक करोड़ रुपये की अनावर्तक तथा पांच वर्ष के लिए आवर्तक आर्थिक सहायता का प्रावधान है। राजस्थान में अजमेर के स्नातकोत्तर दयानन्द महाविद्यालय को इस योजना के अन्तर्गत सत्र 1989-90 से यह पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने के लिए चुना गया है। यह जानकारी देते हुए महाविद्यालय के निदेशक श्री दत्तात्रेय आर्य ने सूचित किया है कि इस योजना के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक भिन्न-भिन्न खेलों के मैदान, तरण-ताल, व्यायामशाला (जिम्नेजियम) आदि सारी सुविधाएं दयानन्द कालेज के विशाल परिसर में उपलब्ध करा दी गई हैं।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं सम्पादक रासासिंह हेतु रतनलाल जैन द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मौहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है सत्य हमारा कर्म॥

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 मगलवार 30 मई, 1989
अ क 10 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय पराक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

ज्येष्ठ कृ दशमी सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

उल्टा चोर कोतवाल को डांटे

'आर्य मित्र' के छद्‌मवेशी पौराणिकों का अनर्गल प्रलाप

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

'आर्य पुनर्गठन' के 15 फरवरी, 1989 अक मे प्रकाशित मेरे लेख इन्हें तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदों का' का उत्तर आर्यमित्र" ने अपने 7 मई, 1989 के अक मे प्रकाशित किया है।

उल्लेखनीय बात यह है कि मेरे लेख का उत्तर देने का साहस 'आर्यमित्र' के सम्पादक मण्डल का कोई व्यक्ति जब नहीं कर सका तब किन्हीं श्री विनय प्रताप को 'शिखण्डी' बनाकर उससे उत्तर दिलाया गया है और इन श्रीमान का सारा 'प्रताप' विषय से हटकर अनर्गल प्रलाप करने मे ही लगा है।

श्री विनय प्रताप यह स्वीकार करते हैं कि 'आर्य पुनर्गठन' के सम्पादक थोडा ज्ञान रखते हैं। लेकिन खेद है कि श्री विनय प्रताप स्वय तो ज्ञान के मामले म बिलकुल ही कोरे है। तभी आपने 'आर्य पुनर्गठन' के लेख का युक्तिसगत उत्तर देने के स्थान पर आर्य पुनर्गठन' एव उसके सम्पादक की व्यक्तिगत आलोचना करने मे ही अपने को धन्य समझा है।

आप का यह कहना कि 'आर्य पुनर्गठन' ने अपने गत दो साल के कार्यकाल म कोई विशेष कार्य नहीं किया सफेद झूठ है। वास्तविकता तो यह है कि आर्य समाज के वर्तमान तथा भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध मे 'आर्य पुनर्गठन' ने विभिन्न चोटी के आर्य विद्वानो के चिन्तनपूर्ण विचारो का प्रकाशन कर आर्य जगत् का जो मार्गदर्शन किया है, उसकी अन्य कोई सामाजिक पत्र बराबरी नहीं कर सकता। लेकिन जिन्हें आर्य समाज के नाम पर यन-केन प्रकारेण अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करने से ही मतलब है ऐसे लोगो को भला 'आर्य पुनर्गठन' के कार्य की महत्ता कहा दिखाई देगी? आप कहते हैं कि 'आर्य पुनर्गठन' ने श्री बलराज मधोक का पत्र व्यवहार प्रकाशित किया है। 'आर्य पुनर्गठन' ने कभी श्री मधोक का पत्र व्यवहार प्रकाशित नहीं किया। हमे श्री प्रताप मतिभ्रम के रोगी लगते हैं। इन्हें अविलम्ब किसी अच्छे वैद्य के पास उपचार के लिए जाना चाहिए।

श्री विनय प्रताप का तर्क है कि मैंने यह कैसे समझ लिया कि सौ वर्ष से अधिक गौरवमय इतिहास वाली सभा का दशकों पुराना पत्र सिद्धान्त विरोधी विचारधारा का प्रचार-प्रसार कर सकता है? इनके इस बचकाना तर्क पर मुझे हसी आती है। सदाचारी वश मे क्या कभी दुराचारी सन्तान पैदा नहीं हो सकती? मेरे कथन का अभिप्राय आप समझ गए न!

श्री विनय प्रताप का एक दूसरा बचकाना तर्क देखिए। आप कहते हैं, 'आज जब हिन्दू समाज पर अस्मिता एव अस्तित्व रक्षा का सकट व्याप रहा हो समाज म इस प्रकार का विघटन एव विग्रह उत्पन्न करना अपने समाज, अपनी सस्कृति तथा धर्म के साथ सरासर गद्दारी है। वाह साहब, यानी अपने हिन्दू समाज पर सकट के नाम पर वैदिक सिद्धान्त विरोधी प्रचार करने की खुली छूट दे दी जाए और आपके ऐसे सिद्धान्त विरोधी कृत्य की कोई आलोचना भी न की जाए। बहुत खूब, क्या कहने हैं आपके!

वस्तुत हिन्दू समाज पर आज जो सकट है उसके लिए विनय प्रताप जैसे तथाकथित आर्य समाजी ही जिम्मेदार हैं। जब तक हिन्दू समाज म प्रचलित

(शेष पृष्ठ 4 पर)

श्री इन्द्रदेव पाठक के नाम हमारा पत्र

प्रिय महोदय,

सप्रेम नमस्ते।

आपने पत्र मे "आर्यमित्र" मे प्रकाशित लेख के पक्ष मे कई कमजोर दलीले देकर उसे आर्य समाज के सिद्धान्तानुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। कितना अच्छा होता कि यदि आप सत्य का आश्रय लेते हुए अपनी भूल स्वीकार कर लेते।

स्वामी श्रद्धानन्द व स्वामी विरजानन्द सरस्वती का उदाहरण देकर सिद्धात विरुद्ध लेखन के अपराध से बरी होने की आपकी चेष्टा उचित नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त आपने भारी शब्दाडम्बर द्वारा भी अपने लेख को सिद्धात सम्मत सिद्ध करने की जो कोशिश की है आपकी वह कसरत भी व्यर्थ ही है। जल से शरीर शुद्ध होता है और नदी किनारे एकान्त मे साधना की जा सकती है, इससे हमने कहा इकार किया है। हमारा आपसे विरोध गगा या नदी विशेष के जल को पापनाशक मानने के पाखड को लेकर है।

मैंने अपने लेख मे ऋषि दयानन्द की मान्यताओ को उदधरित करते हुए आर्य मित्र" के लेख को सिद्धात विरुद्ध सिद्ध किया था। इसीलिए बेहतर तो यही होता कि आप भी ऋषि दयानन्द की मान्यताओ को ही अपने पक्ष मे उदधरित करते। लेकिन आपने ऐसा नहीं किया।

श्री इन्द्रराज पर मैंने कोई झूठा दोषारोपण नहीं किया। उन द्वारा मृतक श्राद्ध कराने सबधी कृत्य की मैंने जाच कराई थी। और उसमे उन द्वारा मृतक श्राद्ध कराना सिद्ध हुआ था। मेरे लेख के प्रकाशन के इतने दिनो बाद आपका उस सबध मे आपत्ति उठाना तर्कसगत नहीं है।

जहां तक धर्मार्य सभा मे जाने की बात है हम इसके लिए तैयार हैं। यदि आप हमारे आक्षेपो को गलत मानते है तो आप ही इस सबध मे धर्मार्य सभा की व्यवस्था (निर्णय) ले। धर्मार्य सभा का निर्णय हमे स्वीकार्य होगा।

आप द्वारा नदी विशेष के जल को पापनाशक बताना तथा मृतक श्राद्ध कराना क्या आर्य समाज का सैद्धातिक विघटन नहीं है। वस्तुत हम आपके इन सिद्धात विरुद्ध कार्यों का विरोध करके ही आर्य समाज का पुनर्गठन कर रहे हैं।

पत्रोत्तर देने की सौजन्यता की अपेक्षा है।

भवनिष्ठ
(वीरेन्द्र कुमार आर्य)
सम्पादक

निदेशक दत्तात्रय आर्य   प्रधान सपादक रासासिह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

नहीं लगता मुझे हालात पे, कुछ बात भी होगी।
अभी तो रहनुमा झगड़ेंगे, बैठक मुल्तवी होगी।।

आर्य पुनर्गठन आर्यों का, आर्य समाजो का, आर्य शिक्षण संस्थाओ का पुनर्गठन करना चाहता है। महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो एव मन्तव्यो के अनुरूप वेद मार्ग का अनुसरण करने वाले वैदिक धर्म मे दृढ आस्था और विश्वास रखने वाले, वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार करने वाले आर्य धर्म के अनुसार जीवन को आर्यत्व से ओत प्रोत बनाने वाले कर्त्तव्यपरायण और सच्चरित्र एव विश्वसनीय आर्यों का सगठन 'आर्यसमाज' बनाने हेतु आर्य समाज का पुनर्गठन परमावश्यक है।

आज आर्यसमाज एक मोड पर किंकर्त्तव्यविमूढ सा सम्प्रदाय का रूप धारणकर शिथिल सा प्रतीत हो रहा है। भला वेगवती नदी के प्रवाह को कोई रोक सकता है? आर्यसमाज एक क्रांतिकारी मिशन है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना रखने वाला प्रखर और प्रचण्ड तेज वाला सगठन है। डके की चोट इस बात का उद्घोष करने वाला है कि सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। आर्यसमाज के 10 नियम विश्व मे बेजोड एव अनुपम हैं। आर्यसमाज के सिद्धांत और मन्तव्य तथा उसका कार्यक्रम एव इतिहास उसकी सेवाए भी अनुपम एव बेदाग तथा विवेक सम्मत एव तर्क सगत है इसके बावजूद भी आज के भारत और आज के विश्व मे आर्य समाज की आवाज क्यो बुलद नही? क्यो आर्यसमाज की बात ध्यान से नही सुनी जाती? क्यो आर्य समाज के कार्यक्रमों को मीडिया मे प्रचार प्रसार मिलता? क्यो आर्यसमाज कछुए की तरह अपनी चहारदीवारी मे ही सिकुडता जा रहा है? इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर है कि इस क्रान्तिकारी सगठन से संस्थाओ की आड मे जेब भरने वालो सस्थाओ के नाम पर क्रांतिपथ में अवरोध पैदा करने वालो को निकाल बाहर करना होगा। चुनावी हथियार के आधार पर अधिकाधिक वोट बटोर कर आर्य समाज और उसके पदो को हथियाने वाले तिकडमबाज भ्रष्ट तोड जोड माहिर राजनीति से प्रेरणा पाकर समाज को प्रदूषित करने वाले लोगो मे चरित्रहीनो से समाज का पिण्ड छुडाना पडेगा। आर्य समाज मे घुसे हुए पौराणिको सनातनियो मूर्तिपूजको अधकचरे तथाकथित आर्यों व सामाजिक रूढियो एव अन्धविश्वासो मे फसे हुए छद्मवेशियो से आर्यसमाज को छुटकारा दिलाना होगा। इन सब के लिये पहले सच्चे और कर्मठ आर्यों का निर्माण करना होगा जुझारू एव सच्चरित्र एव प्रखर आर्यों को सगठन की पतवार सौपनी होगी। आर्यसमाज के मन्दिरो मे प्रवचन सुनने और कार्यक्रमो मे सम्मिलित होने के लिये भले ही सब आवे परन्तु समाज के पदाधिकारियो एव कार्यकारिणी मे संस्थाओ के महत्वपूर्ण पदो पर तो आर्यसमाज की विचार धारा से तपे तपाये खरे सोने को परखे हुए सिद्धान्तनिष्ठ एव कर्मशील व्यक्तित्व वाले व्यक्तियो को आगे लाना होगा भले ही हमारी सख्या कम हो जाय परन्तु वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्ख शतान्यपि एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च के कथन के अनुसार गुणवान परन्तु श्रेष्ठ पुत्र का एक ही ठीक है सौ भी हो जाए और सब मूर्ख हो तो वे किसी काम के नही। आकाश मे एक ही चन्द्रमा पूरे अन्धकार का नाश करता है परन्तु हजारो टिमटिमाने वाले तारे मिलकर भी उस अन्धकार को नही भगा सकते।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि यह मत कहो कि कर सकता क्या अकेला लाखो मे होता है सूरमा अकेला इसलिये हमे सख्या बढाने के स्थान पर गुणात्मक अभिवृद्धि पर जोर देना चाहिये और इसी के लिये आर्य समाज का पुनर्गठन आवश्यक है। आर्यसमाज के पुनर्गठन के लिये मठाधीशो को हटाना होगा निहित स्वार्थियो को निकालना होगा सिद्धांतहीन अनार्यों को हटाना होगा, दीवारो को तोडकर जनसाधारण के बीच कार्य क्षेत्र बनाना होगा। पर यह कार्य सामान्य नहीं है इसके लिये एक और दयानन्द या श्रद्धानन्द की आवश्यकता पडेगी।

"आर्यपुनर्गठन" विगत दो तीन वर्षों से लगातार प्रयत्नशील है विचार देने को सचेष्ट है बुराइयो पर करारे प्रहार कर रहा है अपनी आवाज बुलन्द कर रहा है। पर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नक्कार खाने मे तूती की आवाज कोई नही सुन रहा है। पर आर्य पुनर्गठन निराश नहीं होगा। भले ही कुछ लोग इससे चिढ कर इसे दुर्गन्धि कहे पर यह अपने सीमित साधनो से एकला चलो रे की नीति का अनुसरण करते हुए निरन्तर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होता रहेगा।

एक कवि के शब्दो मे यही कहना चाहूंगा –

'उसको फतह से भला कौन रोक पायेगा।
मजूर जिसको घाव भी उपहार की तरह।।'

इसलिये आर्य पुनर्गठन डके की चोट यह उद्घोषणा करता है कि—

ऋषि की निर्वाण स्थली से आर्य पुनर्गठन ने ललकारा है।
दूर हटे आलस्य अनार्यत्व यही आर्यसमाज का नारा है।।

—रामसिंह

राजीव का साम्प्रदायिता विरोध

राजीव गाधी इन दिनो साम्प्रदायिकता के विरुद्ध बढे बढ-चढ कर बोल रहे हैं। चुनावी दिनो मे साम्प्रदायिकता एव राष्ट्रीय अखडता के मुद्दो पर ही वे बोला करते हैं।

अभी गत कुछ दिनो पूर्व बिहार की एक जनसभा मे उन्होंने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जोरदार शखनाद किया है और विपक्षी दलो पर साम्प्रदायिकता को बढावा देने का आरोप लगाते हुए वामपन्थी दलो से साम्प्रदायिक ताकतो के विरुद्ध सघर्ष मे कांग्रेस का साथ देने का आह्वान किया है।

हम यहा राजीव गाधी द्वारा विपक्ष पर साम्प्रदायिक तत्वो को बढावा देने के लगाए गए आरोप के विरोध मे कुछ नही कहना चाहते। लेकिन स्वय इका व उनकी प्रशसा के पात्र वामपन्थी दल कितने साम्प्रदायिकता विरोधी हैं इस की जाच परख अवश्य करना चाहेंगे।

जहा तक वामपन्थी दलो का प्रश्न है उन्हे कुछ हद तक साम्प्रदायिकता विरोधी कहा जा सकता है। वैसे इन दलो की साम्प्रदायिकता विरोधी मुहिम पूरी तरह एक पक्षीय ही रही है। एक तरफ ये मुस्लिम लीग जैसी साम्प्रदायिक पार्टी से चुनावी गठबन्धन करते हैं तो दूसरी ओर हिन्दुत्व के कट्टरवाद के विरुद्ध वक्तव्य देते हैं।

और इका का साम्प्रदायिकता विरोध तो सरासर ढोंग ही है। वैसे कांग्रेस का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि साम्प्रदायिकता के पेड को पालपोसकर एक वट वृक्ष का रूप देने मे इस पार्टी का ही प्रमुख हाथ रहा है। लेकिन हम दूर की बात नही करगे। राजीव गाधी के कार्यकाल को ही ले लीजिए। मुस्लिम महिला सशोधन विधेयक पर आरिफ मोहम्मद खान जैसे साम्प्रदायिकता विरोधी मत्री को उनकी सरकार से त्याग पत्र देकर बाहर होना पडा था। और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जोर शोर से चिल्लाने वाले श्री गाधी ने मुस्लिम कट्टरपथियो के सामने अपने हथियार डाल दिए थे।

मिजोरम का उदाहरण अभी बिल्कुल ताजा है। इका ने गत वर्ष हुए मध्यावधि चुनावो मे किस तरह ईसाइयत को बढावा देने के नाम पर वोटो की फसल काटी, यह कोई गुप्त रहस्य नही है। वहा इका ने अपने घोषणा पत्र तक मे साम्प्रदायिकता को बढावा देने वाली बातो का प्रकाशन किया था।

निस्सदेह राजीव गाधी और उनकी पार्टी को विपक्षी दलों को साम्प्रदायिकता का पोषक बताने एव स्वय को साम्प्रदायिकता विरोधी कहने का कोई हक नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि स्वय इका विपक्ष से कही अधिक साम्प्रदायिकता को बढावा देती है।

—वीरेन्द्र आर्य

प्रश्न सिद्धान्त का है, आक्रोश किस लिए ?

—सत्यवादी—

लेखक आर्य जगत् के प्रख्यात विद्वान हैं। आपकी भावना का सम्मान करते हुए हम आपका वास्तविक नाम प्रकाशित नहीं कर रहे हैं। —सम्पादक

गत सप्ताह 'आर्य मित्र' के एक लेख में अजमेर के आर्य पत्र 'आर्य पुनर्गठन' के एक लेख की आलोचना की गई है। वस्तुत. वह 'आर्य पुनर्गठन' के उस लेख का विरोध था जिस में 'आर्य मित्र' के पौराणिक दृष्टिकोण की भर्त्सना की गई थी। मेरी दृष्टि से दोनों लेख गुजरे हैं। मुझे खेद है कि दोनों में व्यक्तिगत आक्रोश का अंश अधिक है। आखिर इस में नाराजगी का क्या कारण? दोनों ही ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं। ऋषि के ग्रन्थ तथा मन्तव्य कुछ छुपे हुए नहीं। यदि किसी ओर से इस विषय में गलती हुई है तो उसे सज्जनता से दर्शा देना चाहिए और दूसरे का कर्त्तव्य है कि वह गलती को गलती मान ले। उस पर अपने अहं का प्रदर्शन करता हुआ विवाद न करे।

'आर्य पुनर्गठन' के दो आक्षेप हैं, पहला तो यह कि उत्तर प्रदेश सभा के प्रधान महोदय अपनी माता जी की दुःखद मृत्यु के पश्चात् उनकी सद्गति की प्रार्थना तथा अस्थि विसर्जन के लिए हरिद्वार गये। इसमें कोई दो राय नहीं कि ऋषि दयानन्द इस कृत्य के विरोध में हैं। प. इन्द्रराज जी विशुद्ध आर्य सज्जन हैं, आर्यत्व उनके रोम-2 में है, परन्तु फिर भी यदि यह पौराणिक पाखंड किसी विवशता से वे कर पाये हैं तो अनुचित है। विशेष रूप से इसलिए कि वे आर्यों की एक शिरोमणि सभा के प्रधान और 'यद्-यद् आचरति श्रेष्ठ तद् तदेव इतरोजना' अधिकार प्राप्ति के साथ कर्त्तव्य का अनुशासन कड़ा हो जाता है। इतना ही पर्याप्त है कि वे अपनी विवशता पर खेद प्रकट कर दें, यह उन के सम्मान में वृद्धि का कारण होगा, और उनकी शालीनता ऐसा करने के लिए उन्हे बाध्य करेगी।

दूसरा आक्षेप 'आर्य मित्र' में छपे महाकुम्भ शीर्षक एक लेख पर है—लेख की यह पंक्तियां और और आज उसी की स्मृति में प्रयागराज कुम्भ में करोड़ों की संख्या में आबाल वृद्ध नर-नारि एक डुबकी माथ के लिये लालायित हैं, न सरदी की चिन्ता न भूख प्यास की, कितना महान है मेरा हिमालय, हिमालय से निकलने वाली वह सुरसरि, देवी सुरसरि भगवति गंगे, त्रिभुवन तारणि तरल तरंगे।" (आर्य मित्र 29 जनवरी) क्या यह सत्य नहीं है कि इस प्रकार का भावुकता पूर्ण लेख गंगा को त्रिभुवन तारणि बना रहा है। वस्तुत तो लेखक भी मानता है कि गंगा एक नदी है और जल से शरीर ही साफ होता है परन्तु भावुकता पूर्ण ऊपर लिखी पंक्तियां पौराणिकता का पोषण करती हैं। लेखक को चाहिए था कि साथ ही आर्य समाज के दृष्टिकोण को भी दे देता तो शायद किसी इतिहास के प्रसंग में कही बात भी खप जाती। परन्तु भावुकता का क्या किया जावे? मेरी प्रार्थना है कि आर्य विद्वानों को, लेखकों को हर बात सम्भल कर करनी चाहिए, यह ऋषि दयानन्द का मंच है जहां एक-एक शब्द पर शास्त्रार्थ हो पाये हैं। 'सिद्धान्तत हम दोनों आर्य समाजी हैं, आज प्रमाद वश आर्यों में सिद्धान्त ज्ञान भी कम है, और व्यवहार में गुरुडम, प्रतिमा पर पुष्प माला चढ़ाना इत्यादि पौराणिक पाखंड पनप रहा है। इस में कुछ हिन्दुत्व' की सियासत भी कारण है। आज आर्य शब्द के महत्व को आर्यबन्धु भी ओझल कर रहे हैं, हिन्दुत्व की बाढ़ सी है। हम इस बाढ़ में तैरें, बह न जाएं। केवल इसका ध्यान रहे।

'आर्य मित्र' के लेखक ने पुनर्गठन की गरीबी पर व्यंग्य किया है, यह उसे शोभा नहीं देता। पुनर्गठन का कलेवर, ताम-झाम वह नहीं जो आर्य मित्र का है। और फिर वह है भी पाक्षिक, परन्तु सत्य बात यदि फकीर भी कहे तो राजा को स्वीकार करनी चाहिए। दयानन्द जैसे फकीर के अनुयायी सत्य से प्रेम करें, ताम-झाम बड़प्पन का कारण नहीं है। यदि ताम-झाम ही पैमाना हो तो राणा प्रताप से मानसिंह का स्थान कहीं आगे है परन्तु संसार जानता है कि कितने मानसिंह आए और चले गए, परन्तु राणा प्रताप का यश सदा अक्षुण्ण है।

दयानन्द उवाच

देवता विषय

जिज्ञासु —स्वामी जी! यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है?

दयानन्द —वेद में जो-जो पदार्थ देवता बतलाए गये हैं—उन्ही का ग्रहण होता है। जैसे यजुर्वेद में अग्नि, वात, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत्, विश्वेदेवा, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण को देवता कहा गया है। कर्मकाण्ड में देवता पद से मुख्य रूप से वेद मन्त्रों का ही ग्रहण होता है क्योंकि गायत्री आदि छन्द ही देवता हैं। इन्हीं वेद-मन्त्रों से सभी विद्याओं का प्रकाश होता है। यास्क कहता है कि जिस कामना से ऋषि जिस देवता में आधपत्य की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है—उस देवता वाला वह मन्त्र होता है।' यह मन्त्र तीन प्रकार का है—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। जिन-जिन मन्त्रों में किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं है—वहां-वहां यज्ञ आदि को देवता जानना चाहिए। "अग्निमीळे" मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है अर्थात् एक अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेकर पृथिवीपर्यन्त सृष्टिकार्य तथा शिल्पविद्या और तीसरा विज्ञान और योग—ये ही उन मन्त्रों के देवता हैं—और जिन मन्त्रों से यह यज्ञ सिद्ध होता है—वे भी इन मन्त्रों के देवता हैं। इसके अतिरिक्त जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं—उनके देवता मनुष्य हैं, इसी प्रकार कहीं यज्ञादि कर्म देवता हैं, कहीं माता-पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य। किन्तु यज्ञ के प्रसंग में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि जो देव हैं—वही देवता हैं। यास्क का अभिमत है कि दान देने प्रकाश करने, पदार्थों का सत्योपदेश करने और द्युस्थानी होने से मनुष्य या पदार्थ देव कहलाते हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि का द्योतन करने के कारण मन सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां भी देव कहलाती हैं। सर्वशक्ति-मत्वादि-गुणोपेत परमेश्वर ही वस्तुत एक देव या देवता है—अन्य देव तो उसी की सामर्थ्य के भिन्न-भिन्न प्रकाशित रूप हैं—वह जिस-जिस में जितना-जितना दिव्यगुण रखता है उतना ही उनमें देवत्व है—अधिक नहीं। व्यवहार में आठ वसु ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देव कहे गये हैं। किन्तु इन सबका देवत्व देवाधिदेव परमेश्वर की सामर्थ्य के अधीन है—उसी की दीप्ति से ये दीप्तिमान हैं, अत परमार्थ में वही एक देव है—उसी की उपासना करनी चाहिए। —डॉ बाबूराम शास्त्री

डा. भारतीय जी का सम्पादक के नाम पत्र

श्री सम्पादक जी,

पुनर्गठन का 15 फरवरी का अंक कलेवर में लघु होने पर भी सारगर्भित सामग्री से परिपूर्ण है। आपने आर्यमित्र के कुम्भ और गंगा विषयक लेख पर जो अपना सम्पादकीय दिया है उससे आर्यसमाजियों की आंखे खुलनी चाहिए। वस्तुत. आज के आर्यसमाजी पत्र कुछ ऐसे लोगों के हाथों में चले गये हैं जो ऋषि दयानन्द के सिद्धांतों से अपरिचित हैं ही, सिद्धांत विरुद्ध सामग्री को प्रमुखता देकर छापने में भी उन्हे कोई संकोच नहीं होता। तभी तो कुम्भ की प्रशंसा और गंगा को त्रिभुवन तारिणी कहा जाता है। अन्यथा क्या स्वामी दयानन्द का कोई अनुयायी गंगा स्नान को पाप नाशक मानेगा? इस सम्पादकीय के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें।

—डा भवानीलाल भारतीय,
पंजाब विश्वविद्यालय,

राजस्दार महोदय,
गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय हरिद्वार

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 दश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु 1 00
3 विद्यार्थियो के लिए आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दु इज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही-मूल्य—50 रु
6 आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मुवमेंट (सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—5 00 रु

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1 दयानन्द कथा सग्रह मूल्य रु —3 00
2 महर्षि दयानन्द पत्रो के दर्पण मे मूल्य रु —50 00

अन्य प्रकाशन

1 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
2 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण सस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00
3 आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00
ले लाला लाजपतराय

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतत्र टैंक्ट)

1-ईश्वर एक नाम अनेक
2 आदर्श माता-पिता
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण
4 गृहस्थाश्रम का महत्व
5 सन्यासी कौन और कैसा हो ?
6- राज्य व्यवस्था
7-ईश्वर और वेद
8-जगत की उत्पत्ति
9-स्वर्ग और नरक कहा है ?
10-चौके चूल्हे मे धर्म नहीं
11-हिन्दू धर्म की निर्बलता
12-बौद्ध और जैनमत
13-वेद और ईसाई मत
14-इस्लाम और वैदिक धर्म
15-सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी टैंक्ट आर्य जगत के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित है एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

आर्य मित्र के...

(शेष पृष्ठ 1 का)

कुरीतियों एव रूढियों को दूर नहीं किया जाता तब तक हिन्दुओं की समस्याए समाप्त नही हो सकती।

एक ओर कहा प. विश्वश्रवा जी व्यास जैसे वयोवृद्ध आर्य विद्वान शास्त्रार्थ युग की वापिसी का आह्वान कर रहे है, वही दूसरी ओर आप जैसे व्यक्ति भी हैं जो हिन्दू समाज पर सकट का नारा लगाकर आर्य समाज को समझौतावाद का पाठ पढा रहे हैं। धिक्कार है आपको ! ऋषि दयानद की आत्मा आप जैसे कृतघ्नों को कभी क्षमा नही करेगी।

फिर हिन्दुओं को सगठित करने का उत्तरदायित्व क्या आप पर ही है ? हिन्दुओ का मार्ग-दर्शन करने के लिए तो उनके स्वय के अनेको सगठन हैं। आपको तो हिन्दुओ के सगठन से अधिक आर्य समाज के भविष्य की चिंता होनी चाहिए। आखिर आर्य समाज की जागरूकता एव गतिशीलता स्वय हिंदुओ के भी हित में।

...राज के प्रकरण मे ...मित्र' मे प्रकाशित 'महाकुम्भ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' के समर्थन मे आप जैसे कुछ निराधार तर्क ही मुझे आर्यमित्र' के प्रबन्ध सम्पादक बन्धुवर श्री इन्द्रदेव पाठक ने अपने पत्र मे दिए थे। मेरे द्वारा दिए गए उनके पत्र के उत्तर को मैं पाठको के अवलोकनार्थ प्रकाशित कर रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त मेरे 'आर्य पुनर्गठन' मे प्रकाशित लेख के समर्थन मे आए मान्य डॉ भवानीलाल जी भारतीय के पत्र को भी पुनर्प्रकाशित कर रहा हूँ। इन्हें ध्यानपूर्वक पढने से आपको सत्यता का प्रकाश मिल सकेगा, ऐसी आशा है।

श्री विनय प्रताप कहते हैं कि भविष्य मे मेरी ऐसी गैर जिम्मेदाराना उच्छृखलता को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा और मेरे विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाएगी। मै उनकी यह चुनोती स्वीकार करता हू और अपनी पूरी शक्ति से यह घोषणा करता हू कि यदि भविष्य मे फिर कभी 'आर्यमित्र' या आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के अधिकारियो ने आर्य समाज के सिद्धात विरुद्ध विचारो का प्रचार-प्रसार किया तो मैं उसका लेखकीय विरोध करने वाला प्रथम व्यक्ति होऊगा। और रही आपकी अनुशासनात्मक कार्यवाही की धमकी तो उस पर गालिब के एक शेर को मैं यू कहना चाहूगा—

हमें मालूम है आपकी सिद्दत
लेकिन,
दिल को बहलाने का 'प्रताप'
का ख्याल अच्छा है।

मुझे न चाहते हुए भी इस लेख मे कुछ कठोरता से काम लेना पडा है। इसमे मेरी विवशता थी, क्योंकि आप (श्री विनय प्रताप) ...को समझते हैं और मुझे, आपको समझाना ही अभीष्ट था।

और अन्त मे चलते-चलते—
लफ्ज गू गे हैं भला वो क्या
सफाई दगे।
दिल को छू लेंगे जो सुनाई
देंगे।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 बृहस्पतवार 15 जून, 1989
अंक 11 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

ज्येष्ठ शु 11 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

'आर्यमित्र' का 'दैवी' चमत्कार

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

ऐसा प्रतीत होता है कि आज-कल 'आर्यमित्र' के सचालको ने आर्य समाज विरोधी मान्यताओ के प्रचार-प्रसार का बीडा पूरी तरह उठा लिया है। इस पत्र के प्राय हर दूसरे अक मे वैदिक सिद्धात विरोधी सामग्री देखने को मिल रही है।

पिछले दिनो 'आर्यमित्र के कुम्भ विषयक लेख पर जब हमने विरोध व्यक्त किया था तो 'आर्यमित्र के सचालक अपनी भूल स्वीकारने के स्थान पर उल्टे हमे ही पाखण्डी बताने लगे। हम पर व्यक्तिगत आक्षेपो की झडी भी लगाई गई। इस काम के लिए किन्ही विनयप्रताप को माध्यम बनाया गया और अपने पक्ष मे बेतुके और सदर्भहीन तर्क दिए गए। यहा तक कि हमारे विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की धमकी भी दी गई।

परन्तु सिद्धान्त के मामले मे हम किसी भी विरोध के सामने झुकने वाले नही। अब फिर आर्यमित्र के गत दो अको मे हमे कुछ सिद्धात विरोधी सामग्री देखने को मिली है। उस पर आर्यजगत का ध्यान आकर्षित करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

आर्य मित्र मे प्रकाशित पौराणिक धर्म से प्रेरित एक कविता पर बधुवर श्री धर्मवीर जी शास्त्री टिप्पणी कर रहे हैं (देखे बाक्स) तथा अन्य एक पर हम।

'आर्यमित्र' के 11 जून 1989 के अक मे स्वामी आनदबोध जी के एक दुर्घटना मे बाल बाल बच जाने का समाचार प्रकाशित हुआ है। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वामीजी बच गए। हमारी प्रभु से यही प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हो। लेकिन 'आर्यमित्र ने स्वामीजी के बच जाने को एक दैवी चमत्कार' करार दिया है। बहुत खूब! क्या कहने हैं आपके! क्या आपको इतना भी नही मालूम कि यह आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द की मान्यताओ के विपरीत है।

एक साधारण आर्य जन भी यह जानता है कि आर्यसमाज 'दैवी चमत्कारो के पाखड मे विश्वास नही करता। आर्य समाज की स्थापना तो ऋषिवर ने ऐसे पाखडो का समाप्त करने के लिए ही की थी। और विडम्बना देखिए कि उन्ही के नाम का दम भरने वाले ये नामधारी आर्य ही उनकी मान्यताओ के विपरीत आचरण कर रहे है।

'आर्यमित्र' आर्यसमाज का पत्र है। इसके प्रकाशन मे आर्य जनो का धन व्यय होता है। आर्यजनो को इस तरह इसे पौराणिको का हथियार नही बनने देना चाहिए।

पत्र आर्य समाज का और उससे प्रचार-प्रसार पौराणिक हिंदू धर्म का, ये बहुत ही खेदजनक और चितनीय विषय है। इस पर अविलम्ब रोक लगाई जानी चाहिए। अब इस सिद्धात विरोधी कार्य की ओर अनदेखी करना ऋषि के प्रति द्रोह होगा।

आर्य पुनर्गठन' आर्यमित्र को 'छदमवेशी पौराणिको के शिकजे से निकालने का आर्यजनो का आह्वान करता है। ***

'आर्यमित्र' या 'आर्यामित्र'

—धर्मवीर शास्त्री—

आर्य समाज अपने मार्ग से भटकता-सा प्रतीत हो रहा है। स्थिति ऐसी बनती जा रही है कि आर्यसमाजो मे सिद्धात की, महर्षि दयानन्द सम्मत विचार-धारा की बात कहना भी पाप नही तो कठिन अवश्य हो गया है। सिद्धात के स्थान पर समन्वय की प्रवृत्ति पनपती जा रही है। इसका अन्तिम परिणाम स्वय आर्य समाज के लिये घातक होगा इसमे सन्देह नही है।

इस समन्वयवादी प्रवृत्ति के दर्शन 'आर्यमित्र' मे प्राय हो जाते है। श्राद्ध (मृतक का) चर्चा का विषय बन चुका है। अच्छा होता यदि श्राद्ध कर ही लिया था तो खेद की अभिव्यक्ति के साथ श्राद्ध-कर्ता बात को समाप्त करने का प्रयास करते। पर इसके उलट उसके औचित्य को सिद्ध करने के असफल प्रयत्न किये गये।

अब दूसरी घटना चर्चित पत्र के कुम्भ विषयक सम्पादकीय की है। जरा बताए कि गगा पर कोई पौराणिक लिखता तो क्या उसके भाव और शब्दावली भिन्न होते। महर्षि सत्कर्म को पाप के नाश का हेतु कहते है और हमारे आर्य-मित्र (?) गगा को पापनाशिनी कहते हैं। ताप-नाशिनी कहते तो भी बात सध जाती।

मैं चर्चित पत्र की एक तीसरी और ताजी हरकत की ओर आर्य बन्धुओ का ध्यान आकर्षित करना चाहता हू। 21-5-89 का 'आर्यमित्र' का अक देखें। उसमे एक गद्य-पद्य की खिचडी-सी कविता (?) छपी है। शीर्षक है— क्रान्ति पथ पर बढ चलो। हमने पढी और रचयिता का आदेश मान कर आगे बढ गये। आगे देखा तो मिला—'मत पडो विवाद मे साकार-निराकार का यहा विवाद को की से जोडकर स्त्रीलिंग मे डाल दिया है सो तो विवाद ही जाने। हम विवाद के लिंग विषयक विवाद मे नही पडते। हमारी चिन्ता का विषय तो यह है है कि यह दयानन्द का दीवाना दयानन्द के बलिदान को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिये आर्यों को साकार-निराकार के विवाद से बचने की शिक्षा (?) दे रहा है।

वाह रे रचनाकार! और वाह रे सम्पादक!! क्या खूब! पौराणिक भी हमसे जो कहने का साहस न करते वह हमारी ही प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र हमसे कह रहा है। बरेली मे बैठे विश्वश्रवा जी शास्त्रार्थी तैयार करने की प्रेरणा देते हैं और यह उनसे कुछ ही दूर (लखनऊ) का आर्य समाज का पहरूआ आर्यमित्र (?) शास्त्रार्थ-सग्राम से अपना दावा ही वापस ले रहा है।

कुम्भ विषयक सम्पादकीय के विषय मे किन्ही श्री विनय प्रताप ने जो अनय-अविनय का प्रदर्शन कर अपना समय बर्बाद किया है क्या उसका कोई विधायक परिणाम निकल सकता है? दो पन्ने का पत्र

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक रासासिह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

संपादकीय

बातें तो बहुत छोटी, परन्तु सिद्धान्ततः खोटी ?

'आर्य पुनर्गठन' आर्य जगत को सिद्धांतो के प्रति जागरूक सचेष्ट करने के लिए निरन्तर प्रयासरत है। इसी कडी मे हम आर्यजनो के विचारार्थ दो-तीन छोटी-छोटी बातें प्रस्तुत कर रहे हैं जो आर्य सिद्धातो की दृष्टि से तथा महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के सर्वथा विरुद्ध हैं, फिर भी प्रचलित होती जा रही हैं—

1 कई बार विभिन्न महापुरुषो की जयन्तियां, जन्मदिवस, बरसी आदि मनाये जाते है। उस अवसर पर उनका चित्र किसी ऊंचे स्थान पर सम्मान की दृष्टि से रखा जाता है। यहां तक तो ठीक है पर कई समारोहो मे उन चित्रो पर भी माला पहनाई जाती है तथा उसके सामने अगरबत्ती आदि भी जलाई जाती है। ऐसा करना आर्य समाज के सिद्धातो की दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता।

2 बहुधा जब किसी आर्यनेता का निधन होता है तो उनकी दिवगत आत्मा की शान्ति सद्गति की कामना हेतु तथा गृह शुद्धि यज्ञ करने के लिए जो आयोजन होता है वहां भी मेज पर उस सम्मानित आर्यपुरुष का चित्र रखा जाता है और फिर उसके आगे फूल या मालायें आदि भी श्रद्धावश रख दी जाती हैं। क्या यह आर्य सामाजिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है ?

3 जब आर्य जनो की भी शव-यात्रायें आदि निकली हैं तो उस पर भी मुर्गा घृत आदि की दृष्टि से सम्मान और श्रद्धावश मालाएं आदि धारण कराई जाती है। रास्ते मे आर्य सस्थाओ या समाजो की ओर से अथवा आर्यजनो द्वारा शव के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिए मालाएं आदि अर्पित की जाती है श्रद्धासुमन अर्पित किये जाते है। क्या ऐसा करना भी सिद्धातो की दृष्टि से आर्यजनोचित है ?

4 महर्षि दयानन्द की सस्कार विधि के अनुसार तो 'भस्मान्त शरीर' अर्थात शरीर का अन्त भस्म है। अन्त्येष्टि सस्कार के अलावा कोई कार्य शेष नही रहता। पर तीसरे दिन उठावन पर 'शान्ति यज्ञ' या गृहशुद्धि यज्ञ का आयोजन होता है, उसके बाद भी बारहवी या तेरवी नही मानने पर भी शोकपूरित श्रद्धाजलि प्रस्तुत करने के नाम पर पुनः शान्ति यज्ञ आदि का आयोजन कई अवसरो पर किया जाता है तो आर्य सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता।

आर्यसमाज मूर्तिपूजा का घोर विरोधी है। जडपूजा नही करता फिर चित्रो को माला पहनाना शव पर मालाए चढाना आदि क्या जडपूजा की श्रेणी मे नही आ जाते ? अथवा सिद्धान्त व्यवहार और आचार की दृष्टि से क्या करना चाहिए ? इसका हमारी धर्मार्य सभा की ओर से स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए ताकि सब उसका पालन कर सके। सिद्धान्त विरुद्ध शवो की कपाल क्रिया नही करके पूर्ण आहुति के नाम पर कुछ करना भी कहां तक युक्ति सगत है।

आजकल कई आर्य विद्यालयो सस्थाओ मे इधर सरस्वती वदना और स्तुति की जाने लगी है। पौराणिक जगत मे सरस्वती विद्या की देवी मानी जाती है। यदि हमारे यहां भी कला के नाम पर मगलाचरण के रूप मे सरस्वती के चित्र अथवा वदना स्तुति आदि शुरू हो गये तो फिर सिद्धान्त का हनन होने लग जायगा। यज्ञो के अवसर पर अगर तगर धूप नवग्रह कुम कुम अक्षत, राखी कलावा आदि का प्रयोग तिलक आदि लगाना, यजमान और पुरोहित द्वारा तिलक धारण करना आदि के सम्बन्ध मे भी थोडे बहुत अन्तर के साथ सर्वत्र मनमाना आचरण होने लगा है।

जैसे मैने प्रारम्भ मे ही कहा कि ये बाते बहुत छोटी हैं परन्तु धीरे 2 पनपती चली जा रही है जो सिद्धातो की दृष्टि से खोटी हैं, अनुचित है। अतः हम आगे भी आर्य विद्वानो को, धर्मार्य सभा को विचार कर आर्य जगत को स्पष्ट दिशा निर्देश देने चाहिये जिससे आगे जाकर कुसस्कार नही पनपे और सिद्धान्तो की अनुपालना हो सके।

स्वाध्यायशील बनो

पहले बडे से बडे विद्वानो से लेकर सामान्य से सामान्य आर्य जन भी स्वाध्यायशील होते थे। सिद्धान्तो की पूरी जानकारी रखते थे। सिद्धान्तो पर चर्चा करने को तत्पर रहते थे। हर आर्य के घर मे वेद तथा आर्य साहित्य रहता था। समाजो मे भी महर्षि दयानन्दजी ने पदाधिकारियो मे अन्य पदो के साथ-2 पुस्तकाध्यक्ष बनाने की भी बात की थी। आज भी समाजो मे यह पद होता है। समाजो के अपने पुस्तकालय भी होते थे। परन्तु आज सिद्धान्त की पुस्तको को पढने वाले बहुत कम रह गये है। स्वाध्याय की परम्परा लुप्त सी होती चली जा रही है। कोई आर्य साहित्य नही खरीदना चाहता। कोई पढना नही चाहता। आर्य पत्र-पत्रिकाओ के पढने वाले प्रेमी बहुत कम होते जा रहे हैं जो चिन्तनीय एव विचारणीय है। जब हमारे विचार बनेगे सुसस्कारित होगे, परिपक्वता आयगी तभी हमारा कार्य भी तदनुरूप श्रेष्ठ होने लगेगा। अतः स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है। हर आर्य जन को इसे अपनी दिनचर्या का अग बना लेना चाहिये। कहा भी गया है—'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' अर्थात स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। महर्षि ने इसीलिये कहा था कि "वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

—रासासिंह

दयानन्द उवाच

सृष्टि-विद्या-विषय

—डा बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु स्वामी! सृष्टिकर्ता कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ?

दयानन्द सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। जब यह कार्य-सृष्टि उत्पन्न नही हुई थी—तब एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत का मूल कारण अर्थात् बनाने की सामग्री—प्रकृति, वर्तमान थी। उस समय न तो असत् था और न ही सत् था—परमाणु न थे और अपर व्योम भी नही था। न मृत्यु थी—न ही अमृतत्व—उस समय बिना वात के ही तत एकम पद वाच्य परात्पर ब्रह्म स्वसामर्थ्य से प्राणवान था—उससे उत्कृष्ट कोई तत्व नही था। उस ब्रह्म या पुरुष के तपस से सत्त्व-रजस तमस की साम्यावस्था रूप प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न हुआ जिससे महद ब्रह्म या महतत्त्व की उत्पत्ति हुई। महतत्त्व से अहकार-अहकार से पचतन्मात्राए और एकादश-इन्द्रिया—पचतन्मात्राओ से पच-महाभूत और पचमहाभूतो से सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपच की उत्पत्ति हुई। सहिताभाग मे हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे कह कर इसी सिद्धात की पुष्टि की गयी है। श्वेताश्वतरोपनिषद ने 'अजामेका लोहित शुक्ल-कृष्णा' मन्त्र मे सृष्टि के मूल उपादान अर्थात प्रकृति की चर्चा की है और उपादानत्वेन उस सृष्टि का कारण बतलाया है—यह प्रकृति अजा है कभी जन्म नही लेती अर्थात अनादि है और लोहित शुक्लकृष्णा रजस-सत्त्व-तमस है। रूप प्रकृति जड होने से स्वय सृष्टि रूप कार्य करने मे असमर्थ है—जब चेतन पुरुष का सान्निध्य उसे प्राप्त होता है तो वह सर्गोन्मुख होती है। सृष्टि का निमित्त कारण जो परमेश्वर है—उसे ही अग्नि, आदित्य, वायु चन्द्रमा शुक्र, ब्रह्म आप, प्रजापति सुपर्ण, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु, हिरण्यगर्भ, प्राण स्कम्भ आदि नामो से जाना जाता है। सहस्रशीर्षाक्षपाद पुरुष भी वही है—भूत, भविष्यत, वर्तमान स्थावर जगमात्मक विश्व उसी की सामर्थ्य से प्रकट होता है। जगत कार्यकर्ता और अधिष्ठाता वही है—वही सारे जगत का स्वामी है। उसी की सामर्थ्य से, ग्राम्य, आरण्य और वायव्य पशुओ का जन्म होता है—मनुष्यो के चारो वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उसी से जन्म लेते हैं। उसके मन से चन्द्रमा चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु-प्राण, और मुख से अग्नि की उत्पत्ति हुई है। उसकी नाभि से अन्तरिक्ष, शीर्ष से द्युलोक पद से भूमि और श्रोत्र से दिशाए उत्पन्न हुई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर की महिमा ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत है किंतु वह इतना ही नही है सम्पूर्ण जगत तो उसका एकपाद मात्र है—उसके तीन पाद तो अमृत हैं—ऊर्ध्वलोको मे है, क्योकि परमेश्वर या ब्रह्म चतुष्पाद् है। इसी तथ्य को पुरुष सूक्त मे 'त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुष पादोऽस्येहाऽभवत पुन" के द्वारा उदघाटित किया गया है।

स्वर्गीय श्री रामनारायण जी चौधरी : कुछ संस्मरण

जैसा मैंने सात अप्रैल को स्वर्गीय रामनारायण जी चौधरी के निधन के तीसरे दिन आयोजित शांति यज्ञ के अवसर पर अपने संक्षिप्त शोक संवेदना संदेश में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि चौधरी जी के निधन के साथ अजमेर ही नहीं राजस्थान में एक प्रकार से गांधीवादी युग समाप्त हो गया है। चौधरी जी स्वयं अपने आपको निष्ठावान गांधीवादी व सार्वजनिक कार्यकर्त्ता कहते थे और अंतिम क्षणों तक यहां प्रदेश में लोग सर्वत्र उन्हें इसी रूप में जानते और पहचानते थे।

वे लगभग 94 वर्ष के थे। इस प्रकार मुझसे आयु में लगभग 14 वर्ष बड़े होने पर भी उनके साथ मेरा एक निकटतम मित्र जैसा संबंध था। मुझे इसलिए अंतिम वसीयत को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व देकर उन्होंने 'मेरे परम स्नेही व दुःख सुख के साथी' कहा है। अपनी वसीयत में उन्होंने अन्य बातों के अतिरिक्त अपनी यह हार्दिक भावना भी व्यक्त की कि उनके शोक में कोई सभा या जुलूस आयोजित न किया जाय। किंतु अन्य अनेक मित्रों व प्रशंसकों की राय है कि उन्होंने इस प्रकार के आदेश द्वारा जहां अपने गांधीवादी आदर्श का परिचय दिया है वहां उन जैसे देशभक्त स्वतंत्रता सेनानी और गांधीवादी विचारक एवं कर्मठ कार्यकर्ता के प्रति उनके प्रशंसकों व देशवासियों का भी जो कर्त्तव्य है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेरा परिचय

अपने विद्यार्थीकाल में ही मेरा वर्धा से आए श्री जी० आर० पांडे जैसे क्रांतिकारी और बाद में यहां ग्राम सेवा संघ के तत्वावधान में कार्य करने वाले स्व० श्री विजयसिंह पथिक तथा श्री रामनारायण चौधरी जैसे प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क रहा है। स्व० श्री अर्जुनलाल जी सेठी उस समय लोकमान्य तिलक के विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने कुछ तीन चार सहपाठियों के साथ मैं उनके यहां अंग्रेजी पढ़ने जाया करता था किंतु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि सेठी जी का उद्देश्य केवल अंग्रेजी ट्यूशन करना ही नहीं था बल्कि हम जैसे नवयुवकों को अपने विचारों से दीक्षित करना था। स्वर्गीय श्री अर्जुनलाल जी सेठी के संबंध में किसी अन्य अवसर पर मैं अपने संस्मरण व्यक्त करूंगा।

स्वर्गीय श्री चौधरी जी से इस बात का इतना ही संबंध है कि बाद में यहां जब गांधीवादी कार्यकर्त्ताओं का पदार्पण हुआ उस समय मुझे उनके यहां अधिक सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। इन लगभग 60 वर्षों में घटी अनेक छोटी मोटी घटनाओं का स्मरण और विवरण यहां संभव नहीं है। इसलिए मैं केवल उन्हीं अनुभवों का जिक्र करूंगा जिनका स्वर्गीय श्री चौधरी जी से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध रहा है।

लेखन और सम्पादन

चौधरी जी एक कुशल और प्रभावशाली सम्पादक थे। हिंदी अंग्रेजी दोनों के सिद्धहस्त लेखक थे।

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

जिस समय की घटना मुझे आज स्मरण आती है उस समय संभवतः वे तरुण राजस्थान निकालते थे। कुछ समय बाद उन्होंने वर्तमान दैनिक नवज्योति का प्रकाशन आरम्भ किया। इनमें कुछ लेखों को तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने आपत्तिजनक घोषित कर उनसे जमानत की रकम मांगी। इस कार्य में डूंगरपुर के महारावल श्री लक्ष्मणसिंहजी जी व स्व० पंडित जियालाल जी द्वारा उन्हें उपलब्ध कराई गई राशियों का चौधरी जी स्वयं जिक्र करते थे।

एक बार उन्होंने यहां के प्रसिद्ध नवयुवक रम्भापति सर भागचंद सोनी से ये राशि उपलब्ध कराने के लिए प्रेरित करने का कार्य मुझे सौंपा। मुझे इस पर आश्चर्य हुआ। ये सही है कि स्व० भागचंद जी का स्व० पण्डित जियालाल जी से घनिष्ठ संबंध था। किंतु मेरा उनसे कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं था। और न ही इस प्रकार का कार्य मेरी रुचि के अनुकूल था। फिर भी चौधरी जी के आग्रह पर मैंने जब यह संदेश उनके सामने रखा तो उन्होंने स्व० जियालाल जी के मार्फत सहयोग देना स्वीकार कर लिया।

जैसा सर्वविदित है कि देश की सामाजिक-धार्मिक ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय जागृति में भी आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राजस्थान में स्वामी जी के विचारों का उनके जीवनकाल में पर्याप्त प्रभाव था। महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन में भी अनेक नवयुवक ऐसे थे जो आर्य समाज के इन्हीं विचारों से प्रेरणा लेकर आये थे। स्व० चौधरी जी भी उन्हीं में से एक थे। एक पुरातन पंथी वैश्य परिवार में उत्पन्न होने पर भी उनके धार्मिक और सामाजिक जीवन में आर्य समाज के सुधारवादी आंदोलन का बड़ा प्रभाव था। जिसकी वे अक्सर चर्चा किया करते थे। उनके द्वारा सम्पादित पत्रों में शायद वे इसलिये मुझे कुछ लिखने की प्रेरणा दिया करते थे। और इस प्रकार मेरा उनका व्यक्तिगत सम्पर्क प्रारंभ होकर घनिष्ठ होता गया।

कांग्रेस का गठन

सन् 1920 तक अजमेर का सार्वजनिक जीवन मुख्यतः आर्य समाज और उसके कार्यकर्ताओं पर ही केन्द्रित था। श्री अर्जुनलाल सेठी ने बाद में लोकमान्य तिलक की विचारधारा के आधार पर यहां एक सीमित राजनैतिक प्रवृत्ति का प्रारम्भ किया। देशी राज्यों की समस्याओं से संबंधित कुछ अन्य कार्यकर्ताओं ने देशी राज्य प्रजा परिषद के द्वारा अजमेर को ही अपना केन्द्र बनाया था। कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में आने पर उनके अनुयायी कुछ प्रमुख कार्यकर्ता बाहर से यहां आये या भेजे गये ताकि वे यहां तथा राजस्थान में कांग्रेस के राजनैतिक और गांधीवादी रचनात्मक कार्य को संगठित करें।

इन कार्यकर्ताओं को श्री जमनालाल बजाज अथवा बिड़ला जी से आर्थिक सहयोग भी मिलता था। इन्हीं दिनों खिलाफत आन्दोलन के कारण स्थानीय मुसलमानों के नेता मिर्जा अब्दुल कादिर बेग प्यारे मियां आदि कांग्रेस के साथ थे। अर्जुनलाल सेठी अपनी विचारधारा तथा स्थानीय नेतृत्व के कारण एक प्रकार से यहां के राजनैतिक प्रतिनिधि थे। इसलिये नवीन आये हुए गांधीवादी कार्यकर्ताओं से उनका यहां की राजनैतिक सत्ता व नेतृत्व के लिये संघर्ष होना स्वाभाविक था। इसमें इन गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने पं० जियालाल जी से सहायता व सहयोग मांगा। दूसरी ओर अर्जुनलाल जी को स्थानीय मुसलमानों का समर्थन था। यह भी एक कारण था कि जिससे प्रभावित होकर पंडित जी ने श्री हरिभाऊ उपाध्याय आदि को इस संघर्ष में सहायता दी क्योंकि पं० जियालाल जी खिलाफत आंदोलन के प्रभाव को मुस्लिम साम्प्रदायिकता का प्रतीक समझते थे। अस्तु, परिणाम यह हुआ कि स्थानीय कांग्रेस पर अधिकार के इस संघर्ष में सारा नेतृत्व और संगठन पं० जियालालजी ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। उनके द्वारा सबसे अधिक सदस्य बनाये गए और उस समय के नियमानुसार सबके लिए खद्दर के कपड़े बने। चुनाव के पूर्व अधिकांश मतदाता आर्य समाज भवन से खद्दर के कपड़े पहन कर गए और इस प्रकार भारी बहुमत से पंडित जी द्वारा समर्थित दल की विजय हुई। दूसरे शब्दों में यह कहना अनुचित न होगा कि स्थानीय कांग्रेस किसके हाथ में हो इसका निर्णय पंडित जी के प्रभाव तथा सहायता से हुआ। यद्यपि वे स्वयं न कांग्रेस के सदस्य थे और न ही उसमें कोई पद या अधिकार के लिये उम्मीदवार ही थे। इसके बाद कई वर्षों तक पंडित जी कांग्रेस में एक प्रकार से किंगमेकर बने रहे और जब इन नवीन सत्ताधारी कार्यकर्ताओं में भी आपस में झगड़े व संघर्ष होने लगे तो उनकी मध्यस्थता का कार्य भी अक्सर पंडित जी को करना पड़ता था। उदाहरण के लिए सन् 1938 में राज के तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय श्री नरसिंह दास जी (बाबाजी) श्री रामनारायण जी चौधरी आदि में कांग्रेस के संगठन व पदाधिकारों के मामलों में गंभीर मतभेद उत्पन्न हो गए मामला महात्मा गांधी तक पहुंचा और उन्होंने सलाह दी कि दोनों पक्षों में से एक कांग्रेस से अलग होकर दूसरे पक्ष को सत्ता सौंप दे। गांधी जी ने आदेश दिया कि श्री हरिभाऊ जी व उनके साथी रचनात्मक कार्य करें।

क्रमशः

पत्र और विचार

आचार्य दत्तात्रेय जी के नाम आचार्य विशुद्धानन्द जी का पत्र

आदरणीय महोदय,

सादर नमस्ते !

मै चिरकाल से आपको क्रांतिकारी प्रयासो और आर्य समाज मे सक्रिय भूमिका के सजग प्रणेता के रूप मे देख रहा हू। सार्वदेशिक सभा मे आपने नये-नये क्राति जनक प्रस्ताव और सुझावो के माध्यम से आर्य जगत को प्रशस्त मार्ग दर्शन का सराहनीय कार्य किया है।

कुछ दिनों पूर्व अवगत हुआ कि संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत आर्य समाज को विशेष अधिकार दिलाने की दिशा मे आपने आर्य संस्थाओ के समुदाय के संरक्षण करने के लिये न्यायालय में एक वाद प्रस्तुत किया है। उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा ने कभी इस दिशा मे प्रयास कुछ किया था अत मे वह निराश हो बैठ गई या यह भी सुनने मे आया है कि उच्चतम न्यायालय मे एतद विषयक कोई विवाद निलम्बित है यदि हो भी तो निष्क्रिय और निष्फल है।

प्रसन्नता का समाचार मिला है कि आपने शैक्षिक विकास के लिये शासन से एक करोड रुपया भी प्राप्त कर लिया है। आपकी चतुर्मुखी प्रगति और अथक प्रयासों पर किसी को स्पर्द्धा हो तो गर्व का विषय होगा, परन्तु अभी तक आपकी पहुँच लेखनी तथा सामाजिक कार्यक्षेत्र मे अछूती बनी हुई है। इस आयु मे एक ओर लेखनी प्रसूत कई दर्शन-ग्रन्थ व लेख सम्पादन दूसरी ओर समाजोद्धार के लिये प्रयत्नशील रहने की मैं मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करूंगा।

—आचार्य विशुद्धानन्द शास्त्री
वेदार्थ कल्पद्रुम प्रणेता,
बदायू (उ प्र)

प्रतिक्रिया आवश्यक थी

'आर्य पुनर्गठन' नियमित रूप से मिल रहा है। आपकी दिशा एकदम समयोचित है। आपके इस पाक्षिक के लिए हार्दिक शुभकामनाएं। 'आर्य मित्र' के लेख पर आपके पत्र की प्रतिक्रिया आवश्यक थी। 30 मई का आपका सम्पादकीय स्तुत्य है।

पुनश्च बधाई।

—सदाशिव आर्य,
प्राचार्य मास्टर दीनानाथ मंगेशकर महाविद्यालय,
शहाजानी (महाराष्ट्र)

महारावल के निधन पर शोक व्यक्त

वरिष्ठ शिक्षाविद एवं अजमेर की आर्य शिक्षण संस्थाओं के संचालक आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने डूंगरपुर के पूर्व महाराजा महारावल लक्ष्मणसिंह के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया है।

स्व महारावल के   के नाम भेजे अपने शोक संदेश मे आचार्य दत्तात्रेय ने लिखा है कि महारावल जी ने राजनैतिक एवं सार्वजनिक जीवन मे जिन सैद्धांतिक आदर्शों को प्रतिपादित किया उसका वर्तमान मे दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है।

उल्लेखनीय है कि स्व महारावल लक्ष्मणसिंह दयानन्द कालेज, अजमेर के प्रमुख संस्थापकों मे से एक थे। और वे जीवन पर्यन्त अजमेर की आर्य संस्थाओ से जुड़े रहे। उनके शोक मे आर्य समाज शिक्षा सभा की समस्त शिक्षण संस्थाएं को एक दिन के लिए बन्द कर दिया गया।

'आर्यमित्र' या 'आर्यामित्र'

(शेष पृष्ठ 1 का)

और दस पन्ने का पत्र, सार्वदेशिक से भी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की पुरातनता और आर्यमित्र का सबसे प्रथम आर्य साप्ताहिक होना आदि बातें क्या किसी को आर्य सिद्धान्तो को उलटने का अधिकार दे सकते हैं। आग्रहात् पृष्ट कदाराताचष्ट को परित्याग न करके आर्य पुरुषो की भ्रांति त्रुटियो के लिये खेद व्यक्त करना और आगे के लिए सतर्क रहना ही एकमात्र उपाय है इसके निपटारे का। दूसरो से ढेले फेंकवाना शालीनता नहीं है। समन्वय की इच्छा है तो बड़ी अच्छी बात है। समन्वय का सत्य मे सबके एकीकरण का ही तो सत्प्रयत्न है। हिन्दुओं की अस्मिता की रक्षा विचारो की एकता से होगी और इसके लिये स्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही ठीक है। आंखों और पैरो का समन्वय इसी में है कि आंख देखें और पैर चलें। समन्वय और एकता का अर्थ यह तो नहीं है कि आंखें बन्द कर पैरो को चलने दिया जाय। फिर तो पतन अपरिहार्य है।

बन्धुओ, आर्यसमाज हिन्दू ही नहीं विश्वसमाज की आंख है उसमें दयानन्दी सुरमा डालते रहो। कल्याण इसी मे है, अपनी पहचान खोने मे नहीं।

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु 1 00
3, विद्यार्थियो के लिए आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं-मूल्य—50 रु
6. आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मूवमेंट (सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—5 00 रु

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1 दयानन्द कथा संग्रह मूल्य रु —3 00
2 महर्षि दयानन्द पत्रो के दर्पण मे   मूल्य रु —50 00

अन्य प्रकाशन

1 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
2 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00
3 आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00 ले लाला लाजपतराय

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट)

1-ईश्वर एक नाम अनेक	9-स्वर्ग और नरक कहा है?
2-आदर्श माता-पिता	10-चौके चूल्हे मे धर्म नहीं
3-शिक्षा और चरित्र निर्माण	11-हिन्दू धर्म की निर्बलता
4-गृहस्थाश्रम का महत्व	12 बौद्ध और जैनमत
5-सन्यासी कौन और कैसा हो ?	13-वेद और ईसाई मत
6-राज्य व्यवस्था	14-इस्लाम और वैदिक धर्म
7-ईश्वर और वेद	15-सत्य का अर्थ तथा प्रकाश
8-जगत की उत्पत्ति	

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित हैं एवं ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

आर्यसमाज शिक्षा सभा, अजमेर

आवश्यकता

जियालाल शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान अजमेर हेतु अंग्रेजी संस्कृत तथा वाणिज्य विषयों मे एम ए/एम काम एम एड व्याख्याताओ की आवश्यकता है। आवेदन मंत्री के नाम दस रुपये के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र प्रस्तुत करें।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर मे मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 शुक्रवार 30 जून, 1989
अंक 17 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

आषाढ कृष्ण 12 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज अजमेर का पुनर्गठन की दिशा में क्रांतिकारी कदम

समाज की सदस्यता के लिए सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित प्रण के कार्यान्वयन का निर्णय

आर्य समाज की वर्तमान शिथिलता का एक प्रमुख कारण उसके पदाधिकारियो एव सदस्यो की ऋषि दयानन्द के मन्तव्यो व आर्य समाज के सिद्धान्तो के प्रति निष्ठा की कमी होना रहा है। इसी के परिणाम स्वरूप समाजो मे पौराणिक मान्यताओ के पक्षधर लोगो का वर्चस्व भी स्थापित हो गया है। इस स्थिति से निपटने के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने आर्य समाजो के सभी पदाधिकारियो व आर्य सभासदो के लिए एक मान्यता विषयक प्रण लेने का निर्देश दिया है।

उपर्युक्त सदर्भ मे ही आर्य समाज अजमेर के सभी सभासद एव पदाधिकारी समाज के प्रवेश पत्रो मे आर्य सभासदो के लिए जोडे गए प्रण की शपथ लेगे। इस आशय का निर्णय आर्य समाज अजमेर की 18 जून, 1989 की अन्तरग सभा मे सर्वसम्मति से लिया गया।

अजमेर आर्य समाज सार्वदेशिक सभा के उक्त सदस्यता विषयक प्रण' लेने के निर्णय को लागू करने वाली देश की सबसे पहली समाज है। उल्लेखनीय है कि सार्वदेशिक सभा को उक्त प्रण के सम्बन्ध मे जिस उपसमिति ने सुझाव दिया था, आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य उसके सयोजक थे। इसलिए इस समाज की अन्तरग सभा ने इस निर्णय को सर्व प्रथम अपने यहा ही लागू करने की पहल की है।

समाज के प्रवेश सम्बन्धी आवेदन पत्र मे इस प्रण' को सम्मिलित करने के लिए आर्य समाज, अजमेर ने नवीन प्रवेश-पत्रो को प्रकाशित कराया है। देश की अन्य आर्य समाजो की जानकारी एव सुविधा के लिए प्रवेश-पत्र का एक नमूना 'आर्य पुनर्गठन' के इसी अक मे प्रकाशित किया जा रहा है।

सरकार आतंकवादियों से सख्ती से निपटे—दत्तात्रेय

अजमेर। आर्य समाज, अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रय आर्य ने केन्द्र एव पजाब सरकार से आतकवादियो से सख्ती से निपटने की अपील की है।

रविवार को पजाब के मोगा शहर मे आतकवादियो द्वारा आर एस एस के 26 स्वयसेवको की जघन्य हत्या पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आचार्य दत्तात्रेय ने कहा है कि यह बहुत ही कायराना व अधर्मिक कृत्य है। कोई भी धर्म निर्दोष व्यक्ति की हत्या की इजाजत नही देता है।

सोमवार दिनाक 26-6-89 को प्रेस के नाम जारी किये अपने वक्तव्य मे आर्य नेता ने केन्द्र एव पजाब की सरकार से अपील की है कि आतकवादियो से पूरी सख्ती से निपटे और उन्हे खुलकर हत्याओ का ताडव नृत्य करने की छूट न दे। उन्होने सरकार को चेतावनी दी कि यदि पजाब मे आतकवादियो को और ढील दी गई तो वहा के लोगो मे आपसी सौहार्द की भावना पूरी तरह समाप्त हो जायेगी जिससे देश के टुकडे-टुकडे हो जायेंगे।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने पजाब के सिखो सहित सभी वर्गों से आपसी भाईचारे की भावना को कायम रखने की अपील करते हुए कहा कि हिन्दू और सिख के नाम पर व न बहकें और अपने प्राचीन इतिहास को याद करें जिसके अनुसार हमारे देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त्त था और उसके सभी निवासी एक आर्य नाम से पुकारे जाते थे। श्री आर्य ने हिन्दूओ व सिक्खो को अपने प्राचीन मान्य धर्म ग्रन्थ वेद को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा पर चलने का आह्वान किया।

श्री आर्य ने मोगा हत्याकाड मे मारे गये सभी लोगो के परिवारो के प्रति अपनी हार्दिक शोक सवेदना व्यक्त की है।

जातीयता का ज्वर

गत कुछ दिनो से राजस्थान मे जातीय सम्मेलनो की बाढ आई हुई है। ब्राह्मण सम्मेलन, राजपूत सम्मेलन, गौड गुर्जर सम्मेलन आदि सम्मेलनो का आयोजन बडे जोर-शोर से हो चुका है और कई आगामी दिनो मे होने जा रहे हैं।

देश के सभी सुधारको ने जातीयता मानवता पर कलक एव राष्ट्र की प्रगति मे बाधक बताया है। प्राय देश के प्रमुख नेता भी जातीयता की भावना को एक सामाजिक बुराई के साथ-साथ लोकतन्त्र विरोधी भी मानते है। लेकिन वास्तविकता यह है कि जातीयता की विष बेल को पालने पोसने का काम भी ये राजनेता ही करते हैं।

चुनावो मे उम्मीदवार के नाम का चयन केवल जाति के आधार पर होता है। जाट बहुल क्षेत्र से जाट को टिकिट मिलेगा तो कायस्थ बहुल क्षेत्र से कायस्थ को। उम्मीदवार का चयन का मापदण्ड योग्यता से कही अधिक जाति को माना जाता है।

अब क्योकि आम चुनाव निकट आ रहे हैं तो स्वजातीय नेता के रूप मे उभर कर अपने-अपने टिकिट पक्के कराने की गहमा-गहमी बढ गई है। इसी के चलते जातीय सम्मेलनो के आयोजन का ताता लगा हुआ है। राजस्थान मे ही नही देश के हर प्रदेश मे यही स्थिति है।

जातीय सम्मेलनो मे कैसे भाषण होते हैं? इन भाषणो मे जाति पर सकट बताया जाता है। देश के लिए स्वजाति की कुर्बानियो का बखान किया जाता है और फिर स्वजाति के किन्ही स्वर्गीय दिग्गजो के नाम पर कोई स्मारक बनाने या उन पर टिकिट जारी करने की सरकार से माग के साथ सम्मेलन का समापन होता है।

अब इनसे यह कौन कहे कि यह जातीयता प्रगतिशील समाज के निर्माण मे बाधक है। जातीयता की सकीर्ण मानसिकता के चलते देश मे कभी एकता एव आपसी सौहार्द का वातावरण पैदा नही हो सकता है। हिन्दू-मुस्लिमो की एकता का राग अलापने वाले नेताओ और तथाकथित बुद्धिजीवियो को पहले एक ही समुदाय के लोगो मे जो आपसी भेदभाव को खत्म करना चाहिए। बाकि दहाई पर पहुचने से पहले इकाई को देखें। —वीरेन्द्र आर्य

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक रासासिंह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

क्या पुनः वेदो को शंखासुर ले जायेगा ?

वेदोद्धारक जगद्गुरु महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन मे एक महत्वपूर्ण घटना आती है कि जब स्वामी जी अपने सिद्धान्तो तथा वेदविद्या का प्रचार-प्रसार करते हुए शाहजहापुर मे आकर धर्मपिपासुओ की प्यास बुझाने लगे। एक दिन लक्ष्मण शास्त्री स्वामी जी के निकट आकर शास्त्रार्थ करने लगे। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति पूजन था। स्वामी जी ने शास्त्री जी को कहा कि अपने पक्ष के पोषण मे आप कोई वेद का प्रमाण उपस्थित कीजिये। शास्त्री महाशय ने कहा कि प्रमाण कहा से दू ? वेद तो शखासुर ने हरण कर लिये हैं। स्वामी जी ने तत्काल वेद हाथ मे उठाकर कहा—'पण्डित जी आपके आलस्य और प्रमाद-रूप शखासुर का वध करके ये वेद मैंने जमनी से मगाये हैं। लीजिये इनमे से खोजकर कोई प्रमाण निकालिये।" उस समय सारी सभा हास्यरस में लोट पोट हो गई और पडित जी ने मौन साधना ही उचित समझा।

महर्षि दयानन्द की यह उक्ति कितनी सटीक थी कि पडितो ने, विद्वानो ने, आचार्यों ने आलस्य और प्रमाद के अधीन होकर वेदों का स्वाध्याय छोड दिया, वेदाध्ययन का त्याग कर दिया, वेद पोथी के रूप में कपडो मे लपेटकर मदिरो के भण्डार गृहो मे रख दिये गये जिन्हें दीमक चाट गई, परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे वेदपाठियो, वेदज्ञो की सख्या कम होती चली गई। विदेशियो ने भी अपने विकराल आक्रमणो के समय यहा के बडे-बडे विश्वविद्यालयो के पुस्तक मन्दिरो को अग्नि की भेट चढा दिया। अतन्तोगत्वा एक समय ऐसा आया कि वेद दुर्लभ ग्रन्थ हो गये। वेदो की मूल प्रतिया मिलनी बन्द हो गई। महर्षि दयानन्द सरस्वती को वेदो की प्रामाणिक प्रतिया जमनी से मगवानी पडी। वेदो के मनमाने अर्थ भी इसी कारण से हुए।

युगपुरुष महर्षि दयानन्द ने पुन वेदो का उद्धार किया। वेद विद्या का प्रचार प्रसार किया, वेदाध्ययन पर जोर दिया तथा स्वय महर्षि ने वेदो का सस्कृत तथा आर्य भाषा हिन्दी मे भाष्य किया। यद्यपि वे इस कार्य को पूर्ण नही कर पाये। बाद मे आर्य विद्वानो ने उसी शैली पर वेदो का भाष्य किया।

महर्षि ने स्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादित किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, वेद परमात्मा की पवित्र वाणी है। उन्होंने आर्य समाज के तीसरे नियम मे समग्र मानवता के कल्याण हेतु यह उद्घोष किया कि "वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है। 'वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

परन्तु आज हमे अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड रहा है कि ऋषि के अनुयाइयो मे वेद पठन और स्वाध्याय की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन घटती चली जा रही है। वेद पुस्तकालय की आलमारियों मे बन्द रहते हैं। उन पर धूल जमती रहती है। उन्हे कोई पढने वाला नहीं मिलता। वेद खरीद कर पढने वाले भी बहुत कम रह गये हैं। सस्ता साहित्य पढने वाले, समाचार पत्रो की गर्मागर्म खबरो मे रस लेने वाले अथवा अर्थ वृत्ति एव वणिक मनोवृत्ति को प्रमुखता देने वाले एव टी. वी के आगे जमे रहने वाले लोगो से कैसी आशा की जा सकती है कि वेद पठन के परमधर्म का निर्वाह करेगे। चारो ओर हताशा उदासीनता एव निराशा का वातावरण है। आर्यसमाज के पदाधिकारियो को अपने झगडो और सस्थाओ से फुरसत नही, पुरोहित-पण्डितो को सस्कार कराने से फुरसत नहीं। आर्य विद्वानो को अपनी पाठ्य पुस्तकें पढाने पढने से फुरसत नहीं। फिर वेदो का अध्ययन कौन करेगा ? वेदो का कल्याण कैसे होगा ? जब अध्ययन अध्यापन ही सुचारु रूप से नही होगा तो वेदानुकूलजीवन तो मृगमरिचिका ही रहेगा।

अत हम सब महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम लेने वाले और आर्यसमाज के अनुयायी यह प्रण करें कि वेद ज्ञान को पुनः आलस्य और प्रमादरूपी शखासुर को अपहरण नही करने देंगे। स्वाध्यायशील बनेंगे। हम पढेंगे और दूसरो को भी पढायेगे। तभी कहना सार्थक होगा—

"वेद की ज्योति जलती रहे, ओ३म् का झण्डा ऊचा रहे।"

—रासासिंह

निर्दोषो का खून कब तक और बहेगा ?

पजाब की धरती रक्त रजित हो चुकी है। मानवता कराह उठी है, पर फिर भी पैशाचिकता अहसास करने से बाज नहीं आ रही है। कब तक मा भारती के अधखिले फूल और मासूम कलिया रौदे और मसले जायेंगे तथा गाजर मूली की तरह काटे जायेंगे एव ए के. 47 की गोलियो से भूने जाते रहेंगे ? इन वीभत्स तथा जघन्य हत्याकाडो से कौन से धर्म और वाहे गुरु का आशीष मिलेगा ?

मदहोश आतकवादियो अब तो होश मे आओ! अपने ही हिंदू सिख भाइयो को क्यो अकाल मौत के मुह मे ढकेल रहे हो ? क्या पाच वर्षों से निरतर खून बहाने और बडे बडे बलिदानो का होम लेने के बाद भी तुम्हारी खून की प्यास नही बुझी ? तुम्हारे ये जघन्य हत्याकाण्ड के कुकृत्य इनसानियत के नाम पर कलक है। लानत है! तुम इतने अज्ञानी हो कि अपने ही हाथो अपना नाश कर रहे हो।

हम भारत सरकार तथा पजाब के गवनरी शासन से यह अनुरोध करना चाहते हैं कि तुम्हारी पोल खुल चुकी है, यदि तुम्हारे बस मे शासन करना नही है तो त्याग पत्र देकर अलग हो जाओ। तुमने तुम्हारी तथा तुम्हारी सन्तानो की रक्षा के लिये तो कमाण्डो, ब्लैक कैट, गनमेन, बोडी गार्ड और पता नही क्या-क्या लगा दिये परन्तु पजाब के निर्दोष हिंदू सिक्खो का कत्ले आम क्यों नही रोक सकते ? आने वाला इतिहास तुम्हे इस अपराध के लिये, कभी क्षमा नही करेगा।

हम पजाब के हिंदू सिक्खो से भी अनुरोध करना चाहते हैं कि अपनी रक्षा के लिये स्वय सगठित होकर कटिबद्ध हो जाओ, इस निकम्मी सरकार के भरोसे मत रहो। शक्तिशाली बनो, वीर बनो, जुझारू बनो।

दुनिया मन दी जोगा नू लखा लानत है कमजोरा नू।

देशद्रोही आतकवादियो से इन्हीं की भाषा मे बात करनी होगी।

हम कायर बबर एव देशद्रोही आतकवादियो द्वारा 25/6/89 ई को प्रात काल मोगा (पजाब) में राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के 27 स्वय सेवकों की गई हत्याकाड की भर्त्सना करते हैं। इनका बलिदान रग लायेगा।

—रासासिंह

'जीवेम् शरदः शतं'

आर्यसमाज अजमेर के प्रधान, आर्यसमाज शिक्षा सभा के वरिष्ठ उप प्रधान तथा दयानन्द कॉलेज के सस्थापक एव उन्नायक प्राचार्य एव 'अजमेर के मालवीय" कहे जाने वाले आर्य नेता दत्तात्रेय आर्य विगत 19 जून, 1989 ई को अपने जीवन के अस्सी वर्ष पार कर चुके हैं। उनका जन्म 19 जून, 1909 को महाराष्ट्र में हुआ था। हम परमात्मा से वेदानुसार उनके शतायु होने की कामना करते हैं।

इस आयु तक पहुचते-पहुचते व्यक्ति ढल जाता है, शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से अक्षम होने लगता है परन्तु शिक्षाविद् एव अपने स्वास्थ्य के बारे मे सदैव जागरूक एव सचेष्ट रहन वाले अजमेर के इस आर्य पुरुष पर यह उक्ति चरितार्थ नही होती। उनका ओज, उत्साह और सक्रियता एव कर्मठता और भी तपकर निखर रहे हैं। वे वक्ता, व्यवस्था एव लेखनी तीनो के धनी हैं। सौभाग्यशाली हैं। आज भी नियमित आप यजमे

(शेष पृष्ठ 3 पर)

स्वर्गीय श्री रामनारायण जी चौधरी : कुछ संस्मरण

(गतांक से आगे)

ता 14-12-38 को श्री हरिभाऊ जी ने मेरे नाम अपने पत्र मे यह सूचित किया कि महात्मा जी के आदेशानुसार वे और उनके साथी कांग्रेस से अलग हो रहे हैं और आशा व्यक्त की कि "मेरे और मेरे साथियो के कांग्रेस से हट जाने पर अजमेर मे शांति स्थापित हो जावेगी।" इस पत्र के साथ उन्होने वर्धा मे महात्मा जी के साथ हुई बातचीत का साराश भी लिख भेजा जिसमे गाधीजी ने यह आशका प्रकट की थी कि विरोधी पक्षो से मिलकर काम करने के सुझाव मे सबसे अधिक बढने की आशका है क्योकि अन्यत्र भी गाधी जी मिश्रित कमेटिया बनाने के प्रयोग मे सफल नहीं हुए।

कांग्रेस के झगड़े

दुर्भाग्य से अजमेर कांग्रेस की दलबदी फिर भी दूर न हो सकी। जो लोग महात्मा जी के आदेश के बाद कांग्रेस मे रहे उनमे भी पद व अधिकारो के बटवारे पर झगडे प्रारम्भ हो गए। अत सबने मिलकर पडित जियालाल जी को पच नियुक्त किया, वे जो निर्णय दे वह सबको मान्य होगा। श्री गौरीशकर

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

भार्गव के जो लेटर पेपर के पीछे स्पष्ट है, उन्ही के मकान पर पडितजी ने जो निर्णय दिया उसका विवरण लिखा गया है उसके ऊपर यह शब्द हैं।

स्व. प. जियालाल जी कांग्रेस संगठन के निर्वाचक

अर्थात "पार्टी के प्रमुख निर्णायक पच पडित जियालाल"। इस निर्णय के विवरण पत्र पर जियालाल जी के अतिरिक्त जयनारायण जी व्यास, रामनारायण जी चौधरी, बाबा नरसिंह दास जी, गौरीशकर जी भार्गव आदि के भी हस्ताक्षर हैं। इस पच फैसले में जिला कांग्रेस (डी सी सी) तथा प्रातीय कांग्रेस (पी सी सी) के पदाधिकारियो तथा कार्यकारिणी के सदस्यो के तथा ए आई सी सी के प्रतिनिधि चुनने और म्यूनिसिपल कमेटी के लिए उम्मीदवार चुनने के लिये बोर्ड के सदस्यो के नाम हैं जिसके अनुसार पी सी सी के प्रधान जयनारायण जी व्यास तथा मत्री रामनारायण जी चौधरी, डी सी सी की प्रधान गोमती देवी जी व उपप्रधान प्यारे मिया, ए आई सी सी के प्रतिनिधियो मे कृष्ण गोपाल जी गर्ग, स्वामी कुमारानद जी, अजमेर के डेलीगेट्स मे बाबा जी, चन्द्रगुप्त जी, ब्रीतमल जी के नाम भी हैं। कार्यकारिणी के सदस्यो मे श्री बालकृष्ण कौल का भी नाम था किन्तु उनका नाम इस कारण हटा दिया गया कि वे पडित जियालाल जी की स्वीकृति लेकर नही आये। जैसा बाबा जी ने तारीख 29-1-39 के जियालाल जी को लिखे पत्र से स्पष्ट है। इस प्रकार सर्वसम्मत सूची बन जाने के बाद फिर झगडा प्रारम्भ हो गया। बाबाजी ने अपने ता 30-1-39 के दूसरे पत्र मे बाबूजी (जियालाल जी) को लिखा कि वे यहा की राजनीति से तग आ गए हैं और इस्तीफा देते हैं।

उधर श्रीमती गोमती देवी जी की तरफ से श्री रमेश चन्द्र जी भार्गव ने अपने 30-1-39 के पत्र मे चौधरी जी पर झगडे की जिम्मेवारी बताई और लिखा है कि कि सूची मे लिखे कुछ लोगो पर प्रतिबध है। अत उन्हे कोई पद देना अवैधानिक होगा।

नगर परिषद के चुनाव

सन् 39 मे अजमेर म्युनिसिपल कमेटी के पहले सार्वजनिक चुनाव हुए और सभवत प्रथम बार कांग्रेस ने उसमे भाग लेने का निश्चय किया किन्तु कांग्रेस के उम्मीदवार चुनने के प्रश्न को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और पडित जियालाल जी ने पुन मध्यस्थ होकर कांग्रेस की सहायता की। 18-3-39 के पत्र व्यवहार से स्पष्ट है कि अत मे चुनाव बोर्ड मे तीन-तीन व्यक्ति दोनो पक्ष के तथा एक व्यक्ति जिसे पडित जियालाल जी मनोनीत करे, वह रखकर बोर्ड बनाने का निश्चय किया गया।

स्व. रामनारायण जी के संस्मरण

अजमेर कांग्रेस के प्राय सब पुराने कार्यकर्ता पडित जी के मित्र थे और जैसा ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है प्रत्येक कार्य मे यहा तक कि उनके अपने आतरिक सगठन के मामलो मे भी जियालाल जी की सहायता और सहयोग आवश्यक समझते थे। जैसा कि रामनारायण चौधरी जी ने अपने संस्मरण मे उल्लेख किया है इसका कारण स्वभावत यही था कि अजमेर के सार्वजनिक जीवन मे पडित जी का बडा प्रभाव था।

'जीवेम् शरदः शतं'

(शेष पृष्ठ 3 का)

को आर्य शिक्षण सस्थाओ, आर्य समाज एव दयानन्द बाल सदन की प्रगति एव विकास के लिये चिन्तित एव प्रयत्नशील रहते हैं। आर्य समाज के पुनर्गठन का भूत उनपर सवार है। आर्य समाज के सिद्धातो के लिये तो वे सवस्व बलिदान करने को तैयार है। इस आयु म भी उनका स्वाध्याय चलू है। कोई भी अर्वाचीन अथवा प्राचीन प्रकाशन ऐसा नही जो उनकी नजरो से न गुजर चुका हो। आर्य पत्र पत्रिकाए, सस्मरण पत्र भी निरन्तर पढते हैं और समय-समय पर सामाजिक विषयो पर कलम भी उठाते हैं। आज के आर्य जगत मे शायद ही उनके जैसा इस आयु वाला कानूनविद् तो कोई दूसरा मिले। कार्यालय मे चारो ओर कानूनी पुस्तको का जमावडा और सबके पृष्ठो को छानकर आर्यसमाज की सैद्धान्तिक सर्वोच्चता, प्रामाणिकता की रक्षा करने को तत्पर है।

पुरानी पीढी का यह तपःपूत आर्य पुरुष स्वस्थ एव निरोग रहता हुआ "जीवेम् शरद शत" की वेदोक्ति को चरितार्थ करते हुए अजमेर एव आर्य जगत् की सेवा अहर्निश करता रहे।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा"

अर्थात् इस ससार मे कर्मो को करते हुए ही मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करें।

—रासासिह

'बकरा किस्तों पर' प्रतिबन्ध की मांग

आर्य समाज, अजमेर ने राजस्थान सरकार से पाकिस्तानी व्यग्य 'बकरा किस्तो पर' पर प्रतिबन्ध लगाने की माग की है। उल्लेखनीय है कि उक्त व्यग्य मे हिंदुओ के विवाह सस्कार की खिल्ली उडाई गई है और गाय के विषय मे भी आपत्तिजनक शब्दो का प्रयाग किया गया है।

— मत्री

॥ ओ३म् ॥

आर्य समाज, अजमेर

प्रवेश-पत्र

नाम .. .. .. पिता का नाम .. ..
आयु जन्म भूमि गृह का पता .. ..

व्यवसाय या कार्यालय का पता
च दा शताश .. दिनाक ..

हस्ताक्षर

ओ३म्

आर्य समाज, अजमेर

प्रवेश-पत्र

फॉर्म नं ______

सेवा मे
श्री मन्त्री जी आर्य समाज
अजमेर
श्रीमान जी
नमस्ते ।

मैं प्रसन्नतापूवक आय समाज के उद्देश्यो को (जैसा कि नियमो मे वर्णन किये गये हैं) तथा मन्तव्यो और सिद्धान्तो को (जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थो मे लिखे गये हैं) और जिनमे से कुछ प्रमुख सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा द्वारा निर्धारित प्रतिज्ञा पत्र मे उल्लेखित है मानता और उनके अनुकल आचरण स्वोकार करता हूँ। मुझ आय समाज अजमेर का उसके उपनियमानुसार सदस्य स्वीकार कर।

नाम पिता का नाम .. ..
आयु जन्म भूमि .. गृह का पता ..

व्यवसाय या कार्यालय का पता
विवाहित हैं या अविवाहित यदि विवाहित है तो सतान
शिक्षा मासिक आय चन्दा शताश
दिनाक .. भाषा जो जानते हैं ..
प्रार्थी के हस्ताक्षर .. जिनके द्वारा यह प्रवेश पत्र आया उनका नाम ..
अन्तरग सभा का निश्चय
दिनाक

सदस्यता स्वीकार होने के पश्चात निम्नाकित प्रतिज्ञापत्र प्रस्तुत कर दू गा ।

हस्ताक्षर

प्रधान मन्त्री

प्रतिज्ञा

मैं ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति पूजा या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करूंगा न ही मृतक श्राद्ध व स्थान विशेष को तीर्थ मानू गा तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि विधान को नहीं मानूंगा अर्थात् वेद विरुद्ध आचरण नही करू गा । मैं जन्मगत जातिपाति व छुआछूत को नही मानूंगा । मैं किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति सगठन का सदस्य या अधिकारी नही बनूंगा तथा आय समाज के नियमोपनियमो मे वर्णित सदाचार के नियमो का पूर्णत पालन करू गा ।

यदि मैं इसके विपरीत आचरण करू तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जावे ।

ह आय सभासद

मैं पहले से ही आय समाज अजमेर का सदस्य हूँ और अतरग सभा की दिनाक 18-6-1989 के आदेशानुसार प्रतिज्ञा सहित यह नवीन प्रवेश पत्र उसे स्वीकार करने के उद्देश्य से भर रहा हूँ ।

ह आर्य सभासद

स्वत्वाधिकारी आयसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गग द्वारा श्री आय प्रिन्टस बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आय समाज भवन अजमेर से प्रकाशित

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 शनिवार, 15 जुलाई 1989 अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्। आषाढ शुक्ला 12 सवत 2046
अक 13 प स -43383/84 अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥ वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

सभा प्रधान को आचार्य दत्तात्रेय आर्य का पत्र

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान 'सार्वदेशिक सभा' के आदेश को क्रियान्वित करे

आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने आर्य प्रतिनिधि सभा (राज)के प्रधान श्री छोटूसिह से आग्रह किया है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा हाल ही मे आर्य समाज के प्रवेश-पत्रो मे जोडे गए प्रण के प्रतिज्ञा पत्र को वे सभी आर्य समाजो के पदाधिकारियो व आय सभासदो को भरने के निर्देश दे।

श्री छोटूसिह के नाम लिखे अपने पत्र मे आचार्य दत्तात्रेय आर्य, ने लिखा है कि उक्त प्रण के लेने को अनिवार्य करने से आय समाज के सगठन का शुद्धिकरण होगा और समाज की वतमान शिथिलता भी दूर होगी। आपने लिखा है कि क्यो कि सार्वदेशिक सभा को सुभाव देने के लिए गठित उपसमिति का सयोजक (आचार्य दत्तात्रेय आर्य) राजस्थान का निवासी था इसीलिए सर्वप्रथम राजस्थान मे ही इस समिति की सस्तुति पर स्वीकृत प्रस्तावो को क्रियान्वित करना हमारा नैतिक कत्तव्य हो जाता है।

आचार्य दत्तात्रेय ने अपने पत्र मे अन्त मे आशा व्यक्त की कि आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान यथा शीघ्र सार्वदेशिक सभा के उक्त निर्देश को क्रियान्वित करेगी। उल्लेखनीय है कि आर्यसमाज अजमेर इस निर्देश को अपने यहा क्रियान्वित करन वाली देश की सबसे पहली समाज है।

सेवा वृद्धि के सबध मे राज्य सरकार का महत्वपूर्ण निर्णय

दयानन्द कालेज के प्राध्यापकों की सेवावृद्धि संबंधी याचिकाएं खारिज

दयानन्द महाविद्यालय अजमेर की प्रबध समिति तथा महाविद्यालय के प्राध्यापको के बीच अनुदान नियमो के अनुसार 58 वष की आयु मे उनकी सेवा निवृत्ति के प्रश्न को लेकर विवाद चल रहा था। यू जी सी वेतनमान लागू होने के पश्चात सेवावृद्धि का प्रावधान नही है। राज्य सरकार के इस आदेश की स्थापना मे प्रबध समिति ने किसी की सेवा वृद्धि की सिफारिश न करने का निर्णय लिया था किंतु स्वय राज्य सरकार द्वारा अपनी इस घोषित नीति के विपरीत परस्पर विरोधी निर्णय किये जाने के कारण यह विवाद उच्च न्यायालय तक पहुँचा। दुर्भाग्य से उच्च न्यायालय ने भी दो भिन्न-2 निर्णय लिये और श्री रिखि के प्रकरण के निणय का गलत अर्थ लगाकर तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री कूमट ने प्रबध समिति के विरुद्ध निणय देकर श्री रिखि को दो वर्ष पूव का लगभग 76 000/- रु दिये जाने का आदेश दिया और परिणाम स्वरूप यह राशि सस्था को दिये जाने वाले अनुदान मे से काट ली गई। प्रबध समिति की ओर से श्री कूमट की निष्पक्षता पर सदेह व्यक्त किये जाने पर बाकी के तीन प्राध्यापको श्री म कु मारवाह, ल का शर्मा एव श्री ओ पी रैना की इस प्रकार की अपीलें राज्य शिक्षा मत्री महोदय को निर्णयार्थ स्थानान्तरित कर दी गई।

राज्य शिक्षा मत्री महोदय ने दिनाक 5-7-89 को लम्बे समय से विचाराधीन इन तीनो अपीलो को खारिज करते हुए प्रबध समिति के पक्ष मे निर्णय दिया है जो कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण और राज्य सरकार की इस सदभ मे वर्तमान मे नीति का परिचायक है। सर्वप्रथम इस निणय द्वारा श्री रिखि के प्रकरण मे श्री कूमट द्वारा दिनाक 20-1-88 को दिये गये आदेश से अपनी असहमति प्रकट करते हुए उसे गलत घोषित किया है। वतमान निर्णय के अन्य दो महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि 1963 के अनुदान नियमो के लागू होने के बाद विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित प्रबध अप्रभावित हो गया है तथा दूसरा यह है कि अनुदान नियमो के अन्तर्गत सेवा वृद्धि की आयु 56 वर्ष ही है उसमे वृद्धि पर पर राज्य सरकार तभी विचार करेगी जब कि सस्था द्वारा इसक लिये सिफारिश की गई हो।

इन अपीलो क सबध मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि अपने वकील क स्थान मे प्रबध समिति की ओर से उनके वर्तमान निदेशक श्री दत्तात्रय आर्य ने ही उपस्थित होकर स्वय बहस की थी।

पारायण यज्ञो की विसंगति

—इन्द्रजित देव— यमुनानगर (हरियाणा)

पारायण यज्ञो की नई बीमारी से आर्यसमाज को सावधान करके आपने स्तुत्य कार्य किया है। चतुर्वेद पारायण यज्ञ करने-कराने वाले यह क्यो भूल जाते है कि गर्भाधान, अन्नप्राशन नामकरण, विवाह व अन्त्येष्टि आदि सस्कारो के अवसरो पर पढे जाने वाले मत्र भी वेदो मे हैं। तनिक वे विचार करके निष्कर्ष निकाले कि ऋग्वेद पारायण यज्ञ के अवसर पर वे अन्त्येष्टि सस्कार के मत्रो का पाठ करके कौन-सा पुण्य सञ्चित कार्य कर रहे होते हैं? इसी प्रकार विवाह सस्कार के अवसर पर ऋग्वेद व अथर्ववेद के कुछ मत्र पढे जाते है परन्तु इन वेदो के पारायण यज्ञो के के अवसरो पर भी यजमान इन्हे बोलता है तो उसका क्या कल्याण सिद्ध होता है? इस प्रकार अन्य सस्कारो के मन्त्रों को भी पारायण यज्ञो के यजमान व पुरोहित पढते हैं इससे कैसी सङ्गति बैठती है?

राष्ट्र-कल्याण यज्ञ व विश्व शांति यज्ञ कराने वाले किंचित सोच कर बताए कि केवल यज्ञ सम्पन्न करा लेने से राष्ट्र का कल्याण व विश्व शांति कैसे स्थापित होगी? दान, सगतिकरण व देवपूजा (श्रेष्ठ जनो का सम्मान) के बिना राष्ट्र का कल्याण व विश्व मे शांति कैसे स्थापित होगी?

पुरोहित को यह अपेक्षित है कि थोडा परिश्रम करके विभिन्न सस्कारो के अवसरो पर पढे जाने वाले मत्रो को सवथा त्याग करके शेष मत्रो के पाठ सहित यज्ञ कराने के लिए यजमानो को प्रेरित कर व यज्ञ की मूल भावना अपने जीवनो मे डाल कर स्वयम् सुखी बने व राष्ट्र-विश्व मे शांति व कल्याण को स्थापित करन के कर्त्तव्य की पूर्ति करे।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक । रासासिह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या. 21010

सम्पादकीय

देश में भावी निर्वाचन एवं आर्यसमाज

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास मे तीन प्रकार की सभाओ का उल्लेख किया है (1) धर्मार्य सभा (2) विद्यार्य सभा (3) राजार्य सभा। इनमे से प्रथम दो प्रकार की सभाओ के अनुकूल तो आर्यसमाज मे कार्य होता रहा है परन्तु राजार्य सभा की ओर विशेष ध्यान नही गया। जबकि ऋषि के सत्यार्थ प्रकाश का छठा समुल्लास राजधर्म और राज्य व्यवस्था से ही सबन्धित है। समय-समय पर यह आवाज भी उठती रही है कि आर्य समाज इस ओर कुछ प्रयास करे, अपनी एक राजनैतिक शाखा प्रारंभ करे। समय-समय पर इस प्रकार के प्रयास भी हुए। कभी भारतीय लोक समिति, कभी आर्यसभा आदि नामो से छुट-पुट प्रयास भी हुए परन्तु वे विशेष प्रभावी नही रहे और समय के साथ उनका अस्तित्व भी समाप्त हो गया। आर्य समाज ने अपने स्थापना काल मे ही अपने संगठन को राजनीति से पृथक रखकर केवल सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक एव शैक्षणिक क्षेत्र तक ही सीमित रखने का प्रयास किया है। यद्यपि समय-समय पर स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द लाला हरदयाल जैसे महान राजनेता, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिह जैसे क्रातिकारी और लाखो की सख्या मे स्वतन्त्रता सग्राम मे जूझने वाले सैनिक दिये और आजादी के पूर्व कांग्रेस या हिन्दूमहासभा के मच से अथवा क्रान्तिकारी मार्ग से देश की राजनीति को प्रभावित करते रहे। पट्टाभि सीतारमैय्या द्वारा रचित 'कांग्रेस के इतिहास' मे यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि किसी एक विचारधारा से अनुप्राणित होकर स्वाधीनता सग्राम मे भाग लेकर जेल जाने वालो मे यदि किसी सस्था के सर्वाधिक व्यक्ति थे तो वे थे महर्षि दयानन्द और उसके द्वारा सस्थापित आर्यसमाज की भट्टी मे तपकर निकले हुए लोग।

स्वाधीनता सग्राम के साथ-साथ आजादी से पूर्व निजामशाही के विरुद्ध हैदराबाद सत्याग्रह, गुरु का बाग सत्याग्रह सिन्ध मे सत्यार्थ प्रकाश पर पाबन्दी हटाने के सत्याग्रह मे आर्य समाजियो ने उत्साहपूर्वक बढ़-चढ़ कर भाग लिया था और विजय श्री हासिल कर अपने सगठन की धाक जमाई थी।

आजादी के बाद भी 1957 के पजाब के हिंदी रक्षा आदोलन तथा 1967 के गोरक्षा सत्याग्रह मे आर्यसमाज के हजारो लोगो ने जेलें भरी थी। आजादी के बाद आर्यसमाज ने अपने को राजनीति से तो पृथक ही रखा परन्तु इसके कई जाने माने नेता व्यक्तिगत रूप से कांग्रेस, जन सघ लोकदल आदि राजनैतिक दलो मे अथवा निर्दलीय के रूप से राजनीति को प्रभावित करने अथवा राजनीति मे भाग लेने का उपक्रम करते रहे। यद्यपि सामूहिक रूप से किसी एक दल या पार्टी का साथ नही दिया। परन्तु जो आर्यसमाज की सीढी पर चढ कर जिस दल मे भी गया वह आर्यसमाज का भला तो नही परन्तु वहा का ज्यादा हो गया। ऐसे नेताओ मे प० प्रकाशवीर शास्त्री, स्वामी रामेश्वरानन्द जी, स्वामी इन्द्रवेशजी अमरनाथजी विद्यालकार, रामगोपालजी शाल वाले, बलराज मधोक, ओम प्रकाश त्यागी, शिवकुमार शास्त्री, यज्ञदत्त शर्मा, यश रणवीर, आचार्य भगवानदेव, श्रीकरण शारदा रामचन्द्र विकल, ठाकुर यशपाल सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय रहे है। ये सभी नेता सासद या विधायक के रूप मे अपने-अपने दलीय हितो को ही ज्यादा प्रमुखता देते रहे। चाह कर भी आर्यसमाज का विशेष हित नही कर पाये। इसका कारण यह था कि सब बटे हुए थे और कई मामलो मे एक दूसरे से दूर भी थे। राजनीति मे सामूहिक रूप से भाग न लेने अपनी सगठित शक्ति को नही पहचानने, सशक्त सगठन के रूप मे अधिक सीट लेने की सौदेबाजी करने की स्थिति मे नही होने, अलग-अलग बटे होने की परिस्थिति के कारण इस क्रान्तिकारी सगठन का राजनैतिक बाजार भाव कम होता चला गया। परिणाम स्वरूप आर्य सिद्धातो के अनुकूल राजनीति को प्रभावित करने की उसकी वर्चस्विता भी खत्म हो गई और इस दृष्टि से उसकी आवाज को कोई नही सुनता, सबका अच्छा बनने के चक्कर मे किसी का नही हो पाया। ऐसी स्थिति मे नक्कार खाने मे तूती की आवाज कौन सुनता है।

यद्यपि महर्षि दयानन्द जी महाराज ने सुराज्य से स्वराज्य से को कही अधिक महत्त्व प्रदान किया परन्तु उनकी मान्यता थी कि सर्वप्रथम समाज का सुधार हो और फिर स्वराज्य के लिये प्रयत्न हो। इसका कारण यह था कि स्वामी जी ने निकट से देखा और महसूस किया कि समाज के सब लोग कुरीतियो, अध विश्वासो के दास बने हुए है, रूढियो के गुलाम बन गये हैं, आसमान के ग्रह नक्षत्रो पर फल के लिये अधविश्वास कर रहे है, जाति पाति, छूआछूत के जाल मे जकड रहे हैं, बुद्धि और विवेक पर ताले पडे हुए हैं, यहा की हिंदू जाति जिदो से तो डर रही है मुर्दो से भी भयभीत है, भूतप्रेत, डाकिन, चूडैल, गण्डे, ताबीज मे विश्वास कर रही है, आपसी फूट का शिकार होकर स्वार्थ देव के पुजारी हो रहे हैं, मूर्तियो पर भरोसा कर रहे हैं, और इसी के परिणामस्वरूप 1857 का प्रथम का स्वाधीनता सग्राम असफल रहा। इसलिये उन्होने समाज सुधार और सामाजिक कुरीतियो के उन्मूलन करने व्यक्ति का निर्माण करने हेतु वेद ज्ञान के प्रचार प्रसार पर जोर दिया। इसके विपरीत लोकमान्य बाल गगाधर तिलक मदन मोहन मालवीय आदि स्वराज्य पहले चाहते थे और समाज सुधार बाद में। आजादी तो मिल गई पर आज उस आजादी को हम सभाल नही पा रहे हैं। सामाजिक कुरीतियो और अध विश्वासो, दकियानूसी रूढियो ने समग्र राष्ट्र को अपने मकड जाल मे जकड रखा है, जातिवाद, भाषावाद, प्रातीयतावाद सम्प्रदायवाद के नाग फुकारे मार रहे हैं हरिजनो की हत्याए हो रही है महिलाओ पर अत्याचार हो रहे है, बेटिया दहेज-दावानल मे जल रही है, चारित्रिक पतन हो रहा है गद्दारी पनप रही है, स्वार्थ बढ रहा है भ्रष्टाचार बढ रहा है इन्सानियत खत्म हो रही है, रिश्वत खोरी पनपती जा रही है, कर्त्तव्य पालन भूल रहे है, अधिकार प्राप्ति की होड लगी है जीवन मूल्यो का ह्रास हो रहा है, भोगवाद बढ रहा है। राजनीति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे छा गई है और प्रभाव डाल रही है। ऐसे समय मे यदि आर्यसमाज जैसा सबल सशक्त और सक्षम सगठन तटस्थ रहकर मूक दर्शक बना रहा और राजनीति से नफरत करता रहा तो यह राजनीति उसे भी निगल लेगी। उसके अस्तित्व को खोखला कर देगी, वैदिक धर्म एव वैदिक सस्कृति को मिटा देगी।

ईसाई मिशनरी विदेशी पैसे के बल पर अराष्ट्रीय मुस्लिम पैट्रो-डालर के बल पर, देशद्रोही आतकवादी साम्राज्यवादी ताकतो के बल पर कम्युनिस्ट रूस और चीन के इशारो पर काशीराम वर्ग भेद के नाम पर हाजी मस्तान तस्करी के आधार पर, अपने ही लोग छूआछूत और ऊचे नीचे के नाम पर राष्ट्र की जडो को खोखला कर रहे हैं, तेजी से धर्मान्तरण हो रहा है, कई 'लैंडो' का निर्माण हो चुका और कइयो का होने के लिये वातावरण बन रहा है। शराब की नदिया बह रही हैं, गौ की हत्या हो रही है। ऐसे समय वेद की बात, 'मनुर्भव" की बात, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, "सत्य वद और धर्मंचर' की बात तथा सगच्छध्व, सवदध्व" "समानीव आकूति समाना हृदयानिव।" "समानो मन्त्र समिति समानी", भारत की बात, आर्यावर्त्त के जज्बातो की बात ऋषि मुनियो के धर्म की बात कौन कहेगा ? तदनुसार कौन देश को बनायेगा ? तदनुसार कौन व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का उत्थान करेगा ? उत्तर होगा केवल आर्यसमाज। आर्यसमाज और मात्र आर्यसमाज। काश ! आर्यसमाज अपने को पहचाने।

कुछ माह बाद देश मे लोकसभा के चुनाव होने वाले हैं जो आगामी पाच वर्षो के लिये देश के भाग्य का निर्धारण करेगे। साथ ही 17-18 विधान सभाओ के चुनाव भी होगे। ऐसी स्थिति मे आर्यसमाज को अपनी शक्ति एव सगठन पहचान कर सामूहिक शक्ति का सम्बल देकर भावी राजनीति को प्रभावित करने, अपने अनुकूल बनाने तथा उचित समय पर देशहित मे सही राष्ट्रवादी विचारधारा वाले, देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करने वाले, भारतीय सस्कृति

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आचार्य दत्तात्रेय आर्य का स्वामी आनंदबोध जी के नाम एक महत्वपूर्ण पत्र—

क्या आर्यसमाज में भी हरिजन हैं?

जन्मगत जाति के आधार पर समाज के उपनियमो मे सशोधन उचित नहीं

आचार्य दत्तात्रेय जी ने अभी हाल ही मे सार्वदेशिक सभा की अन्तरग द्वारा स्वीकृत जन्मगत जातपात को बढावा देने वाले एक सशोधन पर, अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप स्वामी आनन्द-बोध जी को एक पत्र लिखा है। पत्र मे व्यक्त विचारो की महत्ता को देखते हुए हम यहा उसे अविकल रूप मे प्रकाशित कर रहे है।

—सम्पादक

आदरणीय स्वामी जी,

सादर नमस्ते।

मुझे यह जानकर आश्चर्य और खेद हुआ कि सार्वदेशिक सभा की अन्तरग ने उपनियम क्रमाक 4 (क) मे एक सशोधन स्वीकार किया है, जिसमे आर्य सभासद के लिए निर्धारित शुल्क मे आय के शताश के नियम को हरिजन तथा वन-जातियो के लिये शिथिल किये जाने का प्रावधान किया है।

हरिजन शब्द का उपयोग महात्मा गाधी जी ने हिन्दू समाज के अछूत या दलित समझे जाने वाले लोगो के लिए किया था। आर्य समाज जन्म से जातपात को नही मानता इसलिये उपनियमो मे इस प्रकार का प्रावधान आर्यसमाज के सिद्धान्तो के विपरीत है।

सरकार द्वारा हरिजनो के लिए जो विशेष अधिकार या रियायतें दी गई हैं, उनके कारण तो अनेक ब्राह्मण तथा अन्य द्विज समझे जाने वाले व्यक्ति भी राजनैतिक तथा आर्थिक लाभ के लिए अपने आपको हरिजन घोषित करने लगे है, और इस प्रकार जन्मगत आधार पर ही नही अपितु निहित स्वार्थ और प्रलोभन के कारण यह सामाजिक कलक अमिट और चिरस्थाई बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे हरिजनो को मान्यता देकर उन्हे विशेष सुविधा देने का अर्थ यह है कि आर्य समाज भी न केवल जन्म से हरिजन या अछूत होने की बात स्वीकार करता है, अपितु उस कलक को मिटाने के स्थान मे उसे चिरस्थाई बनाने के पक्ष मे है।

आर्यसमाज की सदस्यता के लिये सभा ने जो प्रतिज्ञा या प्रण स्वीकार किया है उसमे भी जन्मगत जात-पात या छूआछूत न मानने का स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये भी उपरोक्त सशोधन स्वय सार्वदेशिक सभा के निश्चय के विपरीत होगा।

यदि आर्थिक कठिनाई आदि के कारण किसी को सदस्यता शुल्क मे रियायत देनी हो तो यह उद्देश्य हरिजन और गरीब आदि आपत्ति-जनक तथा हीनता के द्योतक शब्दो के बिना भी दिया जा सकता है। उदाहरण के लिय आर्यसमाज के वर्तमान नियम स 5 (ख) मे अभी भी यह प्रावधान है कि किसी विशेष हेतु से चन्दा न दे सकने अथवा शताश नही देने वाले को भी आर्य सभासद बनाया जा सकता है।

मुझे आशा है कि आप उपरोक्त तथ्यो को ध्यान मे रखकर प्रस्तावित सशोधन को निरस्त किये जाने पर आवश्यक कार्यवाही करेगे।

आपका

(दत्तात्रेय आर्य)

श्री प. सत्यकाम जी का अभिनन्दन

गत चार दशाब्दियो मे आर्य समाज मे कई कार्य ऐसे हुए हैं जिनसे समाज को बडी क्षति पहुची है। इसके साथ ही कुछ ऐसे कार्य भी होने लगे हैं जिनसे आर्यसमाज मे उत्साह व श्रद्धा पैदा हुई है। आर्य समाज का यश ऐसे कार्यो से निश्चित रूप से बढेगा।

महानगरी बम्बई के आर्यो ने श्री प. सत्यकाम जी विद्यालकार का भव्य अभिनन्दन करके एक प्रशसनीय कार्य किया है। पण्डित जी का परिचय देने की आवश्यकता नही है। सारा हिन्दी जगत् और महर्षि दयानन्द प्रेमी उनकेनाम नामी से परिचित हैं। हम श्री प. सत्यकाम जी को तो बधाई देते ही है साथ ही बम्बई के आर्यों को भी इस आयोजन के लिए बधाई देते है।

बम्बई के ही एक प्रबुद्ध श्री केप्टन देव रत्न जी आर्य ने अपने पूज्य पिता जी से प्राप्त शुभ सस्कारो से प्रेरित होकर अपने समाज से आर्य विद्वानो के सम्मान की पावन परम्परा चलाई, जो आज भारत भर मे प्रचलित हो रही है। इससे आर्य समाज को अच्छे-अच्छे सेवक व निष्ठावान विद्वान् मिलगे। आर्य समाज ने पहले से यह परम्परा चलाई होती तो आज विद्वानो की कमी कभी न खलती। —जिज्ञासु

पत्र और विचार

महर्षि लेख का सुस्पष्ट विरोध क्यो छापा गया?

अभी ७-५-८९ का आर्यमित्र पढने मे आया आर्य पुनर्गठन के विरुद्ध शब्दाडबर युक्त तथ्यहीन लेख पढकर मुझे भी इच्छा हुई कि अनेको मे से एक प्रसग लिख भेजू जो आर्यमित्र मे छपी सामग्री के बाबत मेरे आक्षेप से सबद्ध है। लगभग ३ वर्ष पूर्व प. शिवदयाल जी का एक योग विषयक लेख आर्यमित्र मे छपा था जिसमे अथर्ववेद के ४ मत्र देकर १००० वर्ष तक की आयु होना सिद्ध किया गया था। मैंने सपादक जी को लिखा कि महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि १००० वर्ष की आयु कपोल कल्पना है—

ऐसी दशा मे आपका छापा हुआ लेख मानें या महर्षि का सुस्पष्ट लेख, इस पर रूखा उत्तर आया कि "आपको शका हो तो लेखक को लिखे, उनका पता यह है। इस पर मैंने फिर लिखा कि मेरी शका नहीं, जिज्ञासा है आप ने लेख छापा इसलिये आप असहमत नही हैं यह प्रकट है। आप ही उत्तर दें इत्यादि—फिर आज तक कोई उत्तर नही आया—कई स्मरण-पत्र भेजे वो व्यर्थ रहे। ऐसे कई प्रसग हैं जो विस्तार भय से सप्रति नही लिखे जा रहे है भविष्य मे कभी कुछ और लिखूगा। नमूना एक ही काफी है। किमधिकम।

—स्वामी ओ३म प्रेमी चतुर्थाश्रमी,
होशगाबाद।

पाठको को सूचना

15 जून के अक मे प्रकाशित 'आर्यमित्र या आर्यामित्र' के लेखक श्री धर्मवीर शास्त्री का पता निम्न है-
बी-1/51 पश्चिम विहार
नई दिल्ली।

'आर्य पुनर्गठन' आर्य समाज के सिद्धातो का प्रचारित-प्रसारित करने वाला एक श्रेष्ठ पाक्षिक है जिसका स्वागत सर्वत्र किया जाना सहज स्वाभाविक है। सपादकीय 'बातें तो बहुत छोटी परन्तु सिद्धातत खोटी?' मे बहुत माकूल प्रश्न उठाये गये है। यह जागरूक सपादक महोदय के कर्त्तव्य एव साहस का द्योतक है।

—डा स्वर्णकिरण
सोहसराय-803118
(नालदा)

आचार्य दत्तात्रय जी,

नमस्ते।

मै जब तक 'आर्य पुनर्गठन' को नही पढ लेता मुझे चैन नहीं मिलता।

आर्य जगत् मे एक मात्र यही पत्र आर्य सिद्धातो की रक्षा कर रहा है और आर्यजनो को प्रेरणा दे रहा है।

आपके विचारो से आपकी सिद्धान्तनिष्ठा और ऋषि भक्ति प्रकट होती है। "आर्यमित्र का दैवी चमत्कार" पढकर प्रसन्न हुआ। सत्य बात कहने मे कभी नही घबराना चाहिए।

—शिवनाथ आर्य
39, चक्खूवाला
देहरादून (उ प्र)

आपने आर्यमित्र के सम्बन्ध मे ठीक लिखा।

—आचार्य वीरेन्द्र मुनि शास्त्री,
सपादक-वेदज्योति
लखनऊ (उ प्र)

साहित्य समीक्षा

1 दि आयसमाज ए मोस्ट रिवो यूशनरी रिफाम मूवमेट आफ इण्डिया-ले प्रो दत्तात्रय आय (वाब्ले) प्रकाशक-सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा दिल्ली। मूल्य 5 रुपये।

आय समाज के प्रगतिशील तथा क्रान्तिकारी रूप का परिचय देने की दृष्टि से यो तो अब तक अग्र जी म अनेक पस्तक लिखी गई हैं किंतु एक एसी पस्तक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो सक्षप मे इस सस्था के के धार्मिक सामाजिक राजनतिक तथा शक्षिक कार्यो की सम्यक समीक्षा करने के साथ साथ इनकी पगतिशील भूमिका का भी निर्धारण करे। इतिहास्क गो न भारत का सवतोमुखी क्राति म आय ममाज के काय का मह व निरूपण करते हुए कहा कही बहुत सकोच के म थ ता कही पूर्वाग्रह पूर्ण दृष्टिकोण से इस विषय का चर्चा की है। हष का विषय है कि आयसमाज के प्रबुद्ध चि तक श्री दत्तात्रय वाब्ले न स्वल्प कलेवर की यह पुस्तक लिखकर आय ममाज के सव तोभद्र स्वरूप का विश्लषण किया है। इससे पव वे आयसमाज और प्रचलित हिद धम मे वचारिक साम्यता एव विषमता पर एक अ य गम्भीर विवचना युक्त ग्र थ लिख चुके हैं। आलोच्य पुस्तक उन लोगा को भी जाना चाहिए जो अ यसम ज की एतिह सिक उपलब्धिया स अपरिचित है अथवा ज नबूझ कर उसके मह व को स्वीकार नही करत। पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए तथा आयसमाजो के पुस्तकालयो मे इस रखा जाना चाहिए।

2 महर्षि दयान द पत्रो क दपण मे।

द यान द वदिक शोध पीठ का प्रकाशन दयान द कालज अजमर मूल्य 50 रु

किसी व्यक्ति द्वारा लिख गय पत्र उसके विचारो कार्यो सिद्धाता और मन स्थितिया का मुह बोलती तस्वीर होते है। यही कारण है कि महापरुषो का जीवन चरित्र लिखते समय या उसकी आलोचना करते समय उनके पत्रो के कथ्य की भी समीक्षा की जाती है। प भगवद्दत्त तथा प युधिष्ठिर मीमासक जैसे शोध विद्वानो के महत परिश्रम तथा अध्यवसाय से स्वामी दयान द द्वारा लिख पत्र बहुसख्या मे उपलब्ध हो चुके है यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि सभी पत्र मिल ही गये हैं।

प्रस नता की बात है कि आय मम ज के युवा विद्वान डा कृष्ण-पालसिंह ने स्वामीजी के पत्रो तथा उनके उत्तर ग्र थो के आधार पर इस महापरुष की विचार धारा की एक सश्लषण मक समीक्षा आलोच्य पस्तक मे प्रस्तुत का है। (पु तक की प्रस्तावना आचाय दत्त त्रय जी ने लिखी है—स) 13 अ यायो म विभक्त इस उपयोगी ग्र थ मे पत्रा के आधार पर स्वामी दयान द के ईश्वरोपासना विषयक विच र वेद और वदिक साहि य विषयक उनके म तव्य सस्कृत भाषा के प्रचार प्रसार तथा पठन पाठन मे ऋषि की भूमिका पुराणो विष यक उनके विचार तथा हिंदू अथवा आय गृहस्थ धम राजधम समाज सुधार योग विभूति गोरक्षा तथा राजनीति जसे कतिपय अ य विषया पर ऋषि के विचारो को उन्हा के शब्दा मे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह ग्र थ सक्षिप्त रूप म दयान द विचार कोश की सज्ञा प्राप्त कर सका है।

तथापि दयान द के पत्र एव विज्ञापन एक अथाह सागर के तु य हैं जिसम पत्र लेखक क विचारो के सा थ साथ अनक समकालीन व्य क्तियो घटनाओ प्रसगो आदि की चर्चा तो मिलती ही है। दयान द क निजी व्यक्ति व (Persnol I fe) को स्फुट करन वाली रोचक किंतु दुल भ सामग्री भी उपलब्ध होना है। जावन चरित्र लेखको न यद्यपि इस सामग्री का यथासाध्य उपयाग किया भी है किंतु अभी भी बहुत कुछ करणीय है। डा सिंह ने स्वामी जी के जर्मन शिक्षा शास्त्री [illegible] य मे स्वामी दयानन्द की डा वाइज से हुए पत्राचार को भी [illegible] काव्य रचना को उजागर अपनी विवेचना मे सम्मिलित किया [illegible] दृष्टि से उनके द्वारा प है। ज्ञातव्य है कि डा वाइज द्वारा [illegible] कृष्ण वर्मा को सस्कृत स्वामी जी के नाम लिखें गये मूल [illegible] लिखे पत्र को उद्धत करना अग्र जी पत्र हिंदी अनुवाद सहित [illegible] की उपयोगिता को बढा देता समीक्षा लेखक द्वारा सम्पादित किये है। आशा है दयान द के विवेचना-जाकर वेदवाणी के फरवरी 1989 त्मक साहित्य मे इस ग्र थ का सुनि-के अक मे प्रकाशित किये जा चुके श्चित स्थान होगा। हैं। आलोच्य पुस्तक के अ तम

—डा भवानीलाल भारतीय

देश मे भावी निर्वाचन

(शेष पृष्ठ 4 का)

और धम की रक्षा करने वाले, राम और कृष्ण के बताये जीवन मूल्यो की रक्षा करने वाले दल को अपनी सहायता जोर-शोर से करने अपने प्रभावशाली राजनीति मे रुचि रखने वाल समाज सेवियो के लिये सीट आदि मागने का भरपूर सक्रिय प्रयास करना चाहिये अन्यथा आने वाला समय हमे कभी माफ नही करेगा। दूसरो के मु ह की ओर ताकना होगा। दुनिया झुकती है झुकाने वाला चाहिये। ताकत पैदा करो फिर देखो।

कुछ लोग कहते हैं कि अब तो आयसमाज का कोई काय शेष नही रह गया भारतीय सविधान मे आयसमाज के सभी आदर्शों को स्थान मिल गया है उन सभी कायक्रमो को अपना लिया है ऐसे लोगो की आखो पर अज्ञान का पर्दा पड गया है बुद्धि पर ताला लग गया है। सरकार को उन कायक्रमो को तजी से क्रिया वित करने हेतु मजबूर करन के लिये भी अपनी शक्ति और वचस्वता का परिचय देना ही होगा और वह निर्वाचनो मे अधिकाधिक आयसमाजी विचारधारा के लोगा को प्रभावशाली दलो से जीतवाकर भेजने से ही सम्भव होगा सरकार मे भी अपने लोगो को बैठाना होगा।

इस बारे मे देश के आय नेतागण गभीरता से विचार कर रणनीति तय करें और एक मच पर बैठकर सही समय पर सही दिशा निर्देश कर और आयजगत का मागदशन कर। एक कवि के शब्दो मे—

उठो, जागो सचेत बनो खतरे का घटा बजता है।
अगर जरा भी सोय अब तो साज मौत का सजता है॥

—रासासिह

स्वत्वाधिकारी आयसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गग द्वारा श्री आय प्रिन्टस बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आय समाज भवन अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 रविवार, 30 जुलाई, 1989
अंक 14 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

श्रावण कृष्ण 30 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

क्यों है आर्य समाज की कुंठित गति ? कारण है जाति और राजनीति

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

हमारी जन्म मूलक जाति-प्रथा न केवल एक सामाजिक अभिशाप ही है, अपितु वर्तमान पौराणिक या हिन्दू धर्म की प्राय सारे धार्मिक अन्धविश्वासो और सामाजिक कुरीतियो की पोषशाला है जिसमे प्राय सारे अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतिया पनपती और बढती हैं।

जाति और राजनीति :

देश की स्वाधीनता के पश्चात हमारे राजनैतिक जीवन को भी जातिवाद के इस दीमक ने खोखला कर दिया है। आयसमाज के सस्थापक ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से उत्पन्न देश प्रेम और देश भक्ति के जिस राजनैतिक आदोलन ने कभी आर्यसमाज के अनुयायियो को आकर्षित किया था वह भी स्वराज्य प्राप्ति के 40-50 वर्षों मे शनै-शनै केवल एक सत्ता की राजनीति बन गया है जिसके कारण आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित वह धार्मिक और सामाजिक क्रांति भी प्राय ओझल होती जा रही है जिसे कभी हमारे राष्ट्रीय नेता पुनर्जागरण और स्वराज्य का आवश्यक आधार समझते थे।

आर्यसमाज की वर्तमान कुठित गति का मुख्य कारण भी उसमे दिन प्रतिदिन बढने वाले जातपांत और राजनीति का यही प्रभाव है।

सार्वदेशिक सभा का निर्णय— आय समाज के भविष्य के सबध मे विचार करने और सुझाव देने के लिए सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति ने इसीलिए अन्य अनेक महत्वपूर्ण सुझावो के साथ ये अभिशसा की थी कि आर्यसमाज का सदस्य किसी जातीय सगठन का सदस्य नही होना चाहिए। इसे सभा ने स्वीकार कर लिया है।

दूसरी अभिशसा यह की गई थी कि जो व्यक्ति किसी राजनीतिक द का पदाधिकारी या उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि हो वह भी आर्यसमाज या उसके प्रातीय या सार्वदेशिक सगठन का पदाधिकारी नही होना चाहिए। इस पर सभा ने अभी तक कोई निणय नही लिया।

आर्यसमाज का वास्तविक स्वरूप—आर्यसमाज एक राष्टीय तथा अन्तर्राष्टीय सगठन होकर भी पूर्ण रूप से एक धार्मिक और सामाजिक आदोलन समझा जाता है इसलिए राजनीति मे सक्रिय व्यक्ति इसके सदस्य तो हो सकते हैं किंतु उसके पदाधिकारी नही होने चाहिए। इस प्रकार हम आयसमाज को दलगत राजनीति से पृथक रखकर उसके व्यापक सार्वभौम स्वरूप को सुरक्षित रख सकते हैं।

प्रजातन्त्र की असफलता—

दुर्भाग्य से ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के सगठन को जिस प्रजातन्त्रात्मक आधार पर स्थापित किया था वह भी आज हमारे देश मे राजनैतिक प्रजातन्त्र के समान असफल हो गया है। जिस प्रकार देश की राजनीति मे जातपात और सत्ता की सकीर्ण राजनीति का वर्चस्व है उसी प्रकार आर्यसमाज के निर्वाचन भी प्राय: जातिवाद तथा दलीय राजनीति से प्रभावित हो गये हैं और परिणाम स्वरूप आर्यसमाज तथा उसकी सस्थाओ मे या तो किसी जाति विशेष के लोगो का एकाधिकार है या फिर किसी विशेष राजनीतिक दल के अनुयायियो का प्रभुत्व है। यही कारण है कि आयसमाज धीरे-धीरे अपनी धार्मिक और सामाजिक मान्यताओ के बारे मे भी समझौत की नीति अपनाने लगा है जिनके कारण उसमे और हिन्दुओ के अन्य सुधारवादी सगठनो मे कोई अन्तर दिखाई नही देता।

जातीय सुधार—जातीय सगठनो से जुडे हुए कुछ आय समाजी ये तक देते रहे हैं कि वे अपनी जाति मे रहकर या उससे जुडकर उनमे उन सुधारो को ज्यादा आसानी स मनवा सकते हैं जिनका आर्य समाज प्रचार व प्रसार करना चाहता है। किंतु गत 50 60 वर्षों के अनुभव से स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति कुछ छोटे मोटे सुधारो को छोडकर अपने तथाकथित उद्देश्य मे सफल होने के स्थान मे स्वय उन धार्मिक और सामाजिक

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आचार्य दत्तात्रेय अमेरिका के विश्व-विद्यालय द्वारा आमंत्रित

अजमेर। अमेरिका के 'मार्शल विश्वविद्यालय'' नामक प्रख्यात विश्वविद्यालय ने आर्य जगत के सुप्रसिद्ध विद्वान नेता आचार्य दत्तात्रेय आर्य को अगस्त,' 89 मे भारतीय अध्ययन से सबधित अपने विभाग मे विशेष व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया है। आचार्य जी के व्याख्यानो का विषय ''उन्नीसवी शताब्दी मे भारत के धार्मिक एव सुधार आन्दोलन' होगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि सन 1956 मे भी आचार्य दत्तात्रेय जी को अमेरिका सरकार व ब्रिटिश कौंसिल ने 'लीडर एक्सचेंज' (सास्कृतिक आदान-प्रदान) नामक कार्यक्रम के अतगत अमेरिका तथा इग्लैण्ड मे व्याख्यानो के लिए आमन्त्रित किया था। उस यात्रा के सबध मे लिखी उनकी पुस्तक 'टू वे ट्रैफिक' काफी चर्चित रही है।

आचार्य दत्तात्रेय जी को ''आर्यप्रतिनिधि सभा आफ साउथ अफ्रीका' ने भी सितम्बर, 89 मे अपने मुख्य समापन समारोह म निमन्त्रित किया है। आचार्य जी 3 अगस्त 89 को सपत्नीक अजमेर से अमेरिका के लिए रवाना होगे।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक रासासिंह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या 21010

सम्पादकीय

आर्यसमाज पुन: लोकप्रिय कैसे हो ?

जिस सगठन के पीछे महर्षि दयानन्द की महान तपस्या और त्याग हो, जिस सगठन के पीछे स्वामी श्रद्धानन्द और प लेखराम का बलिदान हो जिस के पीछे लाला लाजपतराय और महात्मा हसराज की सेवा का इतिहास हो, जिस सगठन का विस्तार देश-विदेश मे हुआ हो, जिस सगठन के हजारो कर्मठ सभासद हो, जिस सगठन के प्रति आस्था और विश्वास करने वाले लाखो लोग हो वह सगठन आज की वैषम्यपूर्ण परिस्थितियो मे कुछ 'यथा स्थितिवादी' या "चलती का नाम गाडी" वाला शिथिल सगठन बनकर रह गया है। हमारे नेताओ, पदाधिकारियो, उपदेशको, साधु सन्त महात्माओ, मनीषियों एव सन्यासियो को इस विषय पर गभीरता स विचार करने की आवश्यकता है।

आज छोटे-छोटे सगठन भी कभी आक्रामकता तो कभी आतकवाद तो कभी उग्रवाद, तो कभी अपने सगठन के बल पर, कभी विघटन के नाम पर, तो कभी वोट की शक्ति के बल पर या फिर बन्द, घेराव, हडताल, धरणे, सत्याग्रह आदि आदोलनो के माध्यम से सरकार पर दबाव डालते रहते हैं अथवा अखबारो की सुर्खियो मे छाये रहते हैं परन्तु आर्यसमाज एक राष्ट्रीय सगठन होने के बावजूद भी निष्क्रियता का शिकार रहता है, सामान्य जनता एव सरकार तथा राजनीतिज्ञो द्वारा सर्वथा उपेक्षित रहता है।

कहने को हम कह सकते हैं कि हम कट्टर राष्ट्रवादी हैं, देशभक्त हैं, राष्ट्र निर्माण मे मौन साधना से लगे हुए है, पर इस दृष्टि से भी हमारी तुलना मे अन्य सगठनो की ही चर्चा ज्यादा रहती है, कोई माने या न माने—हम पीछे ढकेल दिये गये हैं।

सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी हम विशुद्ध विवेक सम्मत, भारतीय सस्कृति के प्रबल पक्षधर एव वेदाधारित रह कर भी इस प्रकार के अन्य सगठनो से बहुत पीछे चले गये है। हमारा असली माल कोई लेने को तैयार नही और देश के बाजार मे नकली माल का ही बोलबाला हो रहा है। ज्वलन्त प्रश्नो पर राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, विश्व हिंदू परिषद, नामधारी, निरकारी राधास्वामी, सतनामी अथवा अन्य पौराणिक मतमतान्तरो का ज्यादा बोलबाला और होहल्ला रहता है। उनके सत्सगो मे धार्मिक आयोजनो तथा जलसे जुलूसो मे बहुत भीड-भाड रहती है जबकि हमारे सब कार्यक्रम फीके होने लग गये है, सत्सगो वार्षिकोत्सव के जलसे जुलूसो की सख्या घटती चली जा रही है। यह अत्यन्त चिन्तनीय है।

अत आज हमे आत्म निरीक्षण करने की सख्त आवश्यकता है। परम आवश्यकता इस बात की है कि हम गहराई से सोचे।

जिस आर्य समाज का स्वाधीनता सग्राम मे योगदान रहा, जिसके वीर बाकुर सब से ज्यादा जेलो मे गये, अग्रेजो की लाठिया-गोलिया खाई, जिस समाज ने सामाजिक पुनर्जागरण मे सर्वाधिक योगदान दिया, जिस सस्था के बडे-बडे शास्त्रार्थ महारथियो ने तह तक जाने के लिये शास्त्रार्थों की धूम मचा दी थी। जिस सस्था के प्रकाण्ड विद्वानो के अकाटय तर्कों के सामने अन्य धर्मों की बोलती बन्द हो जाती थी, जिसका लोहा सारा समाज और राष्ट्र मानता था, जिस सस्था के सपूतो ने अन्धविश्वासो एव सामाजिक कुरीतियो को मिटाने के लिये जान की बाजी तक लगा दी थी, खेद है कि आज वही सस्था अपनी चहारदीवारियो तक सीमित रह गई है। क्या यह परिस्थिति हम दयानन्द के नाम लेवाओ तथा झण्डाधारियो के लिय आत्मालोचन की नही है ?

मेरी राय में आर्यसमाज को पुन: पूर्व गौरवानुरूप प्रतिष्ठा तथा मान सम्मान एव लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए निम्न उपाय बरतने चाहिए—

1 आर्यसमाज सेवाभावी प्रवृतियो—यथा एम्बुलेन्स, चिकित्सा, निराश्रितो की रक्षा, कोढियो की सेवा, उपेक्षितो को सहारा आदि प्रारम्भ करें।

2 आर्यसमाज सार्वजनिक हितकारी कार्यों के केन्द्र बनें। उनमें स्वाध्याय, सास्कृतिक शिक्षण, सस्कार निर्माण, योगाभ्यास, ध्यानकेन्द्र पुस्तकालय, वाचनालय, वेदाध्ययन, अध्यापन की प्रवृत्तिया सचालित हो।

3 आर्यसमाज में योग्य, निष्ठावान, सिद्धातनिष्ठ एव चरित्रवान तथा सेवाभावी आर्यों को ही प्रवेश मिले।

4 आर्यसमाज सस्थागत आधार ही न बनाकर जन्मगत आधार का निर्माण करे।

5 आर्यसमाज से पार्टी बदी, धडेबदी, गुटबन्दी, अफसरशाही, चौकयाना पदलिप्सा, चुनाव प्रणाली की गदगी अविलब दूर होनी चाहिए।

6 आर्यसमाजियो मे प्रामाणिकता, विश्वसनीयता, सैद्धांतिकता, चारित्रिक सुदृढ़ता हो।

7 आर्यसमाजियो की कथनी और करनी मे अन्तर न हो। वह सत्यवादी, साहसी, निर्भीक, सद्व्यवहारी, श्रद्धा एव तर्क मे सतुलन होकर व्यवहार करने वाला हो।

8 वेदोपनिषद तथा आर्यग्रथो एव ऋषि प्रणीत ग्रथो का निरतर स्वाध्याय हो।

9 स्वार्थ, लोभ, अर्थलिप्सा, पक्षपात का सर्वथा त्याग हो।

10. आर्यजन मनसा वाचा कर्मणा सचमुच ही आर्य हो अर्थात् सदाचारी, धर्मात्मा, ईश्वरभक्त एव परोपकारी हो। व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है।

11 आर्यसमाज को वेदों के प्रचार प्रसार, सामाजिक कुरुतियो के उन्मूलन एव अन्धविश्वासो के मूलोच्छेदन की ओर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। भजनोपदेश, प्रचारक चलते फिरते आर्यसमाज हो।

12 शास्त्रार्थों का पुन प्रचलन होना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता एव साम्प्रदायिकता के नाम पर हमे हताश/निराश नही होना चाहिए। डके की चोट सही बात कहना चाहिए।

13 ज्वलत समस्याओ, राष्ट्रीय विषयो पर खुल कर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहिए।

14 अपने परिवारो को आर्य बनाने के लिये पूरा-पूरा प्रयास करना चाहिए। आर्यसमाज के सत्सगो मे, कार्यक्रमो मे उन्हे भी साथ लाना ले जाना चाहिए।

15 हम अपने से प्रेम रखे। नैष्ठिक तपोनिष्ठ कार्यकर्त्ताओ को आगे बढाये। टाग खिचाई न हो तथा पदलोलुपता के शिकार न बनें।

16 आर्यसमाज मे युवको को अधिकाधिक आकर्षित करें। आर्य वीर दल, आर्ययुवक परिषद, आर्य कुमार सभा आदि का गठन करे।

17 महिलाओ को भी आगे बढावें, सभी कार्यक्रमो मे उनका योगदान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

18 आश्रम व्यवस्था का पूरा पालन होना चाहिए।

19. प्रात साय ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि का पूर्णत पालन होना चाहिए।

20. आर्यजनो को स्वय कष्ट उठा कर भी दूसरो का भला करने का निरतर प्रयास करना चाहिए। परोपकार को कभी नही भूलना चाहिए।

—रासासिंह

आर्य पत्रों का गिरता हुआ स्तर

—डा भवानीलाल भारतीय—

मैं गत 39 वर्षों से निरन्तर आर्यसमाज के पत्रो में लिखता आ रहा हूं। मेरा प्रथम लेख 1950 मे छपा था। प्राय सभी आर्य पत्र मेरे लेख छापते हैं तथा आर्यसमाज के सभी वर्तमान एव विगत सम्पादको से मेरे स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। किन्तु मैं गत कुछ वर्षों से यह अनुभव कर रहा हूं कि आर्यसमाज की पत्र पत्रिकाओ का वैचारिक स्तर निरन्तर गिर रहा है। इसके कई कारण हैं। यथा

अधिकाश आर्य पत्र सभा सस्थाओ के गजट या सूचना पत्रक होते हैं। उनमे मौजूदा अधिकारियो की स्तुति या प्रशस्ति के अतिरिक्त बहुत कम पठनीय सामग्री होती है।

2 अधिकाश पत्रो की देख-रेख सभा के वैतनिक कार्यालय-इ चार्ज (हैड क्लर्क) के जिम्मे होती है व्यक्ति को पत्रकारिता का स्वरूप बोध भी नही होता। वेतन देकर योग्य व्यक्ति को पत्र का सम्पादन कार्य हमारी सभायें देती ही नही।

3 कुछ योग्य सपादक हैं किंतु या तो आर्यसमाज की विचारधारा से अनभिज्ञ हैं या उन पर हिन्दुत्व का भूत इतना अधिक सवार रहता है कि जाने अनजानेऐसी सामग्री छाप देते हैं जो आर्यसमाज के सिद्धातो के विपरीत होती है।ऐसे पत्र भी हैं जो यद्यपि हजारो पाठको तक पहुचते हैं किन्तु उनमे दयानन्द कीअपेक्षा वीर सावरकर, बलराज मधोक तथा विश्व हिन्दू परिषद के विचारो को ही प्रमुखता से छापा जाता है।

4 सम्पादक सर्वज्ञ नही होता किन्तु उससे अपेक्षा की जाती है कि वह सतर्क और सावधान होकर सामग्री आर्य अपने पत्र मे दे। पत्रो की कुछ भूलो का निर्देशन करना चाहता हू।

(अ) 'सार्वदेशिक' हमारी शिरोमणि सभा का मुख पत्र है। इसके गत ऋषि बोध रात्रि विशेषाक मे स्वामी दयानन्द का स्वय का लिखा एक लेख छपा है। उसका शीर्षक है- सदाचार। वस्तुत यह लेख आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का लिखा नही है। इसके लेखक दयानन्द नामक एक सनातनी सन्यासी हैं जो बगाल के थे और 'स्वामी दयानन्द बी ए' के नाम से भारतधर्म महामण्डल (सनातनी सस्था) के प्रचारक थे। इन सनातनी दयानन्द के लेख को ऋषि दयानन्द के नाम से छापने की भूल पहली बार नही हुई है। 1959 मे जब ऋषि दयानन्द की दीक्षा-शताब्दी के अवसर पर सार्वदेशिक ने अपना विशेषाक छापा था, उसी मे पहली बार इस लेख को ऋषि का नाम देकर सगर्व प्रकाशित किया गया। उस समय सम्पादक मण्डल मे आचार्य विश्रवा जी भी थे। किन्तु शीघ्र ही इस भूल का ज्ञान हो गया और सार्वदेशिक मे तत्काल स्पष्टीकरण दिया गया कि इस लेख के लेखक सनातनी दयानन्द है न कि ऋषि दयानन्द। यही गलती अब 30 वर्ष बाद सम्पादकीय प्रमाद के कारण पुन हुई है। आशा है सार्वदेशिक मे इसका स्पष्टीकरण कर दिया जायेगा।

(आ) सम्पादको को चाहिए कि वे सिद्धात विरोधी बात पर अपनी टिप्पणी अवश्य लगायें किन्तु असावधानी या अज्ञानवश ऐसा नही होता। एक प्रसिद्ध आर्य साप्ताहिक ने एक व्यक्ति का पत्र प्रकाशित किया जिससे यह ध्वनि निकलती है कि ऋग्वेद मण्डल 2सूक्त 6 मत्र 1 मे इस देश का नाम भारत वर्णित है। न तो लेखक को और न सम्पादक को ही इस बात का ध्यान रहा कि वेदो मे देश विशेष की चर्चा नही है। वेदो मे किसी देश या काल विशेष का उल्लेख नही होता।

आर्यसमाज के पत्रो के गिरते स्तर पर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु अब तो मुझ जैसे सिद्धात निष्ठ लेखक की अन्य बातो को पढने से भी कइयो को झुंझलाहट होती है। कई पत्र तो मेरे लेख छापने भी नही यद्यपि हमसे कम गुणवत्ता वाले नौसिखुओ की रचनायें छाप देते है। किन्तु मुझे भी आर्य पत्रो मे लिखने का मज है। चालीस साल की आदत छूटती भी तो नही। कभी-कभी तो अनुभव होता है कि इन पत्रो मे सामयिक लेखन के फेर मे पडकर मैं गम्भीर लेखन की उपेक्षा कर रहा हू। यह बहुत अश मे सत्य भी है किन्तु कलम घिसने का भी एक नशा होता है जो इतना जालिम है कि कम्बख्त छूटता भी नही। 'आर्य पुनर्गठन' अल्पकाय होते हुए भी आर्य सिद्धातो के प्रति कट्टर निष्ठा रखता है अत यह पत्र साधुवाद का पात्र है।

जातीय श्रेष्ठता का दंभ

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

गत दिनो राजस्थान के अलवर जिले के एक गाव मे सवर्णों ने एक हरिजन बारात के दूल्हे को घोडी पर नही चढने दिया। इसके लिए उन्होने हरिजनो से दुर्व्यवहार भी किया। इस घटना के समाचार को जानकर समाज के सभी प्रगतिशील व्यक्तियो को दुख होना स्वाभाविक है।

आजादी के इतने वर्ष बाद भी एक दूल्हे को जन्मगत जाति के तथाकथित ब्रह्म के नाम पर घोडी पर न बैठने देना, स्वतन्त्र भारत के तमाम बुद्धिजीवियो, समाज सुधारको और राजनेताओ की योग्यता पर प्रश्न चिह्न लगाता है। आखिर इतने समय मे भी हम समाज के वर्ग विशेष को उनका समानता का अधिकार नही दिला पाए है।

राजस्थान के मुख्यमत्री श्री शिवचरण माथुर व उनके जैसे विचार रखने वाले राज्य के अन्य राजनेताओ से भी यह पूछा जा सकता है कि जब अग्निवेश ने नाथद्वारा के मदिर मे हरिजनो को प्रवेश कराने की बात की थी तो उन्होने किस आधार पर हरिजनो के प्रति समानता का व्यवहार होने का दावा किया था। क्या उनके दावे की पोल को अलवर के इस काड ने पूरी तरह उजागर नही कर दिया है।

अलवर मे हरिजनो के साथ हुए दुर्व्यवहार की यह कोई एक मात्र घटना नही है। राजस्थान मे इसी वर्ष ऐसी ही एसी दो घटनाए पहले भी हो चुकी हैं। लेकिन आरक्षण का चारा फेंककर वोटो की फसल काटने की कोशिश मे लगी किसी भी राजनीतिक पार्टी ने इस सबध मे कुछ भी करने की कोई आवश्यकता नही समझी है। (सभी वोटो की राजनीति जो करते है।)

हरिजनो से हो रहे दुर्व्यवहार के बीच ही एक ओर केन्द्र की इका सरकार चुनावो के नजदीक होने के कारण अनुसूचित जाति एव अनुसूचित जनजाति के रिक्त आरक्षित पदो को शीघ्र भरने की मुहिम चला रही है। क्या इसके इस अभियान को भी अपरोक्ष रूप मे वर्गभेद भडकाने का दोषी नही कहा जा सकता? यो आरक्षण का विरोध करने वाले व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे, लेकिन जिस तरह स इन आरक्षित रिक्त पदो को भरने की धुआधार मुहिम चलायी जा रही है, उससे कथित सवर्णों के मन मे हरिजनो के प्रति एक नाराजगी का उत्पन्न कोई अस्वाभाविक नही है। लेकिन क्षुद्र स्वार्थों में अकडी सरकार क्या इसे कभी समझ सकती है? नही, वह इस तथ्य को नही समझेगी। सत्य यह है कि आज जो काशीराम इका का सिरदर्द है, वह उसी नीतियो का फल है और यदि भविष्य मे यदि सवर्णो मे काशीराम उभरता है तो वो भी सरकार की गलत नीतियो की उपज ही होगा।

अलवर मे हरिजन दूल्हे के साथ हुए दुर्व्यवहार ने देश के सभी राजनेताओ, बुद्धिजीवियो एव समाज के सभी जागरूक लोगो को जातिवाद एव अस्पृश्यता की समाप्ति के विषय मे नए सिरे से विचार करने की पुन प्रेरणा दी है और इसका लाभ उठाया जाना चाहिए।

दयानन्द शोधपीठ को मान्यता

अजमेर विश्वविद्यालय ने गत कई वर्षों से आचार्य दत्तात्रेय आर्य के निर्देशन मे सचालित दयानन्द शोधपीठ को मान्यता प्रदान कर दी है। यह जानकारी शोधपीठ के एक प्रवक्ता ने दी।

प्रवक्ता ने बताया कि विश्वविद्यालय ने एम फिल पी एच डी और विद्या वारिधि की शोध उपाधियो के लिए मान्यता प्रदान की है। अब शोधपीठ के शोधछात्र इन उपाधियो के लिए शोधकार्य कर सकेंगे।

प्रवक्ता ने अपनी विज्ञप्ति मे बताया है कि अभी तक शोधपीठ कई उच्च स्तरीय शोध ग्रथो का प्रकाशन कर चुकी है और निकट भविष्य मे ही श्री दत्तात्रेय के निर्देशन मे लिखित 'वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता' नामक एक महत्त्वपूर्ण शोध ग्रथ का प्रकाशन होने जा रहा है।

पत्र और विचार

'[illegible]आर्य मित्र' का सिद्धान्त विरोध

'आर्यमित्र' के [illegible] विषयक लेख पर मैंने संपादक को पत्र [illegible] कर विरोध व्यक्त किया था। [illegible] पर आर्यमित्र के प्रबन्ध संपादक श्री इन्द्रदेव पाठक का उत्तर आया कि वर्तमान हिन्दू धर्म ही वैदिक धर्म है। वस्तुतः ऐसा उत्तर कोई विश्व हिन्दू परिषद का व्यक्ति ही दे सकता था। मैंने इस पत्र के विरोध स्वरूप पत्र के संपादक को लिख भेजा [illegible] मैं आपके पत्र का ग्राहक नहीं [illegible] रहना चाहता।

वास्तव में श्री इन्द्रराज का हिन्दुत्व के प्रति मोह जग जाहिर है, तभी वे स्वामी अग्निवेश की पुरा महादेव की पाखण्ड विरोधी पदयात्रा में भी सम्मिलित नहीं हुये थे। जबकि वह स्थान उनके गृह जिले मेरठ में ही स्थित है।

—इन्द्रजित् देव
यमुनानगर (हरियाणा)

क्यों है...

शेष पृष्ठ 1 का

कुरीतियों के शिकार हो जाते हैं जिनका आर्यसमाज विरोध करता रहा है। इतना ही नहीं वे स्वयं अपनी जाति के सदस्यों के बल पर निर्वाचित होकर आर्यसमाज में भी उन सुधारों के संबंध में ढुलमुल नीति अपनाते हैं।

आर्यसमाज और राजनीति—यही स्थिति उन आर्यसमाजियों की भी है जो ऋषि दयानन्द की राजार्य सभा की मान्यता की दुहाई देते हैं अथवा स्वाधीनता आंदोलन में आर्य समाज के योगदान और उसके राष्ट्रीय स्वरूप की बात करते हैं। स्वामी जी ने राजार्य सभा का आर्य राज्य व्यवस्था के एक अंग के रूप में प्रतिपादन किया है न कि दलगत राजनीति के लिये उसका उपयोग करने के लिए। जहां तक आर्य समाज के राष्ट्रीय स्वरूप और स्वाधीनता आंदोलन में योगदान का प्रश्न है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दोनों क्षेत्रों में भी आज आर्यसमाज का नेतृत्व नहीं है और न ही विशेष प्रभाव। जो आर्य समाजी विधानसभा या मन्त्रिमण्डल आदि में स्थान प्राप्त करते हैं उन्हें भी अपने राजनीतिक दल की इन मान्यताओं के कारण आर्यसमाज के सिद्धांतों की उपेक्षा करने पर विवश होना पड़ता है। जब ऐसे आर्य नेता या सांसद मंदिरों, दरगाहों तथा तीर्थ स्थानों में जाकर पूजा अर्चना या जियारत करते हैं तो उनसे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वे सक्रिय राजनीति में रहकर आर्यसमाज की मान्यताओं और संगठन को प्रभावशाली बनाने में कोई सहयोग दे सकेंगे।

धर्म निरपेक्ष या सर्वधर्म सापेक्ष राज्य—वस्तुतः महात्मा गांधी के नेतृत्व में हमारी देश की राजनीति ने एक ऐसा मोड़ ले लिया कि जिसके कारण विशुद्ध भारतीय राष्ट्रीयता के स्थान में हिंदू मुस्लिम आदि के धार्मिक मतभेदों की अराष्ट्रीय विचार धारा का उसमें समावेश हो गया है। रही सही कसर सर्वधर्म सापेक्षता के रूप में धर्म निरपेक्षता के विकृत रूप ने पूरी कर दी है। एक धर्म के नाम पर होने वाले अन्धविश्वासों और दकियानूसी रीति रिवाजों से राज्य व्यवस्था को मुक्त रखने के प्रशंसनीय उद्देश्य के स्थान में अब राज्य द्वारा सब धर्मों के अन्धविश्वासों तथा समाज तथा राष्ट्र विरोधी मान्यताओं तक का समर्थन किया जाने लगा है।

असफल प्रयोग—स्वयं आर्य समाज के नाम से जब कभी कोई 'आर्य सभा' या पं. बुद्धदेव जी की कल्पना का 'वर्णाश्रम संघ' जैसा राजनीतिक संगठन बनाने का प्रयत्न किया गया तो वह बुरी तरह से असफल रहा। आज यह कल्पना करना भी कठिन है कि केवल आर्य समाज के नाम पर कोई व्यक्ति राजनीतिक चुनाव जीत सकेगा। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों की महत्वाकांक्षा या स्वार्थसिद्धि के लिये आर्य समाज के नाम का दुरुपयोग नहीं करने दिया जाना चाहिये। आर्य समाज के नाम पर चुनावों में इस प्रकार की बुरी असफलता केवल उसकी निर्बलता और प्रभाव हीनता का ही कलंकीय प्रदर्शन होगा।

राजनीति से हानि—राजनीतिक दलों के अनुयायी जब आर्य समाज में सक्रिय होने लगते हैं तो वे राजनीति को आर्यसमाज से प्रभावित करने के स्थान में आर्यसमाज को ही अपने राजनीतिक विचारों से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के व्यक्ति आर्यसमाज में भी ऐसे मतभेदों और दलबन्दी को जन्म देते हैं, जिनका आर्य समाज की मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये राजनीति के प्रतिकूल क्षेत्र के स्थान में यदि आर्यसमाज अपने धार्मिक और सामाजिक स्वाभाविक क्षेत्र में अपनी स्थिति को मजबूत करता है तो न केवल उसमें सफलता ही मिलेगी बल्कि वह अप्रत्यक्ष रूप से अपनी शक्ति और संगठन का उपयोग राजनेताओं को आर्यसमाज के कार्यों में सहयोग देने के लिए प्रेरित और प्रभावित करने के लिए कर सकता है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज में राजनीतिक नेताओं के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं रहेगी बल्कि राजनेता स्वयं आर्यसमाज के पीछे भागेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि आर्यसमाज को अपनी दयनीय स्थिति से उभर कर पुनः एक शक्तिशाली क्रांतिकारी आन्दोलन बनना है तो उसे जातपात और राजनीति के इन दोनों कुप्रभावों से सुरक्षित रखना होगा।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 मगलवार, 15 अगस्त, 1989
अक 15 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

श्रावण शुक्ला 13 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

जन्म जयन्ती पर विशेष

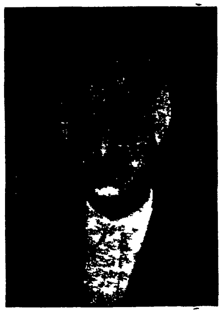
सेवा और संघर्ष के पुरोधा: कर्मवीर पं. जियालालजी

— रासासिह —

सेवा और सघर्ष के पुरोधा, दयानन्द कालेज अजमेर के सस्थापक, आर्य समाज अजमेर के उन्नायक एवं विस्तारक, हिन्दी-हिंदू-हिंदुस्तान के रक्षक एव प्राणाधार, अदम्य साहसी एव निर्भीक आर्य नेता कर्मवीर प. जियालाल जी का जन्म श्रावणी पूर्णिमा सम्वत् 1946 वि. तदनुसार सन 1889 ई मे बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) मे हुआ था।

उनकी कर्म एव सवास्थली अजमेर और राजस्थान बना। अक्टूबर, 1908 ई मे व नौकरी हनु अजमर आय और फिर व मदा के लिये यही क ही गये। 19 दिसम्बर 1961 ई को इस महान साहसी, कमठ, आर्य नना क देहान्त मे अजमेर के सार्वजनिक जीवन और सेवा भाव का एक युग समाप्त हो गया। 53 वर्ष का अजमेर मे बीता यह लम्बा समय उनके अदम्य उत्साह, तजस्वी व्यक्तित्व, असाधारण लगन और अनुकरणीय आत्मसमर्पण का एक ऐसा इतिहास है जिसका उदाहरण अब हमारे सार्वजनिक जावन म मिलना कठिन है।

सार्वजनिक काय और सेवा उनका पेशा' नही बल्कि धुन और लगन तथा आर्य समाज क प्रति अनन्य निष्ठा परिणाम था। अपनी जीविका अथवा व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए उन्होने जनता के एक पैसे का भी कभी उपयोग नही किया यद्यपि सार्वजनिक कार्यो के लिए उनके द्वारा लाखो रुपये का सग्रह हुआ।



ऋषि दयानन्द के मिशन क प्रति उनकी लगन और श्रद्धा इतनी अटूट थी कि वे अपने आपको दयानन्दी और दयानन्द का अन्ध भक्त कहा करते थ। एक निर्भीक आर्यसमाजी के नाते देश की स्वाधीनता के राष्ट्रीय आदोलन के साथ उनकी सहानुभूति स्वाभाविक रूप से थी और अपन निष्कपट तथा दृढ स्वभाव के कारण राष्ट्रीय कायकर्ताओ, नेताओ तथा क्रातिकारियो को सक्रिय सहयोग भी देते थे किन्तु कट्टर अहिंसा और साम्प्रदायिक तुष्टिकरण की गाधीजी को नीति से उनका मतभेद रहा।

बाबूजी के नाम से विख्यात कर्मवीर प जियालाल जी के सार्वजनिक जीवन की एक और विशेषता थी कि वे एक बार जिस कार्य को करने का सकल्प कर लेते थे उससे वे कभी पीछे नही हटने थ। हैदराबाद के आय सत्याग्रह अथवा पजाब के हिंदी आदोलन मे जहा देश के अन्य स्थानो से व्यक्ति या जत्थे गए वहा प डित जी न स्पेशल ट्रेन सत्याग्रहियो की भेजी। छूआछूत को मिटाने के लिये अजमर मे आनासागर की बारादरी पर बडे-बडे प्रीतिभोजो का आयोजन किया जिसमे ब्राह्मण और हरिजन साथ बैठकर भोजन करत थे।

उन्होने 1939-40 मे युद्ध-जन्य विषम परिस्थितियो मे अजमेर म दयानन्द कालेज की स्थापना करने की घोषणा की और जी-जान से जुट गये।

उनके साथियो के पैर डगमगाने लग गये तथा अजमेर के आर्य सामाजिक जगत मे दलबन्दी भी अपनी चरम सीमा पर थी परन्तु धुन के धनी, साधारण पढे लिखे उस साहसी, सघर्षशील व्यक्तित्व के धनी ने रात दिन एक कर दिया और विशाल भूभाग प्राप्त कर आर्य जगत् के तत्कालीन मूर्धन्य सन्यासी वीतराग श्री स्वामी सर्वदानन्द के पवित्र कर—कमलो से दयानन्द कालेज की स्थापना करवा दी। आज यह कालेज एक लघु विश्वविद्यालय बन गया है और उनकी कीर्ति का यश स्तम्भ है।

कमवीर प जियालाल जी गरीबो और दीन दुखियो की सहायता को सदैव तत्पर रहते थे। उनकी कार्य शक्ति, प्रबन्ध शक्ति योजना शक्ति एव नेतृत्व क्षमता अनुपम थी। उनका तन, मन, धन, आर्यसमाज को अर्पित था। राजस्थान के आर्य सामाजिक इतिहास म कर्मवीर प जियालालजी जैसी अमर विभूति का नाम सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। 'आर्य पुनगठन' परिवार की ओर से इस महान आर्यनेता का विनम्र श्रद्धाजली।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक रासासिह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

'योगक्षेमो नः कल्पताम्'

हमारा देश 15 अगस्त 1947 ई को अग्रजो की पराधीनता से मुक्त हुआ। यह दिन स्वतन्त्रता दिवस के रूप मे हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। भारत लगभग 700 वर्ष तक आपसी फूट अनेकता साम्प्रदायिक वितण्डावाद, केन्द्रीय सत्ता के अभाव मे पराधीनता की बेड़ियो मे जकड़ा रहा। अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की मोहम्मद गौरी के हाथो छलकपट मे हुई पराजय के कारण 1192 ई से हा पराधीनता के अंकुर पनपे थ। अंतिम विदेशी शासक अग्रज थे। परन्तु इस देश की मूल राष्ट्रीय धारा ने कभी भी अन्तरात्मा से इस गुलामी को स्वीकार नहीं किया था।

कभी महाराणा प्रताप कभी छत्रपति शिवा जी कभी गुरु गोविन्द सिंह हेमू बन्दा वैरागी राव तुलाराम झांसा की रानी लक्ष्मीबाई तात्याटोपे बहादुरशाह जफर आदि के रूप मे समय समय पर स्वतन्त्रता की चिनगारी प्रज्वलित होती रही।

1875 ई म महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की तथा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश मे प्रथम बार स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया महर्षि ने स्पष्ट उद्घोषणा की थी कि अन्य देश वासी राजा हमारे देश मे न रहे तथा हम पर धीन कभी न रहे। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि सर्वोत्तम होता है अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये के पक्षपात से शून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ भी विदेशियो का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।

1885 ई मे कांग्रेस की स्थापना हुई। 1927 में कांग्रेस के मच से पूर्ण स्वराज्य के ध्येय की घोषणा की गई और 1929 ई मे स्वराज्य प्राप्ति के लिये सघर्ष की घोषणा की गई जो 26 जनवरी 1930 ई मे प्रस्ताव के रूप मे पारित हुई और फिर आजादी का सघर्ष जोर शोर से छिड़ा। 1916 मे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है की उदघोषणा की थी। 1920 21 मे महात्मा गाधी के नेतृत्व म असहयोग आन्दोलन अहिंसात्मक सत्याग्रह 9 अगस्त 1942 से प्रारम्भ करो या मरो एव अग्रजो भारत छोडो आन्दोलन क्रातिकारियो के अदभुत बलिदानो आजाद हिन्द फौज के सघर्ष नाविक विद्रोह आदि की चरम परिणति स्वाधीनता के रूप म चरित थ हुई तथा 15 अगस्त 1947 ई को भारत स्वतन्त्र हुआ।

आजादी के इस पावन यज्ञ मे सर्वाधिक योगदान और बलिदान महर्षि दयानन्द की विचारधारा से अनुप्राणित आर्य-समाज की विचार धारा के लागो ने दिया। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय शहीद भगत सिंह भगतसिंह रामप्रसाद बिस्मिल भाई परमानन्द लाला हरदयाल वीर विनायक दामोदर सावरकर श्याम जी कृष्ण वर्मा आदि का उल्लेख भारतीय स्वाधीनता सग्राम के इतिहास मे अविस्मरणीय है।

भारत का स्वाधीन हुए 42 वर्ष हो गये। राष्ट्र के नवनिर्माण एकता और अखण्डता का रक्षा विघटनकारी एव आतकवादी देश द्रोही ताकतो का शमन चरित्र निर्माण भारतीय अस्मिता एव सस्कृति की रक्षा वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार शिक्षा अस्पृश्यता उन्मूलन मानव निर्माण योजना हिंदी हिंदू हिंदुस्तान की रक्षा सस्कृत एव हिंदी का सरक्षण आदि राष्ट्रीय कार्यो म आर्यसमाज अपना शक्ति सामर्थ्यानुसार निरन्तर प्रयत्नशील है पर तु फिर भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

सर्वधर्म समभाव अल्प सख्यको के तुष्टिकरण वोट की राजनीति स्वार्थ एव सत्तालोलुपता आदि के कारण आज देश मे घोर निराशा का वातावरण है ऐसे समय आर्य समाज के आदोलन की महती आवश्यकता स्पष्ट है।

वेद के इस सदेश को घर घर हमे पुन पहुचाना होगा कि "माताभूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या (अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ) एव यतेमहिस्वराज्ये (हम स्वराज्य के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे तथा वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता (राष्ट्र के अग्रगण्य नेता लोग निरन्तर जाग्रत और सजग रहें)। तभी वय जयेम अर्थात् हम विजयी होगे यह आशा की जा सकती है।

यजुर्वेद के 22 वे अध्याय के 21 वे मन्त्र म जो वैदिक राष्ट्रगीत दिया हुआ है— ओ३म आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम योगक्षेमो न कल्पताम उसमे व्यक्त भावना हमे चरितार्थ करनी होगी जिसका काव्यानुवाद निम्नप्रकार से हमे प्रेरणा देता है—

ब्रह्मन ! स्वराष्ट्र मे हो द्विज ब्रह्म तेजधारी।
क्षत्रिय महारथी हो अरिदल विनाशकारी।
होवे दुधारू गौए पशु अश्व आशु वाही।
आधार राष्ट्र की हो नारी सुभग सदा ।।
बलवान सभ्य योद्धा यजमान पुत्र होवे ।
इच्छानुसार वर्षे पर्जन्य ताप धोवे ।।
फलफूल से लदी हो औषध अमोघ सारी।
हो योग क्षेम कारी स्वाधीनता हमारी ।।

—रासासिंह

आर्यसमाज के गौरव का अनूठा अध्याय

आज से 50 वर्ष पूर्व सन 1939 ई मे आर्यसमाज ने दुनिया के सब से धनी मानी और निरकुश एव बड़े शासक निजाम हैदराबाद के अत्याचारो से पीडित आर्य हिंदू जनता की मुक्ति और कल्याण के लिये, वैदिक सस्कृति के मूल्यो की रक्षा के लिये आर्य सत्याग्रह का बिगुल बजाया था जो आर्यसमाज के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अनूठा अध्याय रहा है। तभी तो एक ऋषिभक्त कवि ने लिखा है कि

'तेरे दीवाने जिस घडी दक्षिण दिशा को चल दिये।
हैरत मे लोग रह गये दुनिया का दिल हिला दिया।।
धन्य है तुझको ए ऋषि तूने हमे जगा दिया।
सो सो के लुट रहे थे हम तूने हमे बचा दिया।।

आर्यसमाज के शिरोमणि सगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के तत्वावधान मे हैदराबाद का यह धर्मयुद्ध (आर्य सत्याग्रह) लगभग 8 माह तक चला। यह दुधर्ष सत्ता एव कठमुल्ले धर्मान्ध शासको के विरुद्ध धार्मिक एव सामाजिक अधिकारो की प्राप्ति के लिये धर्मयुद्ध था। लगभग देश के सभी भागो से इस आर्य सत्याग्रह म 10569 आर्यवीरो ने भाग लिया और निजाम जेलो मे जुल्म सहे। 2000 सत्याग्रही सत्याग्रह समाप्त होने के समय जेल जाने की प्रतीक्षा मे थे। इस प्रकार कुल 12569 सत्याग्रही थे। इस अहिंसक सत्याग्रह मे निजाम की जेलो मे रहकर जीवन की आहुति देने वाले बलिदानी वीरो की सख्या तीस से भी अधिक थी। इस सत्याग्रह के सचालन मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का लगभग 8 लाख रुपये का व्यय हुआ। लगभग इतना ही व्यय अन्य व्यक्तियो और आर्यसमाजो आर्यसस्थाओ द्वारा भी हुआ।

अजमेर तथा विशेषत आर्यसमाज अजमेर का भी इस धर्म युद्ध मे कर्मवीर प जियालाल जी के नेतृत्व मे अनुपम योगदान रहा। सत्याग्रहियो के जत्थे धन स्पेशल ट्रेन भेजने मे आर्यसमाज अजमेर अग्रणी रहा। विजय नामक तत्कालीन आर्यसमाज अजमेर के मुखपत्र ने जन जागरण मे विशेष भूमिका निभाई तथा हैदराबाद सत्याग्रह विशेषाक भी प्रकाशित हुआ।

सार्वदेशिक सभा द्वारा इस बार इस हैदराबाद सत्याग्रह की स्वर्ण जयन्ती मनाने का आह्वान हुआ है। हर्ष का विषय है कि सभा के प्रयत्नो से इस महान सत्याग्रह को स्वाधीनता सग्राम का अग मान लिया गया है और कई जीवित धर्मयोद्धाओ को स्वाधीनता सेनानी पेंशन भी मिलने लगी है इसके लिये सार्वदेशिक सभा तथा आर्यजनता बधाई के पात्र हैं। —रासासिंह

पन्द्रह अगस्त आया, क्या खोया, क्या पाया ?

—बुद्धिप्रकाश आर्य—

15 अगस्त, स्वतन्त्रता के स्वर्णिम विहान की स्मृति को ताजा करने के लिये फिर आया और औपचारिकताओ के साथ, एक वर्ष पुन आने के लिए गत हो जायेगा। पर्वों की गतानुगतिकता के समान ही 15 अगस्त का स्वरूप बन चुका है। स्वतन्त्रता प्राप्ति मे जिन राष्ट्र-भक्तो और बलिदानियो ने सर्वस्व स्वाहा कर डाला, हस-हसकर मृत्यु का वरण किया 15 अगस्त को उन्ही शहीदो की आत्माओ को कचोटने वाली थोथी औपचारिकताओ को पूरा करके हम अपनी इतिकर्त्तव्यता मान कर सतुष्ट हो लेते है। खेल-कूद मार्चपास्ट, सारहीन भाषण, मिठाइयो और तालियो की गड-गडाहट के बीच स्वतन्त्रता का दर्द भरा इतिहास, सिसकिया भरता हुआ दयनीय भारत माता का हृदय, सब कुछ, स्मृति पथ से ओझल हो जायेगा। युवा पीढी तो इसे छुट्टी का तथा मौजमस्ती उडाने का दिन मान बैठी है। गाधी, जवाहर, सुभाष, लालबहादुर जैसे देश के सपूतो को तो वह रामायण, महाभारत कालीन पात्र मानकर उनके त्याग और बलिदानो को काल्पनिक मान बैठी है। क्या होगा इस देश का ? प्रश्न बडा गम्भीर और चिन्तनीय है। आज की युवा पीढी का कौनसा युग धर्म है ? उनका गन्तव्य क्या है, लक्ष्य क्या है ? उनकी नैतिक पृष्ठ भूमि मे कुछ भी ऐसा बचा है जिससे राष्ट्र रक्षा, अस्तित्व रक्षा तथा भारतीय आत्मा की रक्षा की आशा की जा सकती है ? इसका निर्णयात्मक उत्तर तो कोई आपस्तम्ब जैसा ऋषि ही दे सकता है। देश के नेताओ की स्थिति भी किसी से छिपी नही है। कुर्सी उनका धर्म, पैसा उनका ईश्वर एव मन वचन कर्म की भिन्नता उनका ईमान बन चुका है। इन नेताओ ने प्रजातन्त्र जैसी आदर्श व्यवस्था को कुर्सी तन्त्र किंवा भीड तन्त्र का भौंडा स्वरूप दे डाला है। आज के शासको ने इब्राहीम लिंकन द्वारा निर्धारित प्रजातन्त्र की परिभाषा को विकृत करके जो रूप दे डाला है वह निम्न वाक्य मे दृष्टव्य हैं Democracy is the government of the people for the people, by the people. सचमुच वोट के लिये आज का नेता सौदा करता है और वोट लेकर जनता से दूर होकर स्वार्थ का नगा नाच नाचने लगता है। जन सेवा का नारा एक ढोग बन गया है।

आज के गिने चुने, पुरानी पीढी के सच्चे-पक्के राष्ट्र भक्त 15 अगस्त के दिन चिता की ज्वाला मे जलने लगते हैं, वे पुरानी स्मृतियो के साकार होने पर सोचने को विवश हो उठते है कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता के इस महान बोझ को, क्या नैतिक मूल्यो से हीन आज की युवा पीढी के दुर्बल कन्धे उठा सकेंगे। क्या इस स्वतन्त्रता का अस्तित्व इनके हाथो मे सुरक्षित रह सकेगा ? यह राष्ट्र इन मन्तहीन समस्याओ का अभिशाप कब तक भोगेगा ? विकृत प्रजातन्त्र मे आतकवाद, भाई-भतीजावाद, भाषा व प्रात वाद, अलगाववाद तथा स्वार्थवाद को जन्म देकर राष्ट्र को भयकर भ्रष्टाचार के क्रूर पजो मे जकड कर रख दिया है। धर्म निरपेक्षता, धर्महीनता अर्थात् सदाचार विहीनता बन गई है। अल्प सख्यक वर्ग ने राष्ट्र की स्थिति साप, छछून्दर जैसी बना डाली है। अग्रेजी भाषा और पश्चिमी सभ्यता के व्यामोह ने भारतीय सस्कृति के अस्तित्व नाश का खतरा उत्पन्न कर दिया है। आज से 42 वर्ष पूर्व जिस भारतीय जनता मे गाधी, नेहरू तथा लालबहादुर जैसे महामानवो का चयन करने का विवेक विद्य मान था,वह विवेक वोट खरीदने की पैंतरेबाजी ने नष्ट करके रख दिया है। आज स्थिति यह है कि हम दुखी हैं, बेरोजगार हैं, प्रशासन की भ्रष्टाचारी नीति से सत्रस्त है तथा सरकार को, शासन का गालिया देते है फिर भी बहुमूल्य कहा जाने वाला वोट उन्ही की मतपटियो मे गिराया जाता है। विवेकहीन प्रजातन्त्र अराजकतावाद की ओर बढ रहा है। 15 अगस्त इन्ही समस्याओ के चिन्तन का महापर्व है। इन्ही समस्याओ पर खुलकर वार्ता करने का महोत्सव है। सुधार लाने का सकल्प लेने का त्यौहार है। 15, अगस्त राष्ट्र भक्ति का प्रण लेने का पर्व है। युवा पीढी को सुसस्कृत, राष्ट्र भक्त तथा भारतीयता से ओतप्रोत बनाने की व्यवस्था जुटाने का पवित्र दिन है। 15 अगस्त के पावन पर्व पर हमे सकल्प लेना है कि प्रजातन्त्र की पवित्रता पुन कायम करेंगे तथा धूत, लम्पट व भ्रष्ट तत्वो से इसे मुक्त करायेंगे जो शासन मे पैसे के बल घुसे हुए हैं। यह पर्व क्रान्ति का शख फूकने का पर्व है जिसकी पवित्र ध्वनि से राष्ट्र द्रोहिता का प्रदूषण विरोहित हो सके।

इतनी विडम्बनाओ को देख सुनकर व अनुभव करके भी यदि हम नही जागते हैं तो समझिये कि हम विनाश, महानाश को आमन्त्रण दे रहे हैं। 15, अगस्त अतीत के लेखे जोखे का चिन्तन करने तथा क्या खोया ? क्या पाया ? का निर्णय करने का दिन है। यदि हमने इस ओर ध्यान नही दिया तो निश्चय मानिये कि "विनाशकाले विपरीत बुद्धि" के कथन को ही सार्थक कर रहे हैं।

ये सदियों से अपनी मां को रो रहे हैं

—सैनी अशेष—

एक बार एक सैलानी परिवार उत्तर भारत मे सैर करने निकला, ये लोग आधी रात को एक होटल मे सो रहे थे तो उनका पाच वर्षीय बालक बगल के मकानो से आने वाले लाउडस्पीकरी शोर शराबे को सुनकर उठ बैठा।

"ये लोग इतने जोर से 'मा मा क्यो चिल्ला रहे है, मा ?" उसने अपनी मा से पूछा।

ऐसा बाल सुलभ सवाल पूछने वाले बालक आज उत्तर भारत मे शायद नही रहे। यहा बालक बोलना सीखने से पहले जगराते सीखते है। जिस बालक को साफ सुथरा वातावरण दिया जाए, वह जरूर पूछेगा क्या ऐसी भी कोई मा होती है जो जगराते करने पर आती है ? क्या वह शोरशराबा पसद करती है ? कीर्तन करने वालो की असली माए क्यों कुछ नही कर पाती ? लाउडस्पीकर से मा का क्या रिश्ता है ? गीत सगीत को इस चीख पुकार के लिए क्यो इस्तमाल किया जाता है ? इस मा को बुलाने मे ठीक-ठाक माओ पिताओ और उनकी सतानो की ऐसी तैसी क्यो की जाती है ?"

जिस बालक का जन्म धर्म के ऐसे शोर शराबो मे हुआ हो, वह भी प्राय सोचता तो होगा—"वह मा अपने इन बच्चो के मुह मे अपना स्तन क्यो नही डाल जाती ?" ये इतना पुकारने है, रोते हैं, गिडगिडाते है, मा के उपकारो के उदाहरण देते है [और उसे खबर नही ये सदियो से रो रहे है, और उसके कान पर जू भी नही रेंगती। कई अपने बाप (परमपिता) को भी रोते है, जो इनके दुखो को दूर नही करता। इस ओर एक लाउडस्पीकर रोता है तो उस तरफ एक साथ चार रोने लगते हैं। मा और ईश्वर को इन खुदगर्ज लोगो ने कितना सस्ता, बेहूदा और रिश्वतखोर समझ लिया है।

महासम्मेलन

बिहार राज्य आर्य समाज प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे बिहार की राजधानी पटना के श्रीकृष्ण स्मारक हाल मे 9 एव 10 सितम्बर 1989 को विशाल वैदिक धर्म (आर्य) महा सम्मेलन का आयोजन होगा। सम्मेलन मे देश के उच्च कोटि के सन्यासी, महोपदेशक एव राष्ट्रीय नेता भाग लेंगे। उक्त अवसर पर आकर्षक स्मारिका प्रकाशित की जायेगी। —प्रधान

वार्षिकोत्सव

आर्य समाज ब्यावर (अजमेर) अपना वार्षिक उत्सव 8 व 9 अक्टूबर, 1989 को मना रहा है। प युधिष्ठिर मीमासक व सावित्री वेदाचार्या पधार रही हैं।

—सत्यप्रकाश भावर
(मन्त्री)

पत्र और विचार

आर्यो जागो !

महर्षि दयानन्द ने हमारे देश मे फैनते पाखण्ड एव मूर्नि पूजा के खडन के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर आर्य समाज की स्थापना की थी व आज समूचे भारत मे आर्य समाज खुले हुवे जरूर है मगर सक्रिय नही होकर कुभकर्ण की नीद ले रहे हैं। सार्वदेशिक एव आर्य प्रतिनिधि सभाओ के पदाधिकारी गए सिर्फ समाचार पत्रो के माध्यम स ही अपना वचस्व कायम कर रहे है। इन दोनो ही सभाओ मे आय समाज के प्रचार-प्रसार के लिये कोई भी उपाय नही तो किया है न भविष्य मे ऐसा करन का इरादा है। समाचार पत्रो मे सिर्फ लेख एव व्याख्यान प्रसारित कर देने से ही प्रचार-प्रसार नही होता। इन पदाधिकारियो को चाहिए कि वे अपने अपने क्षत्र मे जो समाज बद पडा है या उसमे शिथिलता आ गई है उन्हे जाग्रत करे। हमारे समाजो मे राजनैतिक एव राष्ट्रीय स्वय सघ के कार्यकर्ता सदस्य बनकर समाज मे घुस आये है। सभा के सदस्य एक-दूसरे पर आरोप एव प्रत्यारोप कई प्रकार के लगाते हैं, यह कहां तक सत्य एव झूठ है वह ता उच्च श्रेणी के ही लोग जानते है। अगर ऐसा हमेशा के लिये होता रहा तो एक दिन आर्य समाज की पताका रसातल मे चली जावेगी।

आर्य समाज के सदस्य आज भी मंदिर, मूर्ति पूजा, प्रसाद, श्राद्ध आदि मे विश्वास कर हवन, सध्या, वेदपाठ को करना भूल कर स्वय एव समाज दोनो को धोखा दे रहे हैं। इस प्रकार यह काय भविष्य मे अगर यू ही चलता रहा तो निश्चय ही आय समाज पुस्तको तक सीमित रह जायेगा।

—नेमीचन्द दाधीच, मन्त्री,
आर्य समाज, मेडता।

श्रावणी पर्व और हम आर्यजन

श्रावणी पर्व प्रतिवर्ष आता है और चला जाता है। हम भी पर्व का आयोजन कर अपन कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। परन्तु अब हमे इस लकार से हटना होगा। श्रावणी पर्व का ज्ञान और स्वाध्याय से अत्यन्त सबध है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। हमारे पूज्य ऋषिवर महर्षि दयानन्द ने हमे सदेश दिया है कि "वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

हमें श्रावणी पर्व पर समाजो मे पर्व मनाने के साथ-साथ अपने-अपने घरो मे भी ज्ञानाग्नि प्रज्जवलित करनी होगी। और वह वेद के स्वाध्याय तथा प्रचार प्रसार एव चिन्तन मनन से ही होगी। हम आर्यसमाज के महगे सौदे वाले कार्यक्रमो को एक ओर रखकर केवल "वेदप्रचार" के एक सूत्री कायक्रम को ही हाथ मे लेकर सकल्पबद्ध एव दृढ प्रतिज्ञ होकर जुट जावें तो उससे व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का निर्माण और कल्याण होगा, वैदिक धर्म और सस्कृति की दुन्दुभी बजेगी, अनार्य विचार धाराओ और राक्षसी दुष्प्रकृतियो का ह्रास होगा। वेद की ज्योति जलने लगेगी, ओइम् की पताका फहराने लगेगी। धर्म की जय होगी, अधर्म का नाश होगा।

—रासासिह

दयानन्द उवाच

वृक्ष-वनस्पतियों में जीव

—डॉ. बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु : स्वामी जी! क्या वृक्ष-वनस्पतियो मे भी जीव है? यदि हा ता उन्हे कूटने, पीसने और खाने से क्या हिसा नही होती है?

दयानन्द : वृक्ष वनस्पतियो मे भी जीव है। मनु ने कहा है कि जो मनुष्य तमोगुणी होते है - जिन्ह धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवक नही हैं—जिनके कर्म निन्दित हैं—जिनका आचरण कलुषित है—वे मरणोपरान्त स्थावर—वृक्ष-वनस्पति कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृगो की योनि म जन्म लेत है। और शरीर के द्वारा किए गए निन्दित कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य स्थावर—वृक्ष-वनस्पति के रूप मे जन्म लेता है। वस्तुत जो व्यक्ति विवेकहीन है— दुष्ट स्वभाव व दुष्कर्मी है, जो हिंसक है—लम्पट है पर पीडा मे रत है—प्रकृति उन्हे ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो से रहित कर, स्थावर-योनि मे डाल देती है ताकि वे पूर्व कर्मो का फल भोगे और प्रायश्चित करें। यह बात छान्दोग्य और बृहदारण्यक मे और स्पष्ट की गयी है। वहा पचाग्नि विद्या के माध्यम से आत्मा की सम्पूर्ण जीवनयात्रा का वर्णन है। इसके अनुसार श्रद्धा पद वाच्य आप का हवन जब द्युलोक की अग्नि मे होता है तो "सोम" की उत्पत्ति होती है सोम का हवन जब 'पर्जन्य" रूपी अग्नि मे होता है तो "वर्षा" की उत्पत्ति होती है, वर्षा का हवन जब "पृथिवी' रूपी अग्नि म होता है तो अन्न वृक्ष-वनस्पतियो की उत्पत्ति होती है, अन्न का हवन जब "पुरुष" रूपी अग्नि मे होता है तो वीर्य की उत्पत्ति होती है और जब वीर्य की आहुति योषा रूपी अग्नि मे दी जाती है तो—पुरुष की उत्पत्ति होती है अर्थात् जीवात्मा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर मनुष्य योनि मे पहुँचती है। वृक्ष—वनस्पतिया भी जीवात्मा के पडाव हैं—उनमे जीवात्मा सुषुप्तावस्था मे होती है, बाह्य सज्ञा न होने स उसे सुख-दुःख की अनुभूति भी नही होती। अत उन्हे कूटने, पीसने, खाने, पकाने से कोई हिसा नहीं होती।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टस बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष . 6 बुधवार, 30 अगस्त, 1989
अंक 16 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

भाद्रपद शुक्ला 1 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

पाश्चात्यों का अन्धानुकरण उचित नहीं

—स्वामी सर्वानन्द सरस्वती—

प्रोफेसर वेदव्यासजी के नेतृत्व में डी ए वी प्रबन्ध समिति नई दिल्ली ने महर्षि दयानन्द और आर्य-समाज की मान्यताओ के विरुद्ध प्रचार करने का अभियान छेड रखा है। उसकी ओर से 'The Young World' नामक एक अ ग्रेजी पत्रिका प्रकाशित होती है। प्रतिमास प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका डी ए वी पब्लिक स्कूलो मे पढने वाले लाखो विद्यार्थियो को बाटी जाती है। उसके मार्च 1989 के अ क मे एक लेख प्रकाशित हुआ है जो इस प्रकार है—

Early Aryan Culture

The original habitat of early Aryans must have been somewhere around the Cancasus in North-West Asia Being better equipped than the Dravadians and the aborigines the Aryans drove them south and east The earth, sun, dawn, fire and the wind were there deities and they prayed to them Society in Rigvedic times had not been fragmented according to professions Later on they composed the three other Vedas the Sama Veda, the Yajur Veda and Atharva Veda and the Upanishads

A little later the Ramayana of Valmiki and the Mahabharata of Vyasa came to be composed The Vedas and the epics give a picture of the society of the time The Aryans were not as yet divid d into Varnas (castes) Rituals and animal sacrifices were given prominance by the Brahmans

अर्थात्—'आर्यों का मूल निवास पश्चिमोत्तर एशिया मे कही काकेशस के आसपास था। द्रविड आदि भारत के आदिवासियो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होने के कारण आर्यों ने उन्हे दक्षिण और पूर्व की ओर खदेड दिया। पृथ्वी, सूर्य, ऊषा, अग्नि, वायु आदि आर्यों के देवता थे जिनकी वे उपासना करते थे। ऋगवेद के समय मे समाज का पेशो के आधार पर विभाजन नहीं हुआ था। बाद मे उन्होने सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा उपनिषदो की रचना की। कुछ समय बाद उन्होने वाल्मीकि रामायण तथा व्यास ने महाभारत नामक महाकाव्य की रचना की। वेदो तथा महाकाव्यो मे तत्कालीन समाज का वर्णन हुआ है। तब तक आर्यों मे वर्णव्यवस्था का प्रचलन नही हुआ था। ब्राह्मणो ने पशुबलि को महत्व दिया।'

इससे पूर्व 15 नवम्बर 1987 को डी ए वी आन्दोलन के प्रमुख प्रो. वेदव्यास जी को एक अभिनन्दन ग्रथ भेंट किया गया था। Felicitations नामक इस ग्रन्थ मे प्रो वेदव्यास जी ने लिखा है—

Iran was the homeland of the Aryans (P. 115) They invaded India. A coordinated study of the hymns of the Rigveda reveals that the struggle for dominance over Harappa was spread over six generations from Divodasa to Sudas, the grand son of the great grand son of Divodasa page 105). Both sides were fighting under the guidance of Rishies (P 105)

Sudasa, the grand son of the great grand son of Sudasa composed the Rigveda (Page 107). Some of the Vedic hymns were composed by Asura Rishies (Page 108) King Dasaratha of Ayodhya was a contemporary of Divodasa Atithigva (Page 113) The Rigveda mentions a large number of tribes which developed into Mahajanapadas of Buddhist and Pre-Mauryan period leading to the establishment of Mauryan Empire in the 4th Centaury B C (Page 106).

अर्थात्—'आय मूलत ईरान के रहने वाले थे। उन्होंने भारत पर आक्रमण किया था। ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि हड़प्पा पर अधिकार करने के लिए आर्य लोग यहा के मूल निवासियो के साथ दिवोदास से सुदास तक छह पीढियो तक लडते रहे। दिवोदास अतिथिग्व (गोनाश कराने वाले की बहुमानास्पद उपाधि) के पडपोते के पोते सुदास ने ऋग्वद की रचना की। ऋग्वेद के कुछ मत्र असुर ऋषियो ने भी लिखे थे। अयोध्या का राजा दशरथ दिवोदास का समकालीन था। ऋग्वेद मे ऐसे अनेक कबीलो का उल्लेख हुआ है जो बौद्धकाल और मौर्यकाल से पहले इतने उन्नत हो गये थे कि उन्होंने कुछ काल के बाद ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।'

इस प्रकार प्रो वेदव्यासजी और उनके यहा (डी. ए वी.) से प्रकाशित होने वाले पत्र-पत्रिकाओ के अनुसार—

1 आर्य लोग विदेशी आक्रान्ता के रूप मे पश्चिमोत्तर एशिया अथवा ईरान से भारत आये।

2 यहा के मूल निवासियों को युद्ध मे परास्त कर इस देश के स्वामी बन बैठे।

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आचार्य दत्तात्रेय के अमेरिकी विश्वविद्यालय में भाषण

अजमेर। अमेरिका के 'मार्शल विश्वविद्यालय' में वरिष्ठ शिक्षाविद् आचार्य दत्तात्रेय आर्य के भारतीय सस्कृति पर भाषण प्रारम्भ हो गये हैं।

अजमेर आर्यसमाज से मिली जानकारी के अनुसार आचार्यजी के प्रथम भाषण का विषय "भारतीय राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक सूत्र" था। उनके आगामी भाषणो का विषय भी भारतीय संस्कृति ही होगा। आचार्य जी के ये भाषण सितम्बर के द्वितीय सप्ताह तक चलेंगे।

श्री दत्तात्रेय आर्य सितम्बर के अ तिम सप्ताह में स्वदेश लौटेंगे।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक · रासासिह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या . 21010

सम्पादकीय

साप्ताहिक सत्संगों मे बहार कैसे आये ?

आर्य समाज के कार्यक्रमो मे साप्ताहिक सत्सगो का महत्वपूर्ण स्थान है। दैनिक सत्सग मे तो कार्यव्यस्ततामो, दूरवर्ती स्थान आदि के कारण प्रत्येक आर्य सदस्य का उपस्थित होना सम्भव नही परन्तु साप्ताहिक सत्सग मे प्रत्येक सदस्य महानुभाव के लिये एक अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह उपस्थित होवे।

जिस प्रकार से एक मुसलमान के लिये जुम्मे को नमाज मे उपस्थित होना आवश्यक है, जिस प्रकार से एक ईसाई के लिये रविवारीय प्रार्थना हेतु गिरजे मे उपस्थित होना आवश्यक है और एक सिक्ख के लिये गुरुद्वारे मे जाना आवश्यक है उसी प्रकार प्रत्येक आर्य पुरुष के लिये समाज भवन मे साप्ताहिक सत्सग मे उपस्थित होना आवश्यक है।

आर्यसमाज के क्षेत्र मे भी सत्सगो का अत्यधिक महत्व है। इससे सदसस्कारो के साथ-साथ सामूहिकता, पारस्परिक सौहार्द्रता, पारिवारिता तथा एकता की भावना का विकास होता है। सामूहिक यज्ञ सध्या, प्रार्थना, भजन-गान तथा प्रवचन आदि के कार्यक्रमो से मानसिक वृत्तियो का परिष्कार, सात्विकता की वृद्धि, परोपकार की भावना का विकास आस्तिकता के प्रति श्रद्धा, आर्यत्व के प्रति आस्था और विश्वास को बल मिलता है। सेवा भावना का प्रचार-प्रसार होता है। व्यावहारिकता एव शिष्टता भी बढती है।

आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ जो सदाचारी, धर्मात्मा, ईश्वर भक्त परोपकारी हो उसे आर्य कहते है। वेद' ने हमे जो आदेश दिया है कि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" अर्थात् सारे ससार को आर्य बनाओ। इसकी पात्रता प्राप्त करने के लिये पहले स्वयमार्यम्' का पाठ पढना होगा। तभी वेद के इस आदेश की अनुपालना हो सकेगी कि "अहं भूमिम् अददाम् आर्याय" अर्थात् यह भूमि श्रेष्ठजनो के लिये प्रदान की गई है" इस आर्यत्व के पाठ को सीखने की महत्वपूर्ण पाठशाला या प्रयोगशाला आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सग ही हैं।

सगठन सूक्त का पाठ, देश विदेश विशेषत आर्यजगत् की गतिविधिया की सूचना स्वाध्याय हेतु आर्य पुस्तकालय से पुस्तको का लेनदेन समाज अथवा सस्थाओ की प्रगति सबधी मत्रणा, पर्वो, उत्सवो आदि का आयोजन सत्सग विसर्जन के पश्चात् अनौपचारिक मिलन, सुखदुख मे सहभागिता आदि भी व्यक्तिगत एव सामाजिक सबधो को बढावा देने वाले है। आर्यसमाज के छठे नियम की भी पूर्ति होती है कि 'ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक एव सामाजिक उन्नति करना।"

आज आर्य समाज के सत्सगों मे उपस्थिति बहुत कम रह गई है। यज्ञ के समय तो चार व्यक्ति भी मुश्किल से आ पाते है। बाद मे भी वृद्ध आयु वाले व्यक्तियो की भरमार रहती है। युवको के दर्शन नही होते।

सख्या की दृष्टि से तो हाल और भी बुरा है। रही सही कसर पहले तो रविवार को प्रसारित होने वाली रामायण की टी वी. सीरियल ने और अब महाभारत की सीरियल ने पूरी कर दी है। कई समाजो ने तो 'रामायण' और 'महाभारत' के चक्कर मे अपने समय बदल दिये हैं। वैसे भी उपस्थिति अपर्याप्त रहती है। समाज के पदाधिकारी तथा अतरग सभासद भी कई बार सत्सगो मे नही आ पाते अथवा उनमे से कई तो सप्ताहो तक भी सत्सगो मे नही आते। हा यदि समाज का वार्षिक निर्वाचन होना हो अथवा और कोई विवाद अथवा सस्था का प्रबन्धक, मत्री आदि बनने के अवसरो पर बरसाती आर्यों की भीड उमड पडती है। राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त की भारत भारती मे लिखित ये पक्तिया सहज ही स्मरण हो जाती है "हम क्या थे ? क्या हो गये ? और क्या होगे अभी। आओ मिलकर विचारें देश की समस्याए सभी।"

एक जमाना था जब आर्यसमाज के सत्सगों मे भीड उमडती थी समाज मन्दिरो मे बैठने को जगह नहीं मिलती थी, आर्य विद्वानो और उपदेशो के प्रवचनो का अमृत पान करने एव भजनीको के प्रेरणादायी भजन सुनने को श्रद्धालु जन बेताब रहते थे। परन्तु अब स्थिति सर्वथा विपरीत हो गई है। कार्यक्रम सब पूर्ववत् होते हैं पर कोरा लकीर पीटना रह गया है। परम्पराओ का निर्वाह मात्र रह गया हैं। वह जिन्दादिली, वह जोश वह मर्दानगी और वह करिश्मा अब नहीं रह गया।

मेरी दृष्टि मे पूर्व के आर्यजन विद्वान कहते कम करते ज्यादा थे। उनकी कथनी करनी मे अन्तर नही होता था। वे मनसा, वाचा कर्मणा एक जैसे थे। सत्यपूत चरित था उनका, वाणी मे माधुर्य था ओज था और तपस्या, त्याग, पुरुषार्थ एव स्वाध्याय की पृष्ठ भूमि थी। आज अधिकाश उपदेशक अथवा प्रवचनकर्ता कोरे फिलॉसफिया हैं जिनकी कथनी करनी मे आकाश पाताल का अन्तर हैं, वे 'मिशनरी' के स्थान पर 'मरसीनरी' हो गये हैं व्यावसायिक वृत्ति के हो गये हैं। वे केवल बोलते ही बोलते हैं, तोलते नही हैं तथा कही हुई बातो से उनका दूर का भी रिश्ता नही रहता अत उनका प्रभाव अत्यल्प ही रहता है। भजनीको की भी वैसी साधना नही रही। फिल्मी धुनो पर गीत बनाने लग गये। सच्चे स्वाध्यायशील उपदेशक और शास्त्रार्थ महारथी विद्वान भी न रहे। धर्म निरपेक्षता। धर्म सापेक्षता अथवा सर्वधर्म समभाव हमारे ऊपर भी हावी हो गया है अत हम खरी बातें कहने से ही कतराते हैं। प्रधान या मत्री नाराज न हो जायें, सत्ता की आलोचना न हो जाये इसका भी ध्यान रखना पडता है।

आर्य सामाजिक सत्सगो को प्रभावशाली बनाने हेतु निम्न उपायो को काम मे लेना चाहिये।

1 समाज मदिरो की पवित्रता बनाई रखी जानी चाहिये।

2. समाज मदिरों मे सत्सगों का निश्चित समय होना चाहिये।

3 श्रद्धा एव प्रभावमयता के लिये प्रभावशाली कार्यक्रम होने चाहिये।

4. प्रामाणिक विद्वानो एव प्रभावशाली भजनीको की सेवायें प्राप्त की जानी चाहिये।

5 प्रत्येक पदाधिकारी, अतरग सभासद एव आर्य पुरुष के लिये सपरिवार उपस्थिति आवश्यक होना चाहिये।

6. हमारे कार्यक्रमो मे युगानुसार परिवर्तन की भी गुंजायश हो।

7. सदाचार, सच्चरित्रता, पुरुषार्थ को बढावा मिले।

—रासासिंह

जिधर देखो उधर, हाल बेहाल हो रहा है। लीडर बनने को हर तरीका इस्तेमल हो रहा है।

ज्यो-ज्यो आम चुनाव का समय नजदीक आ रहा है, त्यों-त्यों हमारे देश के रहनुमा भाग-भागकर सतमहात्माओं, आचार्यों की शरण मे जा रहे हैं, बडे-बडे मन्दिरो, मस्जिदों, दरगाहो मे सिजदे करने को बेताब हो रहे हैं, धार्मिकता का सैलाब उमड रहा है। देश को इक्कीसवी शताब्दी की ओर ले जाने वाले, कम्प्यूटर और टी वी का जाल फैलाने वाले लोग ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण का त्यागकर कर्मफल के सिद्धान्त को भूलकर अपने पापो से भयभीत होकर, हार के अज्ञात भय से तान्त्रिकों से अनुष्ठान, यज्ञ और महायज्ञ करवाकर जन्त्र-मन्त्र, गण्डे तावीजों के सस्ते तरीकों का उपयोग कर चुनाव वैतरणी को पार करना चाहते हैं। यदि उन्होने निष्ठा पूर्वक राष्ट्र की सेवा की है तो फिर उन्हे इतनी चिन्ता क्यो सता रही है ? परन्तु उन्हे मालुम है कि जो कुछ हमने किया है, उसका फल तो हमे भुगतना ही पडेगा। इसलिये झख मार कर वे मुल्ला, मौलवियो पडे पुजारियो और तान्त्रिकों की शरण ग्रहण कर रहे हैं।

दुख होता है यह पढकर कि अर्जुनसिंह जैसे लोग देवरहा बाबा के पैर को अपने सिर पर आशीर्वाद हेतु धारण करवा रहे हैं और यहा तक कि देश के प्रधानमन्त्री को भी कानपुर के तान्त्रिक भूपेन्द्र बहादुरसिंह चन्देल के यहा 31 दिन की गुप्त पूजा का आयोजन करवाना पड रहा है और एन टी. रामाराव जैसे लोगों को अपने मार्ग के रोडे हटाने हेतु तथा 'विश्वामित्र' फिल्म की सफलता हेतु 'गायत्री महायज्ञ' का आयोजन करवाना पड रहा है। जब बडे-बडे नेता ही चन्द्रास्वामी जैसे तान्त्रिको के मोह जाल मे फसे हैं, तो आम आदमी की क्या मनोदशा होगी ? ये अन्धविश्वास इस देश को कहा ले जायेंगे ? यही कहना पडेगा कि—

"तेरे रहते लुट रहा चमन ए बागबा, मैं कैसे मानूं कि तेरा इशारा नहीं"

—रासासिंह

पारायण यज्ञों पर आक्षेप ठीक नहीं

—जगदीश, व्याकरण, दर्शन, साहित्याचार्य—

श्री रासासिंह जी ने 'आर्य पुनर्गठन' मे वेद-पारायण यज्ञ का विरोध किया है, कि ये यज्ञ कराने वाले लोग आर्यसमाज को गुरुडम मे लपेट रहे हैं। वेद-पारायण-यज्ञ, चतुर्वेद यज्ञ, ऋग्वेद यज्ञ, गायत्री यज्ञ कराते हैं, और मोटी-मोटी राशियां ली जाती हैं।

हम यहा उनके लेख पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं।

वेद पारायण यज्ञो मे वेदपाठ होता है। इससे लोगो की वेद मे श्रद्धा बढती है। वेद की रक्षा होती है, वेद के क्रय-विक्रय की माग बढती है। पाठ करने का अभ्यास होना है। वेद पाठ पुण्य है, अपराध नही।

इसमे वेद विरुद्ध, धर्म विरुद्ध आर्यसमाज की मान्यताओ के विरुद्ध कुछ भी नहीं हैं। अपितु धर्म, आस्तिकता, श्रद्धा तथा वेद की मान्यताओ का बढावा मिलता है और विद्वानो का सत्कार होता है।

मनुष्य की पहले भावना बनती है फिर उसके अनुसार कर्म करता है, और जिस भावना से कर्म करता है वैसा ही उस कर्म का प्रभाव होना है। यदि कोई, विश्व मे शान्ति हो इस भाव से यज्ञ करता है तो इसमे क्या दोष है!

मनुष्य जिस बात को सुनता है उसका मन पर अच्छा या बुरा प्रभाव होना है और उस पर विचार भी करता है। आयसमाज वेद प्रचार लोगो के भावो को बदलने के लिए ही तो करता है। आर्य अपने प्रत्येक उत्सव यज्ञादि के पश्चात् शाति पाठ करते हैं। क्या उसका कोई लाभ नही है, नही है तो यह व्यर्थ हो जाना है। सब कार्यों मे भाव की ही प्रधानता होती है। भावना ही कार्यों को अच्छा या बुरा बनाती है।

आर्य समाज के सभी कार्यों मे ससार का भला हो, ससार मे शान्ति हो और इससे सब लोग सुखी रहे। सभी कार्यों मे यही भावना ओत-प्रोत है। वेद पारायण-यज्ञो मे भी यही भावना है।

जिस बात, जिस कार्य से लोग प्रभावित हो उसके लिए लोग धन देते हैं।

आर्यसमाज जो कुछ कहता है वह सब सत्य है, ठीक है किंतु इतना ही पर्याप्त होता तो लोग अन्य मतो मे क्यो जाते। अन्य मतो के धर्म-स्थान जनता से भरे हुए हैं। और आर्य समाज मन्दिरो मे रौनक हम देखते ही हैं। इसलिए आर्य समाज के हितचिन्तको को चिन्ता है। जिसका प्रकाश व्याख्यानो लेखो मे प्राय आजकल होता रहता है। और आप भी देखते रहते हैं। केवल इन वेद पारायण-यज्ञो मे रौनक दिखती है। इन यज्ञो ने ही श्रद्धालु आर्य नर-नारियो तथा अन्य लोगो को थामा, रोका हुआ है। इन यज्ञो को बद कर दे तो जो थोडी रौनक है वह भी न रहेगी। जो लोग आर्यसमाज की मान्यताओ से दूर रहते हैं, वे लोग भी इन पारायण यज्ञो मे बडी श्रद्धा से सम्मिलित होते हैं, तथा आर्यसमाज के समीप आ जाते हैं। उनका भय और द्वेष दूर हो जाता है।

पाकिस्तान बनने से पूर्व, लाहौर आर्यसमाज का बडा केन्द्र होता था। आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब का कार्यालय गुरुदत्त भवन मे था। इस सभा के पास उपदेशको और भजनिको की एक बडी सख्या थी। जिनके द्वारा उस समय के बडे पजाब और पजाब के बाहर के प्रान्तो मे वैदिक धर्म का प्रचार होता था। कराची, बम्बई, कलकत्ता तक की आर्यसमाजो के उत्सव तथा शास्त्रार्थ इस सभा के उपदेशको द्वारा होते थे। आर्यसमाज के शिरोमणि विद्वान वैदिक-सिद्धातो के पूर्ण ज्ञाता पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज उपदेशक विद्यालय के आचार्य थे। स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ प बुद्धदेव जी विद्यालकार, प प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, प सुखदेव जी वेदालकार दर्शनाचार्य, प ईश्वर चन्द्र जी दर्शनाचार्य ये सभी विद्वान गुरुदत्त भवन तथा लाहौर मे रहते थे। महर्षि के अनन्य भक्त प ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जो प्राचीन व्याकरण के अद्भुत विद्वान थे, अपने विद्यार्थियो सहित रावी नदी के समीप अपने आश्रम मे निवास करते थे।

लाहौर आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव गुरुदत्त भवन के विशाल मैदान मे हुआ करता था। इन सभी विद्वानो के व्याख्यान उपदेश होते और गुरुदत्त भवन की यज्ञ शाला मे प्रतिवर्ष वेद पारायण-यज्ञ नियम पूर्व होता था। यदि वेद पारायण-यज्ञ का करना सिद्धात विरुद्ध होता तो ये विद्वान जो वही रहते थे उसे तुरन्त बद करने का आदेश देते और फिर किसी को वेद पारायण-यज्ञ करने का साहस न होता।

उपर्युक्त बातो से यह प्रामाणित होता है कि वेद पारायण-यज्ञ, गायत्री-यज्ञ करना किसी भी दशा मे आर्य समाज की मान्यताओ के विरुद्ध अथवा धर्म विरुद्ध कर्म नही है।

सस्कार विधि मे महर्षि ने यज्ञ कुण्ड का परिमाण लिखा है, यदि एक लाख आहुति देनी हो, 50 हजार आहुति देनी हो, 25 हजार आहुति देनी हो, तो इतना-इतना बडा यज्ञ कुण्ड बनावे। किंतु यह नही लिखा कि इतने बडे यज्ञ कुण्ड मे किन मन्त्रो से कौन सा यज्ञ कर सकेगे। किसी यज्ञ का नाम और उसकी विधि भी नही लिखी। किंतु 'सत्यार्थ-प्रकाश' के तृतीय समुल्लास मे ऋषि लिखते हैं कि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढकर एक-एक आहुति देवे।

और जो अधिक आहुति देनी हो तो – विश्वानि देव ... इस मन्त्र से और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे।

जब महर्षि स्वय लिखते हैं कि गायत्री मन्त्र से आहुति देवे, तो आप कैसे रोकते हैं। आपकी यह अनाधिकार चेष्टा है। आप यह लिख सकते थे कि वेद-पारायण-यज्ञो के विषय मे आर्य विद्वानो तथा आर्य सभाओ को विचार करना चाहिए कि ये वेद पारायण-यज्ञ गायत्री-यज्ञ उचित हैं कि नही।

जब तक कोई बडे यज्ञ की सुगम विधि लोगो के सामने न रखी जाये तब तक लोग इन वेद पारायण यज्ञो को ही करेंगे। इन्हे बन्द करने का एक मात्र उपाय यह है कि यज्ञ प्रेमियो का किसी बडे और सुगम विधि वाले यज्ञ की विधि बताई जाये।

पत्र और विचार

कहीं पुनः वैसा न हो!

कुछ समय पूर्व एक 'पत्र' मे एक प्रख्यात आर्य सन्यासी की खुली चिट्ठी प्रकाशित हुई थी। उन्होने इसमे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्तमान प्रधान से 16-17 प्रश्न किए हैं उनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण मुझको यही लगा कि—

"सन 1984 के निर्वाचन मे आपने यह आदेश निकाला था कि सब आर्य समाजी कांग्रेस को वोट दें, इस आदेश के लिए सार्वदेशिक सभा के किस तारीख के किस नम्बर वाले प्रस्ताव से आपको अधिकृत किया गया था?"

आर्य सन्यासी के उक्त प्रश्न का उत्तर मुझे अभी तक कही पढने को नही मिला, अत आशका हो रही है कि कही इस बार के आम चुनावो मे भी ऐसा ही न हो!

— स्वामी ओइम् प्रेमी चतुर्थाश्रमी,
गुरुकुल परिसर
होशगाबाद (म प्र)

संशोधन तो अच्छा मगर..

उपसमिति के सुझाव पर आर्य समाज के प्रवेश-पत्र मे सभासदो के लिए जोडा गया सशोधन तो काफी अच्छा है, मगर परिणाम तो दृढता से लागू करने से ही निकल सकता है। अन्यथा वही ढाक के तीन पात रहने हैं।

—सत्यवीरसिंह
बकरौता रोड
सहारनपुर (उ प्र)

प्रेमभिक्षु के प्रवचन

आर्य समाज खण्डवा के तत्वावधान मे दिनाक 27/7/89 को प्रेम भिक्षुजी द्वारा प्रात कालीन यज्ञ टैगोर कॉलोनी मे सपन्न कराया गया एव दोपहर पोलोटेकनिक्ल कॉलेज मे "विज्ञान एव धर्म के सबध" विषय पर सारगर्भित भाषण हुआ।

—मत्री

रजिस्ट्रार महोदय,
गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय हरिद्वार

पाश्चात्यो का अन्धानुकरण...

(शेष पृष्ठ 1 का)

3 आर्य लोग ईश्वर की नही, प्रत्युत अग्नि वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थों की उपासना करते थे।

4 वे पशुओ की बलि देते थे।

5 वेद ईश्वरीय ज्ञान न होकर मनुष्यकृत ग्रन्थ हैं।

6 ऋग्वेद की रचना गोहत्यारे दिवोदास के पडपोते के पोते सुदास ने की। कुछ मन्त्र असुरो ने भी बनाये।

7 ऋग्वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि मे नही हुआ। उनकी रचना अयोध्या के राजा दशरथ के छह पीढी बाद तथा मौर्य साम्राज्य की स्थापना से कुछ समय पहले हुई।

8 पहले ऋग्वेद बना, फिर शेष तीन वेद बने।

9 वेदो के साथ ही उपनिषद भी बने।

10 वेदो मे वर्णव्यवस्था का उल्लेख नही।

11 रामायण और महाभारत काल मे भी चार वर्णों में समाज का विभाजन नही हुआ था।

12 ऋग्वेद मे कबीलो की लडाइयो का ही वर्णन है। इनके अतिरिक्त हडप्पा पर अधिकार करने के लिए छह पीढियो तक चलने वाले आर्यों तथा यहा के मूल निवासियो के युद्ध का उल्लेख है।

उपर्युक्त सभी मान्यताए महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की मान्यताओ के सर्वथा विरुद्ध है परन्तु डी ए वी सस्थाए जन जन तक इन्ही मान्यताओ को पहुँचाने के लिए कृतसकल्प हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए डी ए वी शताब्दी के उपलक्ष मे एक ऐसे सस्थान की स्थापना करने का निश्चय किया गया है, जो इस प्रकार के साहित्य का निर्माण और प्रकाशन करे। प्रो वेदव्यासजी के शब्दो मे—

'Establishment of a full-fledged Publication Division to publish 500 books by eminent scholars on Vedic religion Aryan Culture and Indian history on the model of what has been achieved by Bharatiya Vidya Bhawan under the inspiring leadership of K M Munshi" — Felicitations, P 117

अर्थात्—डी ए वी का एक लक्ष्य श्री कन्हैयालाल मु शी द्वारा स्थापित तथा सचालित भारतीय विद्या भवन के आदर्शो पर एक प्रकाशन सस्थान खोलना है जहा से प्रमुख विद्वानो द्वारा वैदिक धर्म, सस्कृति तथा भारतीय इतिहास पर लिखी ५०० पुस्तके प्रकाशित की जायेगी।

भारतीय विद्या भवन द्वारा क्या काम हो रहा है, इसकी जानकारी स्वय कन्हैयालाल द्वारा लिखित तथा भवन द्वारा प्रकाशित पुस्तक के एक उदाहरण द्वारा मिल जाती है। प्राचीन आर्यों के जीवन के सम्बन्ध मे कन्हैयालाल मु शी ने लिखा है—

"इनकी भाषा मे अब भी जगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मास भी खाया जाता था और गाय का भी। अतिथिको गोमास खिलाने वाले को बहुमानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे मे चूर रहते और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। ऋषि युद्धक्षत्र मे हजारो का सहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियो को आकर्षित करने के लिए वेदमत्रो की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे पतित नही माने जाते थे। कई ऋषियो का पता न था। प्राय भेडियो की तरह लोभी थे। बीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार न था। आत्मा का कोई खयाल न था, ईश्वर की कल्पना नही, मान्यता नही आर्य भारत वर्ष के निर्विघ्नपूर्वक सम्राज्ञी थे।"

प्रो वेदव्यास ने इसी प्रकार के विचारो का प्रचार करने की घोषणा की है। पुस्तक की भूमिका मे श्री मु शी ने लिखा था कि अपनी पुस्तक मे उन्होने जो कुछ लिखा है वह ऋग्वेद के आधार पर लिखा है। पत्र लिखकर उनसे उन वेदमत्रो को उद्धृत करने का आग्रह किया गया जिनके आधार पर उन्होने यह सब लिखा था तो उन्होने स्वामी विद्यानन्द सरस्वती (तब श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित) को लिखे अपने पत्र दिनाक 2 फरवरी 19 0 में लिखा—

"I believe the Vedas to have been composed by human beings in the very early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated by westren scholors and as given in Dr. Keith's Vedic Index. I have accepted their view of life and conditions in those days"

अर्थात्—'मैंने जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किया गया अनुवाद है। मैंने उस समय के लोगो के जीवन के सबध मे उनको प्रमाण माना है।'

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रो वेदव्यास जी के वही विचार हैं जो कन्हैयालाल मु शी के। प्रो वेदव्यास ने जगह-जगह श्री कन्हैयालाल की नकल की है और कन्हैयालाल ने घोषणापूर्वक जानबूझकर वेदो और वैदिककालीन आर्यों को बदनाम करने के उद्देश्य से लिखने वाले पाश्चात्य विद्वानो की।

एक प्रातीय सभा के लिए ऐसा करना सर्वथा अनुचित है और आर्यसमाज के लिए विघातक।

आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन

30 सितम्बर से 2 अक्टूबर 1989 तक दिल्ली में आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। डा प्रशान्त वेदालकार ने एक प्रेस विज्ञप्ति में कहा है आर्यसमाज को नई गति और दिशा देने के लिए विवेकशील आर्यसमाजी इस समागम में सम्मिलित होंगे। इस सम्मेलन मे सगठन को गति देने की क्रातिकारी योजनाओ पर विचार किया जायेगा। देश के प्रबुद्ध आर्य विद्वान् अपनी रचनात्मक योजना प्रस्तुत करेंगे और पूरे देश के प्रतिनिधि इस योजना को अपने-अपने प्रदेश में क्रियात्मक रूप देने का सकल्प करेंगे। इस अवसर पर एक स्मारिका प्रकाशित होगी जिसमे देश भर के विद्वानो से आये सुझाव प्रकाशित होगे। आप प्रतिनिधि के रूप मे सम्मेलन मे भाग लें और अपने सुझाव आगे लिखे पते पर भेजें—डा प्रशान्त वेदालकार, ७/२ रूपनगर, दिल्ली।

आर्य युवा साईकिल रैली

केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद् नई दिल्ली के तत्त्वावधान मे 26 सितम्बर 1989 को प्रात 8 बजे आर्य समाज कबीर बस्ती दिल्ली—7 से आर्य युवा नेता श्र राजसिंह आर्य के नेतृत्व में 25 आर्य युवको की एक विशेष साईकिल रैली गुरुकुल एटा के लिए रवाना होगी। मार्ग मे पडनेवाले ग्रामो, कस्बो एव नगरो मे वैदिक साहित्य वितरण, भजन, उपदेश और प्रवचनो द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया जायेगा।

श्रावणी उपाकर्म पर्व (रक्षाबन्धन) तथा कर्मवीर पं. जियालाल—जन्म-जयंती

श्रावणी उपाकर्म पर्व (रक्षाबन्धन) तथा कर्मवीर स्वर्गीय पण्डित जियालालजी की जन्म जयन्ती 17 अगस्त 89, गुरुवार को प्रात 8 बजे से आर्य समाज भवन (केसरगज) मे बडे समारोह पूर्वक मनायी गई।

— मन्त्री

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

ओ३म्

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 शुक्रवार, 15 सितम्बर, 1989 अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभयं परोक्षात्। भाद्रपद शुक्ला 15 सवत 2046
अक 17 प स.-48383/88 अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

अध्यापक समर्पित भाव, निष्ठा एवं लगन से अध्यापन करें-रासासिंह

5 सितम्बर, 89 शिक्षक दिवस के उपलक्ष मे राज्य स्तर पर श्रेष्ठ शिक्षक के रूप म सम्मानित डी ए वी सीनियर उ मा विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री रासासिंह का मानना है कि यदि अध्यापक समर्पित भाव, निष्ठा एव लगन से अध्यापन करें तो छात्रो मे अनुशासनहीनता की भावना नही आ सकती। एक भेट मे श्रीसिंह ने कहा कि बच्चो को इस बात का अहसास होना चाहिये कि अध्यापक जो कुछ कह रहे हैं और कर रहे हैं वह सब उनके हित मे ही है। उनमे यह भावना नहीं होनी चाहिये कि सिर्फ काम करना है बल्कि यह सोच होना चाहिये कि वह भविष्य को तराश रहे है।

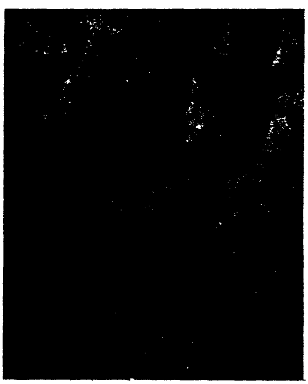
श्री रासासिंह ने एम ए, हिंदी व संस्कृत, एल एल बी, अंग्रेजी साहित्य मे बी ए व विद्या वाचस्पति की डिग्रिया ली हैं। 6 जुलाई 1963 को उन्होने अप्रशिक्षित अस्थाई शिक्षक के रूप मे डी ए वी स्कूल मे अध्यापन कार्य शुरू किया था फिर 1965 मे ए जी आफिस मे नौकरी की लेकिन मन मे अध्यापन करने मे ही लगा रहा। वष 1965 मे विरजानन्द स्कूल मे तथा 1970 से 1974 तक डी ए वी मे अध्यापक रहे, सन् 1974 से 1976 तक डी ए वी महाविद्यालय मे हिंदी के व्याख्याता तथा 1976 से 1981 तक विरजानन्द स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। सन् 1981 से 83 तक वे डी ए वी स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। फिर वहीं पर उनकी पदोन्नति प्रधानाचार्य पद पर हुई जिस पर वे अभी भी कार्यरत हैं।

श्री रासासिंह ने नए विचारो को अंगीकार करके, शैक्षिक एव सह-शैक्षिक प्रवृतियो तथा नैतिक मूल्यो के आधार पर बच्चो को जागरूक, जिज्ञासु और सस्कारित बनाने मे भागीरथ प्रयास किया है। श्री रासासिंह सृजनशील रचनाकार हैं तथा अपने लेखन व सम्पादन से जन चेतना का सचार करते रहे हैं। उनकी सहृदयता, मिलनसारिता, सेवा भावना व अनुशासन के प्रति प्रतिबद्धता ने डी ए वी स्कूल को इतनी लोकप्रिय बना दिया है कि हर अभिभावक अपने बच्चो को वहा प्रवेश कराने की बात सोचने लगे हैं। अपने कार्यकाल मे उन्होने शाला में काफी नया निर्माण कराया तथा खेलकूद व साहित्यिक गतिविधियो को बढ़ावा दिया है। अनेक सस्थाओ से जुड़े श्री रासासिंह आर्य समाज

(शेष पृष्ठ 4 पर)



श्री रासासिंह को पुरस्कृत करते हुए राज्यपाल श्री सुखदेव प्रसाद



श्री रासासिंह का स्वागत करते नगर के सम्भ्रात नागरिक

आर्य समाज अजमेर द्वारा अभिनन्दन

डी ए वी सीनियर उ मा विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री रासासिंह का आर्य समाज अजमेर द्वारा सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् एव आर्य समाज शिक्षा सभा अजमेर के मत्री श्री कृष्णराव जी वाल्ले की अध्यक्षता एव राजस्थान विधानसभा के उपाध्यक्ष श्री किशन मोटवानी के मुख्यातिथ्य में सम्मान समारोह केसरगज स्थित आर्य समाज भवन मे आयोजित हुआ।

इस अवसर पर श्री ज्ञानेश्वरप्रसाद निर्मल श्री त्रिलोक गोयल का काव्यपाठ तथा डा बाबूराम शास्त्री, श्री रमेशचन्द्र गुप्ता पूर्व जिला शिक्षा अधिकारी अजमेर, प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य, श्री रामबाबू शुभम्, श्री भवरलाल जी शर्मा, डा कृष्णपाल सिंह, श्री जे ज टिलवानी आदर्श शिक्षण सस्था, प्रो महेशनारायण निगम उपाचार्य, दयानन्द कालेज अजमेर आदि अनेक वक्ताओं ने

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रबन्ध सम्पादक : रासासिंह सम्पादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या. 21010

सम्पादकीय

वेद प्रचार साईकिल यात्रा

दिल्ली के आर्य युवक गत कुछ वर्षों से वेद प्रचार साईकिल यात्राओं का आयोजन करते आ रहे हैं। इस वर्ष भी दिल्ली के युवक-युवतिया ऐसी ही एक यात्रा का आयोजन कर रहे हैं।

साईकिल यात्राओं से प्रचार का अपने आप में प्रभावशाली तरीका है। रास्ते में आने वाले ग्रामों-कस्बों के व्यक्ति इन यात्रियों की बातों को विशेष उत्सुकता से सुनते हैं।

वेदों को समझने में जहां बड़े-बड़े विद्वानों को पसीने आते हैं वहा युवकों द्वारा वेद-प्रचार की बात कुछ जचती नहीं। मेरी अपनी सम्मति में यदि इन साईकिल यात्राओं का नाम 'आर्य समाज प्रचार' रख दिया जाए, तो सार्थक रहेगा।

अभी तक प्रचार साईकिल यात्राओं का आयोजन युवक ही करते रहे हैं। खेद है कि आज के समय में धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में युवकों की भूमिका को विशेष गम्भीरता से नहीं लिया जाता। युवकों की छवि ही कुछ ऐसी बन गई है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि इस वर्ष 2 से 6 अक्टूबर तक दिल्ली से हरिद्वार तक की साईकिल यात्रा एक कर्मठ आर्य युवती कु आभा आर्या के नेतृत्व में आयोजित की जा रही है।

निश्चित रूप से वर्तमान में जब आर्यसमाज के कर्णधार अपने निहित स्वार्थों में लिप्त होकर आपसी सघर्ष में रत हैं, ऐसे में प्रचार यात्राओं के आयोजक विशेष बधाई के पात्र हैं। हर ऋषि भक्त आर्यजन को इन लोगो का आभारी होना चाहिए।

मेरी सभी आर्य सस्थाओ-आर्य समाजो व आर्यजनों से अपील है कि वे इस प्रचार-यात्रा को सफल बनाने के लिए आयोजकों को यथा शक्ति आर्थिक सहायता देकर सहयोग करें। यह सहायता 'वेद-प्रचार साईकिल यात्रा समिति' कार्यालय-आर्यसमाज, बी-ब्लाक, जनकपुरी नई दिल्ली-58 के नाम से भेजी जा सकती है। —वीरेन्द्र आर्य

मेरे प्रेरणा-स्रोत, मेरे मार्ग-दर्शक

श्री क्षितीश वेदालंकार की मेरे पत्रकार जीवन में विशेष भूमिका रही है। वस्तुत पत्रकारिता के क्षेत्र में मुझे लाने के पीछे उन्हीं की प्रेरणा रही है और आज इस क्षेत्र में मेरा यदि कुछ भी स्थान है, वह सब उन्हीं की प्रेरणा और मार्गदर्शन का परिणाम है।

मैं क्षितीश जी के लेख जब से मैंने होश सभाला, तभी से पढता आ रहा हू। स्वाध्यायी आर्य समाजी पिता के पुस्तकालय में आने वाली पत्र-पत्रिकाओं में मैं सबसे पहले इन्ही के लेख को पढता था। बाद में उनकी लेखनी का यही आकर्षण मुझे पत्रकारिता के क्षेत्र में भी ले आया। न मैं उनके लेख पढता न मेरी पत्रकारिता में रुचि होती।

पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करने के प्रथम दिन से ही क्षितीश जी का मुझ पर वरद हस्त रहा है। मेरे तीन चार दशक के सक्रिय पत्रकार जीवन में जब-जब भी मेरे सामने कोई कठिनाई आई तो उन्होंने आगे बढकर मेरा मार्गदर्शन किया और उससे मुझे बाहर निकाला है। कई बार अत्यन्त विषम परिस्थितियों में उन्होंने उदारतापूर्वक मुझे सकट से उबारा है। उनके मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति के प्रति इस स्नेहभाव को देखकर अनेक लोगो को मुझसे ईर्ष्या होनी स्वाभाविक ही है। आखिर ऐसे महापुरुषों का ऐसा स्नेह सबको कहा मिलता है।

पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में श्रद्धेय क्षितीश जी का स्थान बहुत ऊचा है। साहित्य की अनेक विधाओं में उन्होंने लिखा है और वह सारा का सारा उल्लेखनीय है। पर्यटन, इतिहास, पुरातत्व आदि विषयों पर उन्होंने जो कुछ लिखा वह उपेक्षणीय नहीं है। व्यग्य लेखन में भी वे सिद्धहस्त हैं। ललित निबन्ध के लेखन में तो वे मुझे अद्वितीय लगते हैं। इसके अतिरिक्त 'स्वेतलाना' नाम का एक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है। जो लोकप्रियता की चरम सीमा छू गया है।

पजाब पर लिखी क्षितीश जी की पुस्तक "तूफान के दौर से पजाब" ने तो उन्हें देश के मूर्धन्य पत्रकारों की अग्रिम पक्ति में ला खड़ा किया है। इस दौर में पजाब समस्या पर लिखी गई सभी पुस्तकों में उनकी पुस्तक सबसे श्रेष्ठ है और समस्या का जैसा विशद विवेचन किसी अन्य पुस्तक में नहीं मिलता।

दैनिक हिंदुस्तान में लम्बे समय तक कार्य करने और उससे अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त क्षितीश जी ने साप्ताहिक 'आर्यजगत्' का सम्पादन भार सभाला। अपने दस वर्ष के इस अवकाशोत्तर सम्पादन काल में इस लड़खड़ाते पत्र को उन्होंने आज आर्यसमाज का सबसे लोकप्रिय पत्र बना दिया है, आर्य समाजी क्षेत्र से बाहर के लोगों में भी इसका सम्मानजनक स्थान है। आर्य समाजी समाचार-पत्रों के इतिहास में यह अपने आप एक उदाहरण है।

क्षितीश जी मेरे गुरु है, मार्गदर्शक हैं, जहा इस बात से मुझे गर्व का अनुभव होता है, वहीं एक दायित्व बोध भी मुझे घेरता है। यह दायित्व बोध मुझे निरन्तर प्रेरणा देता है कि मैं एक मूर्धन्य पत्रकार का शिष्य हू, स्नेहभाजन हू, और उनके इस स्नेह की लाज रखना मेरा कर्त्तव्य है।

क्षितीश जी सितम्बर, 89 में अपने जीवन के 74 वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। इस अवसर पर मैं यही कामना कर सकता हू कि वे स्वस्थ एव दीर्घ सुखी जीवन जीते हुए मुझे इसी प्रकार अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखें।

—वीरेन्द्र आर्य

(नव प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्रीय पत्रकारिता के पुरोधा' का सपादकीय)

पत्रकारिता का गिरता स्तर!

अब वह समय आ गया है जब हमें पत्रकारिता के गिरते स्तर की ओर ध्यान देना चाहिए और पतन की ओर तेजी से जा रही पत्रकारिता को सही दिशा देनी चाहिए।

आज भारत में पत्रकारिता खासकर हिन्दी व अन्य राष्ट्रीय भाषाई पत्रकारिता बड़े ही नाजुक दौर से गुजर रही है। राष्ट्रीय पत्रों से लेकर मझोले एव लघु स्तर के पत्र इसकी चपेट में हैं। स्वतत्रता के बाद जैसे ही पत्रकारिता ने एक व्यवसाय का रूप लिया तो तभी से उसके बुरे दिन शुरू हो गए। आज स्थिति ये है कि देश के सभी प्रमुख राष्ट्रीय पत्रों के मालिक व्यावसायी हैं और वे अपने इन पत्रों को भी व्यवसाय की तरह ही चलाते हैं। समाज हित-देशहित से बड़ा उनके लिए ही व्यवसाय है। यही नहीं अपने अन्य व्यवसायजनित हितो को देखते हुए ये पत्र सरकार तक को प्रभावित करते है।

मझोले और छोटे स्तर के पत्रों का हाल और भी गया-गुजरा है। वस्तुत इन पत्रों में पत्रकारिता में रुचि रखने वाले लोग तो नाम भर को हैं, अन्यथा सभी स्वार्थी एवं अन्य कोई भी रोजगार पाने में असमर्थ लोगो का जमावड़ा ही अधिक है। ये लोग वैसे भी कोई स्तरीय 'पत्र' नहीं निकाल सकते और यदि प्रयास भी करें तो आधुनिक मुद्रण प्रणाली के अभाव में ये सामान्य जनता के बीच अपना स्थान नहीं बना सकते। क्योंकि महगी फोटो कम्पोजिंग के द्वारा मुद्रित पत्रों के मुकाबले ये 'पत्र' बहुत ही घटिया नजर आते हैं और आज साधारण जनता स्तरीय सामग्री से पूर्व 'पत्र' की चमक-दमक देखती है।

ऐसे में अपनी स्थिति सुधारने के लिए इन समाचार-पत्रों को पीत-पत्रकारिता का सहारा लेना पड़ता है। अब जो पत्र-और पत्रकार यही सब करने के लिए आए हैं, उन्हें तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। व्यक्ति विशेष या सगठन विशेष को ब्लैकमेल करने से लेकर वे सरकार को भी चूना लगाते हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए ये किसी का भी प्रशस्ति-गान या विरोध कर

(शेष पृष्ठ 3 पर)

हिन्दी दिवस पर विशेष

राष्ट्रभाषा हिंदी और हम

—वि सा विद्यालंकार—

आज देश का, स्वाधीन देश का शासक वर्ग ब्रिटिश शासको द्वारा अभिषिक्त और यूरोपीय चिन्तन सस्कार भाषा मे बधा हुआ है। यह उतना ही रूढिवादी और कट्टरपथी है जितना कि मुल्ला मौलवी और पोपपथी। इसे वह आधुनिकता कहता है। इस वर्ग के लिये आधुनिकता का अर्थ है स्वय बिना चिन्तन किए, बिना देश काल-स्थिति-परिवेश की चिन्ता किए केवल यूरोपीय चिन्तको के निष्कर्षो को देश पर लाद देना, पूर्व शासको के चरणो में बैठकर उनकी भाषा का अभ्यास कर और उन्ही की भाति देश की भाषाओ को तिरस्कृत कर, सविधान और उसकी व्यवस्थाओ को ताक पर रख अग्रेजी (इडियन समाज) को ही राजभाषा के रूप में देश पर लादे रखना। सामान्य भाषा मे जो भाव अनुकरण है, नकल है, वही हमारे शासको के लिए आधुनिकता है। क्योकि प्रबुद्ध वर्ग भी इसी समुदाय और वर्ग से जुडा है, इसलिये देश की प्रत्येक भाषा की प्रत्येक विधा पर यूरोपीय चिन्तन अपने अपरिष्कृत रूप मे लद गया है, शिल्प पूजनीय रूप मे ही अनुकरणीय वस्तु है, आयातित कला ही समादृत होती है, देश की कला तो मात्र सग्रहालयो और प्रदर्शनियो मे सुरक्षित रखी जाती है। विज्ञान के क्षेत्र मे अनुसधान और नव प्रयोगो के लिये धनराशि उपलब्ध नही होती, परन्तु आयात करने के लिये अपरिमित धनराशि उपलब्ध हो जाती है क्योकि उसका कुछ अश विदेशी बैंको में सुरक्षित रखने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

('प्रकर' से)



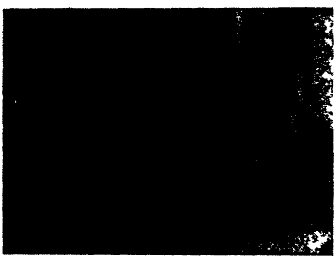
फूल-मालाओ से लदे श्री रासासिह

आर्य महासम्मेलन सम्पन्न

बिहार राज्य आर्य समाज प्रतिनिधि सभा एव पटना जिला आर्य सभा के तत्वावधान मे पटना के एतिहासिक स्थल-श्रीकृष्ण स्मारक हाल मे विशाल वैदिक धर्म (आर्य) महासम्मेलन, जो 9 एव 10 सितम्बर 1989 को सोल्लास सम्पन्न हुआ। राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, महिला जागरण सम्मेलन हिन्दू एकता सम्मेलन एव सामाजिक न्याय सम्मेलन का उद्घाटन क्रमश आचार्य भगवान देव, सम्पादक योम मदिर नई दिल्ली, श्रीमती प्रभावती गुप्त, सासद, पूर्व मत्री बिहार सरकार, प्रो बलराज मधोक, राष्ट्रीय अध्यक्ष, जनसघ और श्री भोला प्रसाद सिंह, पूर्व मत्री एव वर्तमान अध्यक्ष टेक्स्ट बुक निगम ने की। सामाजिक न्याय सम्मेलन के मुख्य वक्ता के रूप मे स्वामी अग्निवेश राष्ट्रीय अध्यक्ष बन्धुआ मुक्ति मोर्चा ने हरिजन गिरिजन, पिछडा और महिलाओ की क्राति को तेज करने तथा किसान मजदूर आदोलन चलाने की प्रबल आवश्यकता पर बल दिया।

अनेक प्रमुख वक्ताओ ने अवैध ढग से गठित बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा नया टोला पटना-4 और उसके प्रधान एव मत्री सर्वश्री भूप नारायण और योगेन्द्र नारायण के भ्रष्ट, अमानवीय एव निकृष्ट कार्यो की भर्त्सना की तथा सम्मेलन मे एक प्रस्ताव पारित कर बिहार के समस्त आर्य समाजो और आर्य शिक्षा सस्थाओ से आग्रह किया गया कि उक्त प्रतिनिधि सभा से सबध विच्छेद करे, उसके सारे कार्यो मे असहयोग करे और आगामी निर्वाचन में उन्हे अपदस्थ करे।

—महामन्त्री



अजमेर आर्य समाज द्वारा श्री रासासिंह के किए गए अभिनन्दन समारोह मे बोलते हुए श्री नवीन कुमार शर्मा, मच पर बाए से दाए — श्री कृष्णराव वाल्ले, श्री किशन मोटवानी व श्री रासासिंह।

दरबारी लाल और सहगल बाढ़ पीड़ित क्षेत्रो के दौरे पर

नई दिल्ली—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली के कार्यकर्ता प्रधान एव डी. ए वी कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति के सगठन सचिव श्री दरबारी लाल तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री राम नाम नाथ सहगल आध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्यो मे सभा द्वारा सचालित बाढ राहत केन्द्रो का निरीक्षण करने जा रहे हैं। अपने साथ अच्छी राशि भी ले जा रहे हैं। जो भी राशि, खाद्य सामग्री तथा कपड़े आदि प्राप्त हो रहे हैं, वे बाढ राहत केन्द्रो पर भिजवाये जा रहे हैं।

यदि आप खाद्य सामग्री, कपडे, वस्तुए एव धन राशि सीधी भिजवाना चाहे तो महाराष्ट्र मे श्री पी एन. सहगल, मन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि उपसभा महाराष्ट्र, 25-ए, पुष्पा पार्क, मलाड (ईस्ट) बम्बई-400 97 के पते पर भेज सकते हैं।

पत्रकारिता का...

(शेष पृष्ठ 2 का)

सकते हैं और इन सबके बीच पिसना पडता है ईमानदार पत्रकारो और निष्पक्ष 'पत्रो' को। निष्पक्ष पत्र कभी किसी सरकार का झूठा प्रशस्तिगान नही कर सकता, इसलिए उसे विज्ञापन एव अन्य सरकारी सहायता से हाथ धोना पडता है। एक ओर पर्याप्त पूजी के अभाव मे जनता के बीच ऐसे 'पत्र' ऐसा स्थान नही बना सकते कि आत्मनिर्भर हो सकें, द्वितीय इन्हे अपनी ईमानदारी के कारण सरकारी विज्ञापन भी नही मिल पाते। ऐसे मे वे अकाल ही दम तोड जाते हैं।

पत्रकारिता को सही दिशा देने के लिए क्या समाज के प्रबुद्ध व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते ?

पं. शिवकुमार शास्त्री दिवंगत

आर्य समाज के मूर्धन्य विद्वान पण्डित शिवकुमार शास्त्री का 3 सितम्बर को प्रात नई दिल्ली स्थित अपने निवास स्थान पर हृदय गति रुक जाने से प्राणांत हो गया। उनकी आयु लगभग 74 वर्ष थी।

वे पिछले कुछ दिनो से अस्वस्थ चले आ रहे थे। कुछ दिन अस्पताल में रहने के बाद घर पर ही उनका इलाज चल रहा था।

आर्य समाज के अनेक सगठनो और सभाओ क पदाधिकारी रहने क साथ साथ वे चौथी और पाचवी लोकसभा क सदस्य भी रहे। वे जहा भी रहे, समाजसेवा ही एकमात्र उनका ध्येय रहा।

शास्त्री जी एक कुशल वक्ता थे। विद्वता और पाण्डित्य के साथ उनके व्याख्यानो मे ऐतिहासिक कथाओ और शेरो-शायरी की भी पुट रहती थी जिससे जनता उनके व्याख्यानो को आतुर रहती थी।

आर्य पुनर्गठन' परिवार दिवगत की आत्मा की शांति के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है और उन्हे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

अध्यापक

(शेष पृष्ठ 1 का)

अजमेर के मत्री है तथा राजनीति में भी सक्रिय है। श्री रासासिह का एकमात्र ध्येय विद्यालय का सर्वांगीण विकास है। श्री सिह की लोकप्रियता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि 6 सितम्बर को प्रात मेल से अजमेर पहुंचने पर नगर के सम्भ्रान्त नागरिको आर्यसमाज के पदाधिकारियो, शिक्षा क्षेत्र से जुडे लोगो व डी ए वी. स्कूल के छात्रो न भव्य स्वागत किया। स्टेशन से खुली जीप मे उन्हें मोनिया इस्लामिया सी. उ मा वि में लाया गया। वहां शिक्षा विभाग द्वारा श्री सिह का सम्मान किया गया। कार्यक्रम अजमेर के जिला-शिक्षा अधिकारी श्री मोहनलाल सिसोदिया एव स्कूल के प्रधानाचार्य श्री श्यामलाल वर्मा के सयोजन मे हुआ। इसके बाद डी ए वी स्कूल के प्रागण मे श्री सिह का एक भव्य समारोह मे अभिनन्दन किया गया। राज्य सरकार ने उन्हे उनके सम्मान स्वरूप 3001/- का एक एक चैक, एक शाल व प्रशस्ति पत्र प्रदान किया है।

अभिनन्दन...

(शेष पृष्ठ 1 का)

श्रीसिह की कार्यप्रणाली एव कर्तव्यनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशसा की।

मुख्य अतिथि श्री किशन मोटवानी ने श्री सिह के भावी जीवन की सफलता की कामना करते हुए उन्हें श्रेष्ठ व कर्मठ कार्यकर्ता तथा अध्यापक बताया।

समारोह के अध्यक्ष श्री कृष्णराव जी बाल्ले ने श्री रासासिह की कर्तव्यनिष्ठा व समर्पण भाव की प्रशसा करते हुये उनकी कार्यशैली को अन्य कार्यकर्ताओ को ग्रहण करने की सलाह देते हुये उनके दीर्घायु तथा भावी जीवन की सफलता की कामना की।

इस अवसर पर अनेक प्रतिष्ठित नागरिक, शिक्षाविद् एव पत्रकार उपस्थित थे। कई महानुभावो ने, विशेषकर शिक्षाविदो ने बधाई-पत्र भेजकर उनकी प्रशसा की है।

समारोह का सचालन श्री गोविन्दसिंह ने किया।

कोटा के साम्प्रदायिक दंगो पर चिंता व्यक्त

आर्य समाज अजमेर के तत्वावधान में रविवार को सम्पन्न इस सभा ने सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव द्वारा कोटा में हुए भयकर दगो पर घोर चिन्ता व्यक्त की है तथा हिन्दुओं के अनन्त चतुर्दशी के जुलूस पर अन्य वर्ग द्वारा हमला और पथराव किये जाने की कडी भर्त्सना की है। दगों में मरने वाले व्यक्तियो के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त करते हुये राज्य सरकार से दगा पीडितों को समुचित सहायता देने तथा अपराधी असामाजिक तत्वो के विरुद्ध अविलम्ब कडी कार्यवाही करने की मांग की है।

राज्य सरकार से अल्पसख्यको के तुष्टिकरण की नीति को त्याग कर साम्प्रदायिक तत्वो से कडाई से निपटने का अनुरोध किया है। इस आशय के सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव की प्रतियां राजस्थान के राज्यपाल, मुख्यमन्त्री तथा गृहमन्त्री एव जिलाधीश को भी प्रेषित की गई है।

—मन्त्री

शुभ सूचना

'काश गाधी जी ने कुरान पढी होती तो हिंदू मुस्लिम भाई-भाई नहीं कहते।

इस पुस्तक को 2 वर्ष पहले भारत सरकार ने जब्त करके पुस्तक के लेखक विशन स्वरूप गोयल पर केस चलाया जिस माननीय मजिस्ट्रेट श्री चतुर्वेदी जी ने 29 नवम्बर सन 88 को खारिज कर दिया। जो सज्जन यह पुस्तक मगवाना चाहे वे 1) रुपए प्रति मगवा सकते हैं। वितरण करने वालो को 50) रु मे सौ प्रति भेजी जायेगी।

—वेद प्रचारक मण्डल,
60/13 रामजस रोड,

वेद-प्रचार सप्ताह मनाया

आर्य समाज अजमेर के तत्वावधान मे रक्षा बन्धन से लेकर जन्माष्टमी पर्व तक वेद प्रचार सप्ताह क अन्तर्गत विभिन्न आर्य परिवारो क निवास स्थानो पर सत्सग, प्रवचन भजन आदि क कार्यक्रम समारोहपूर्वक सम्पन्न हुए।

आर्य समाज के मन्त्री श्री रासासिंह ने इन सभी महानुभावो, प्रवचनकर्ताओ, भजनीको एव सहयोगियो क प्रति समाज की ओर से हार्दिक आभार व्यक्त किया है।

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1. वेद, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2. हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु. 1 00
3. विद्यार्थियों के लिए आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4. दी आर्यसमाज हिन्दू विसाउट हिन्दुइज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5. आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही-मूल्य—50 रु
6. आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मूवमेंट (सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—5 00 रु

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1. दयानन्द कथा सग्रह मूल्य रु—3 00
2. महर्षि दयानन्द पत्रो के दर्पण मे मूल्य रु—50 00

अन्य प्रकाशन

1. धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
2. परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण सस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00
3. आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20.00 रु अजिल्द 16 00 ले लाला लाजपतराय

सत्यार्थ-प्रकाश ट्रैक्ट माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट)

1-ईश्वर एक नाम अनेक	9-स्वर्ग और नरक कहा है?
2-आदर्श माता-पिता	10-चौके चूल्हे में धर्म नही
3-शिक्षा और चरित्र निर्माण	11-हिन्दू धर्म की निर्बलता
4-गृहस्थाश्रम का महत्व	12-बौद्ध और जैनमत
5-सन्यासी कौन और कैसा हो?	13-वेद और ईसाई मत
राज्य व्यवस्था	14-इस्लाम और वैदिक धर्म
7-ईश्वर और वेद	15-सत्य का सर्वतथा प्रकाश
8-जगत् की उत्पत्ति	

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत के चोटी के विद्वानों के द्वारा लिखित हैं एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो.दत्तात्रेय जी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

वेदार्थ पारिजात् खण्डनम्

प्रस्तुत पुस्तक विश्व वेद परिषद्, वेद भवन सी-817 लखनऊ से प्रकाशित की गई है। लेखक श्री वीरेन्द्रमुनि शास्त्री एम०ए० काव्य-तीर्थ, मूल्य 20) रुपये, पृष्ठ सख्या 138 है।

इस पुस्तक मे आचार्य वीरेन्द्र मुनि के अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानो के लेख हैं। जिनमे स्वामी करपात्री के वेदार्थ पारिजात् का खण्डन किया गया है।

सम्पादक मुद्रक प्रकाशक रासासिंह ... बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने में सदा उद्यत रहना चाहिए ।
—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए ।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 6 शनिवार, 30 सितम्बर, 1989
अ क 18 प स -43383/84

अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।। परोक्षात् ।

आश्विन सु 1 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

आर्य जनों के लिए विचारणीय विषय

विश्वनाथ प्रतापसिंह भी उर्दू की वकालत करते हैं !

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

हाल ही के अपने राजस्थान दौरे के दौरान जनता दल के अध्यक्ष विश्वनाथ प्रतापसिह और हरियाणा के मुख्यमन्त्री देवीलाल अजमर भी आए थे । 29 सितम्बर की प्रात 8 अजमेर के सर्किट हाउस मे विश्वनाथ प्रतापसिह के लिए एक सवाददाता-सम्मेलन का आयोजन किया गया था । प्राय सवाददाता सम्मेलनो मे मैं जाता नही हू-लेकिन इस बार मुझ किन्ही कारणो से जाना पडा ।

अभी पिछले दिनो हिन्दी भाषी उत्तर प्रदेश मे उर्दू को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिया गया है मैं उस पर एव 'राम जन्म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद पर देश के भावी प्रधानमत्री माने जाने वाले व्यक्ति के विचार जानना चाहता था । क्योकि मेरे सामने उर्दू के विषय मे इका का पक्ष तो पूरी तरह स्पष्ट था । वह तो उर्दू को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दे रही है, बस अब इस पर जनता दल का पक्ष और जानना था ।

मेरे लिए विस्मय के साथ साथ यह खेद की भी बात रही कि जहा 'राम जन्म भूमि' के मुद्दे पर जनता दल अध्यक्ष स्वय बोलन के लिए उत्सुक थे वही उर्दू के विषय मे किसी भी सवाददाता ने प्रश्न नही किया । बहरहाल मुझे ही इस सबध मे उनसे प्रश्न करना पडा ।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद पर विश्वनाथ प्रतापसिह का कहना था कि बिना मन्दिर या मस्जिद तोडे दोनो पक्षो के लिए स्वीकार्य समाधान निकाला जा सकता है और ऐसा समाधान उनके पास है । हालाकि पूछने पर उन्होने वह समाधान नही बताया ।

उर्दू को उत्तर प्रदेश मे द्वितीय राजभाषा बनाने के फैसले के वे प्रशसक हैं मेरे इस विषय मे पूछने पर विश्वनाथ प्रतापसिह का कहना था कि मैं तो अपने मुख्यमन्त्रित्व-काल मे ही इस काय को करना चाहता था, लेकिन किन्ही कारणो से तब यह सभव नही हो सका । उनकी सम्मति मे यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिए था । इका ने चुनाव पूर्व इसकी घोषणा करके वोटो की राजनीति की है । (इका पर वोटो की राजनीति करने का आरोप लगाने वाले जनता दल की स्वय यह भाषायी नीति क्या वोट की राजनीति से नही प्रेरित है !)

आम चुनाव सन्निकट है । आर्य समाज के सर्वोच्च सगठनो के लिए यह समय बहुत ही महत्त्व का है । इका व जनता दल दोनो की नीति आर्य जना की भावनाओ के विपरीत है । ऐसे मे आर्यसमाज को तय करना है कि चुनावो म वह किस प्रकार किस दल क समथन मे अपनी भूमिका निभाए ?

मैंने बिना अपनी किसी टिप्पणी के सारी स्थिति आर्य जनता के समक्ष रख दी है । इस पर आगे बहस चलाना और कोई निर्णय लेना अब उसी के हाथ मे है ।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य की अमेरिका में भाषणमाला

सयुक्त राज्य अमेरिका के हटिंग्टन नगर मे स्थित अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन क केन्द्र माशल विश्वविद्यालय की विभिन्न कक्षाओ मे तथा विश्वविद्यालय के ही छोट-छोटे अनौपचारिक समूहो मे दयानन्द कालेज अजमेर के पूव प्राचार्य एवं अजमेर के प्रसिद्ध आर्य विद्वान एव प्रमुख शिक्षाविद दत्तात्रेय आय के भारतीय सस्कृति और राजनीति के सदभ मे एक अतिथि विद्वान (विजिटिंग स्कोलर) के रूप मे एक सितम्बर से ही नियमित भाषण हो रहे है जो अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक चलेंगे ।



मार्शल विश्वविद्यालय के अधिकारी डा ऐलन बी गोल्ड ने आचार्य जी का स्वागत करते हुए कहाकि 'हमारे विश्वविद्यालय के प्रागण मे आप जैसे सक्षम विद्वान को पाकर हमे प्रसन्नता हे । आपके विचार हमारे विद्यार्थियो और सकायो के लिए मूल्यवान होगे ।

इसके लिये उन्हे सबधित विश्वविद्यालय द्वारा समस्त आवश्यक सुविधाये भी प्रदत्त की गई है ।"

आचार्य जी अक्टूबर के तीसरे सप्ताह मे स्वदेश लौटेंगे ।

दहेज : कुछ विचार

आधे से अधिक, शायद 90%, विवाहो मे दहेज लिया दिया जाता है । किंतु यदि सभी अभिभावक अनिच्छापूर्वक और विवशतामे देतहैं तो दहेज मागने के अपराधी अभिभावक और दूल्हे कौन से हैं ? क्या ये सभी किसी दूसरे ग्रह के निवासी है ? या ये कन्या-पक्ष के वही बेचारे मजबूर नही हैं, जो वर-पक्ष बनते ही दहेज-दानव हो जाते हैं ? यदि ये वे ही महानुभाव हैं, तो हम किसके लिए अपनी सहानुभूति की अश्रुनदी बहा रहे हैं ? यदि वर पक्ष और वधू पक्ष दो अलग-अलग ग्रहो के निवासी नही हैं, तो वधू पक्ष की हाय-तोबा और चीख पुकार को कितनी गम्भीरता से लिया जाए?

इससे तो यह निष्कष निकलता है कि हमसब पाखडी और दो मुहे हैं। इसे हम कहा तक सत्य मानें ? कहीं ऐसा तो नही कि विवशता और अनिच्छा का हमारा आकलन ही त्रुटिपूर्ण हो और इसका प्रतिशत उतना बडा न हो ? दहेज से जुडे कुछ और महत्वपूर्ण बिंदु है । समाज मे ऐसे अभिभावको की बहुत बडी

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक । रासासिह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय

"न खंजर उठेगा, न तलवार इनसे ये बाजू मेरे आजमाये हुए है ।"

आर्यसमाज की शिथिलता को दूर करने, इस महान सगठन को पुन प्रखरता, तेजस्विता तथा क्रान्तिकारिता प्रदान करने के लिये, इसे अपनी शक्ति का साक्षात्कार कराने तथा राष्ट्रीय मूलधारा मे वर्चस्विता प्रदान करने हेतु विगत कुछ समय से निरन्तर प्रयास हो रहे हैं। प्रयास होने भी चाहिये। हम तो परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि "प्रभु ! इन आर्यजनो को पुन प्रबुद्ध करो, उठाओ, जगाओ, आगे बढाओ।"

हमारा राष्ट्र वर्तमान मे जिन परिस्थितियो के दौर से गुजर रहा है ऐसे समय मे राष्ट्र की एकता, अखडता, अस्मिता की रक्षा हेतु, राष्ट्रीय मानको की परिपालना हेतु, साम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रान्तीयतावाद, क्षेत्रीयतावाद, आतकवाद और पृथकतावाद की आधी को रोकने हेतु, प्रत्येक क्षेत्र मे अनुशासन, सस्कार तथा चरित्र के निर्माण हेतु आर्यसमाज का दायित्व अत्यधिक बढ गया है। सब इसकी ओर निहार रहे हैं। सभवत यही एक ऐसा राष्ट्रव्यापी सगठन है जो एक हाथ मे वेद का सदेश एव दूसरे हाथ मे सत्य धर्म की दुहाई लेकर बुद्धि एव श्रद्धा का समन्वय लेकर वैज्ञानिक एव प्रगतिशील दृष्टिकोण लेकर सर्वजन हिताय कुछ करने की सामर्थ्य रखता है। परन्तु जागे हुए को उठाना और कर्तव्य पथ पर अग्रसर करना आसान है परन्तु कुम्भकर्णी निद्रा मे सोये हुए को उठाना और उसे अपनी शक्ति से परिचित कराना अत्यन्त दुष्कर है।

1975 ई मे 'आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह' अत्यन्त धूमधाम से सम्पन्न हुआ। सारे देश के समाचार पत्रो मे इस सगठन के इतिहास गौरव, सेवा कार्यो, सगठन, सिद्धान्तो आदि के बारे मे बहुत कुछ छपा। बडे-बडे सम्मलन आयोजित हुए। करतल ध्वनियो के बीच क्रान्ति का सचार करने वाले बडे-बडे महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए। आर्य जगत् ने सोचा कि अब कुछ जरूर होगा, जरूर बनेगा। पर समारोहो की समाप्ति पर पूर्णाहुति कर शान्ति-शान्ति का पाठ कर सब कुछ शान्त हो गया। स्थिति गई आई हो गई। फिर श्रद्धानन्द शताब्दी समारोह फिर 1983-84 मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह" और भी अधिक हर्षोल्लासमय वातावरण मे धूमधडाके से सम्पन्न हुआ। कही 'आर्य विचार मच' का गठन हुआ तो कही बडे-बडे बुद्धिजीवी सम्मेलन, वेद सम्मेलन, आदि आयोजित हुए। आर्यसमाज म पुन प्राण फूकने के जोर शोर से प्रयास हुए। पर फिर स्थिति वही 'ढाक के तीन पात' रही। परिवर्तन का नाम जपा गया, काम छोड दिया गया। पिछले दिनों दिल्ली मे विद्वान मनीषी प्रशान्त वेदालकार जी ने पुन नवीन कार्यक्रम का निर्धारण करने के लिये पूरे भारत के 'बुद्धिजीवी आर्यजनो" का का सम्मलन आहूत किया। 8-9-10 अक्टूबर को श्री गगानगर मे भी ऐसा ही एक आर्य महासम्मेलन आयोजित होने जा रहा है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी पिछले दिनो एक त्रिसूत्री कार्यक्रम राष्ट्र की आर्य समाजो के सम्मुख प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार 'गौरक्षा, शराबबन्दी तथा अग्रेजी हटाओ" आन्दोलन प्रारभ करने का शखनाद किया यद्यपि ये तीनो कार्यक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। परन्तु पुराने घिसेपिटे कार्यक्रम है फिर इनको करने के लिये और भी कई सगठन और सस्थाए हैं। यदि थोडी देर के लिये इन्ही त्रिसूत्री कार्यक्रमो को ही हाथ मे ले तो इसके लिये कोरी विज्ञप्तियो, अखबारी वक्तव्यो अथवा केवल दिल्ली मे थोडा बहुत हा-हू करने मात्र से कुछ काम नही चलेगा। पहले कार्यक्रम तय हो, साधन जुटे, आर्यसमाजें सक्रिय हो, जन चेतना पैदा की जाय। समितिया बनें, जन जागरण हो, अन्य सगठनो को जोडा जाय और सोच विचार के बाद फिर प्रभावशाली कार्यक्रम प्रारभ किया जाय तभी सरकार के कानो पर जू रेंगेगी अन्यथा नक्कार खाने मे तूती की आवाज कौन सुनेगा। पहले हम घर में तो झाक लें ! तथा कथित बडे-बडे आर्य जनो के पुत्र अग्रेजी माध्यम के मिशन स्कूलो मे जाते हैं, आर्यसमाज के ही सैकडो डी ए वी पब्लिक स्कूल्स खुले हुए हैं जहा अग्रेजी का वर्चस्व है, पजाब मे तो कई आर्यसमाजी विचारो के पदाधिकारियो की शराब की ठेके की दुकानें हैं। गौरक्षा, गौसवर्धन, गौशालाओ के निर्माण आदि के लिए हम कितने सचेष्ट हैं? पहले घर की सफाई करो।

हम चाहते हैं कि सम्मेलन हो, चिन्तन हो, मन्थन हो, आन्दोलन भी हो पर लक्ष्यबद्ध, सुव्यवस्थित एव आर्यसमाज के गौरव के अनुरूप ऊर्जस्वित कार्यक्रम हो। दुनिया झुकती है, झुकाने वाला चाहिए। शक्तिशाली को सब नतमस्तक होते हैं, कमजोर का साथी कोई नहीं होता है। "दुनिया मनदी जोरान् लख लानत है कमजोरा नू।" हम निराश भी नही हैं। कुछ नही से कुछ होना ज्यादा अच्छा है। पर अब कोरे घिसटने से काम नही चलेगा। कुछ करके दिखाना होगा नही तो हमारा विश्वास उठ जायेगा।

"जिसने मरना सीख लिया है, जीने का अधिकार उसी को।
जो कांटो के पथ पर आया, फूलो का उपहार उसी को।।"

—रासासिंह

'श्राद्ध' ने अभी पीछा नहीं छोड़ा

देश इक्कीसवीं सदी की ओर आगे तेजी से बढ रहा है, समस्त विश्व एक परिवार जैसा होने लग गया है, प्रगतिशील एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी पनपने लगा है, पुरुषो तथा महिलाओ मे शिक्षा का प्रचार प्रसार भी बढने लगा है, आर्थिक स्तर भी समुन्नत हुआ है, टी वी. सभ्यता का भी तेजी से प्रचार प्रसार हो रहा है परन्तु इन सबके बावजूद सामाजिक कुरीतियो और अन्ध विश्वासो ने हमारा पीछा नही छोडा है। जहा दहेज, पर्दा, मृत्युभोज, वैवाहिक आडम्बर आदि कुप्रथायें सुरसा के मुख की भाति बढती चली जा रही हैं, वही पर श्राद्ध तर्पण, पिण्डदान, आदि अवैदिक क्रियाए भी अन्ध श्रद्धा और परम्पराओ के पालन के नाम पर चलती ही जा रही हैं। रुकने के स्थान पर बढती ही जा रही हैं। कहा तो महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज का यह मन्तव्य तेजी से प्रचारित तथा प्रसारित हुआ था कि "जीवित माता पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम श्राद्ध है।" तथा 'सतानो द्वारा अपने श्रेष्ठ आचरण, सेवा तथा सुकार्यों से मा बाप को तृप्त करने का नाम ही तर्पण है।" आर्यसमाज के सभा सम्मेलनो, उत्सवो तथा जुलूसो मे आर्य भजनोपदेशक जोर शोर से यह प्रचारित करने मे गौरव अनुभव करते थे कि "जीवित पिता तो लट्ठमलट्ठा अवश दगमदगा—मर जाये तब बहाये गगा"। लोग इन बातो से बहुत प्रभावित होते थे। परन्तु पौराणिकता के मकड जाल से छूटना बहुत कठिन होता है। पुरुष आर्य समाजी विचारो का हो तो भी महिलाए अन्ध श्रद्धा का शिकार हो जाती हैं। देखा देखी, पडौस की नकल होती है। दुनिया दिखावा करती है। लोकाचार के नाम पर सब कुछ निभाना पडता है। इसी आधार पर कई आर्य परिवारों मे भी श्राद्ध पक्ष की तिथियो में ही पुण्य स्मृति के नाम पर यज्ञ-हवन आदि करने करवाने एव साधु सन्तो, ब्राह्मणो को जिमाने की परम्परा भी इस वेश मे चलने लग गई है जो 'नमक की खान ही बनने" की उक्ति को चरितार्थ कर रही है।

हम ध्यान रखे कि "श्राद्ध का अर्थ है—श्रद्धापूर्वक अपने पितरों की सेवा करना। तर्पण का अर्थ है—अपने कर्मो से अपने पितर लोगो को तृप्त करना अर्थात् सुख युक्त करना।"

पितर अपने माता-पिता, दादा दादी, नाना-नानी, सास-ससुर आदि कुटुम्बी, विद्वान, देवपुरुष और विद्यादान करने वाले ऋषि तुल्य आचार्य लोग। श्राद्ध और तर्पण केवल एक दिन हो नही होता अपितु सदैव करते रहने के लिये ही पच महायज्ञो मे एक यज्ञ पितृ - यज्ञ रखा गया है। इस प्रकार के श्राद्ध और तर्पण जीवित महानुभावो के प्रति ही हो सकते हैं, मृतकों के नही। मृतको के नाम पर श्राद्ध-तर्पण की परिपाटी सर्वथा निरर्थक है।

—रासासिंह

मारीशस में आर्यसमाज

—डा प्रानन्द प्रकाश—

इस वर्ष 1। जून से 27 जुलाई तक मारीशस देश मे मे तीसरी बार जाकर आर्यसमाज का प्रचार कार्य करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। मारीशस, हिन्द महासागर स्थित एक टापू है, जिसकी जनसख्या 12 लाख और क्षेत्रफल 4,60,800 एकड है। इसकी अनुपम प्राकृतिक सुन्दरता के कारण ही इसे हिन्दमहासागर का सर्वश्रेष्ठ मोती भी कहा जाता है। भारत और नेपाल के अतिरिक्त तीन देश और हैं, जहा पर हिन्दुओ का बहुमत है। मारीशस, फिजी तथा ब्रिटिश गायना। पर बहुमत रहते हुए भी, फिजी तथा ब्रिटिश गयना मे शासन की बागडोर हिन्दुओ के हाथो से निकल चुकी है। मारीशस की कुल आबादी मे हिन्दुओ का प्रतिशत 52 है। सन् 1971 मे हिन्दुओ की जनसख्या का प्रतिशत 52 53 था और 1911 मे 56 50। आर्यसमाज की स्थापना वहा पर सन् 1910 मे हुई है। पिछले 78 वर्षों के अपने कार्यकाल मे आर्यसमाज ने प्रायः सभी राजनैतिक तथा सुधारवादी आन्दोलनो का नेतृत्व किया और हिन्दुओ के बहुमत तथा आजादी के उपरात हिन्दुओ की सत्ता को बनाये रखने मे प्रमुख भूमिका अदा की। इस छोटे देश में 400 के लगभग आर्यसमाज की इकाईया हैं। इनकी शिरोमणि संस्था, आर्यसमाज सभा का राजधानी, पोर्ट लुइस मे विशाल भवन है। जिस मार्ग पर यह भवन स्थित है, उस मार्ग का का नाम "महर्षि दयानन्द स्ट्रीट" है।

मैंने मारीशस मे यह पाया कि आर्यसमाज के सिद्धात प्रचार और यज्ञ के प्रति, वहा के आर्य बन्धुओ मे बहुत लगन है। इस बार का वेद प्रचार का कायक्रम 19 जुलाई से ही प्रारम्भ हो गया जो 23 अगस्त तक चलेगा। अलग-अलग स्थानो पर सप्ताह पर्यन्त चलने वाले कार्यक्रम जिसमे यजुर्वेद पारायण यज्ञ, भजन व वेद-प्रवचन होते हैं, अत्यत उत्साह और समारोह के साथ आयोजित किये जात हैं। 5-6 आर्य पुरोहित सस्वर मन्त्र पाठ करते हैं और सभी यजमान भारतीय परिधान मे ही उपस्थित होते हैं।

मारीशस का रेडियो प्रति रविवार को प्रात काल 6 बजे से 15 मिनट का एक कार्यक्रम "वैदिक वाणी" के नाम से प्रसारित करता है। इस "वैदिक वाणी" कार्यक्रम का आयोजन, आर्य सभा मारीशस की ओर से किया जाता है। इस कार्यक्रम को मारीशस में प्राय सभी आर्य भाई-बहिन सुनते हैं आर्य समाज के बाहर भी इस कार्यक्रम की प्रसिद्धि है। अपने देश मे, रेडियो अथवा टेलीविजन से आर्य समाज के विचारो का प्रचार करने वाला कोई भी कार्यक्रम प्रसारित नही होता। इस "वैदिक वाणी" कार्यक्रम मे चार सप्ताह मेरे प्रवचन हुये।

आर्यसभा के सगठन का ढाचा बहुत ही व्यवस्थित है। मास के चारो सप्ताह के लिये कार्यक्रम प्राय पूर्व निर्धारित रहते हैं। प्रत्येक शनिवार को कोई न कोई बैठक होती है। मास मे एक बार अतरग सभा, उपदेशक मडल, विद्या समिति तथा महिला मडल की बैठक अवश्य होती है। यह कार्य पद्धति, एक जीवन्त और सशक्त सगठन की निशानी है। आर्य सभा का मुख पत्र, आर्योदय-पाक्षिक, हिन्दी का सबसे प्राचीन एव सर्वश्रेष्ठ पत्र है। यह सुन्दर और प्रभावशाली पत्र नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। "श्रद्धानन्द प्रेस" के नाम से सभा का अपना प्रिंटिंग प्रेस है। आर्य सभा के अन्तर्गत् एक डी ए वी कालेज और तीन अन्य विद्यालयो तथा एक आर्य अनाथालय का सचालन सुचारू रूप से किया जा रहा है।

इस बार के प्रवास मे, आर्यसभा के मुख्य केन्द्र के अतिरिक्त काचे मिलेतेर, माहेवर्ग, त्रिपोले, फ्लाक बेल रोज गा बुआ, वाक्वा, रोज बेल आदि प्रमुख स्थानो पर आर्य समाजो द्वारा आयोजित कार्यक्रमो मे भाषण हुये। अनेक उच्च पदाधिकारियो मत्री परिषद के सदस्यो विधानसभा सदस्यो सामाजिक सस्थाओ के प्रतिनिधिओ से मिलन तथा आर्य समाज के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त हुआ।

—काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ प्र)

क्षितीश वेदालंकार अभिनन्दन समारोह 15 अक्टूबर को

'नया युगपुरुष' के तत्वावधान मे होने वाला सपादक-प्रवर क्षितीश वेदालकार का अभिनन्दम समारोह 15 अक्टूबर को होना निश्चित हुआ है।

समारोह मे सवाद समिति 'भाषा' के सम्पादक डा वेद प्रताप वैदिक, दैनिक हिन्दुस्तान के समाचार सम्पादक डा विश्वमित्र उपाध्याय, बाल-पत्रिका 'नन्दन' के सम्पादक जयप्रकाश भारती, भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक डा श्याम सिंह शशि, वरिष्ठ पत्रकार दत्तात्रेय तिवारी, स्वतन्त्रता सेनानी लेखक विराज विद्यालकार आमन्त्रित वक्ता होगे।

इसी अवसर पर वीरेन्द्र आर्य द्वारा सम्पादित क्षितीश जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित पुस्तक 'राष्ट्रीय पत्रकारिता के पुरोधा' का भी विमोचन होगा।

अभिनन्दन-समारोह के स्वागताध्यक्ष वरिष्ठ पत्रकार मोहनराज भण्डारी और सयोजक युवा पत्रकार-कवि अनिल लोढा होगे।

---

4 अक्टूबर को जन्म दिवस पर विशेष

ऐसे थे प. श्याम जी कृष्ण वर्मा

जिन दिनो श्याम जी आक्सफोड मे पढत थे, तो वहा एक बार इग्लैंड के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन का वहा आ । हुआ। मि ग्लेडस्टन ने श्याम जी से पूछा कि क्या भारत वसी अग्रेजी शासन से खुश हैं। इसके उत्तर मे श्याम जी ने जो कुछ कहा उसे सुनकर ग्लेडस्टन भौचक्के रह गए। श्याम जी ने मि ग्लेडस्टन का उत्तर दिया कि 'हा, मुसलमानी शासन की तुलना मे तो आपके राज्य में हमे कुछ सुविधाए ही प्राप्त हैं। यदि मुसलमान हमारी पीठ पर लात मारते थे तो अग्रेज हमारे पेट पर प्रहार कर रहे हैं।"

प्रकाश दत्त भार्गव के निधन पर शोक व्यक्त

आयसमाज अजमेर ने दिल्ली को आर एस एस शाखा के प्रान्तीय सचालक एव सुप्रसिद्ध वकील श्री प्रकाशदत्त भार्गव के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया है एव उनकी आत्मा की चिरशान्ति की प्रभु से कामना की है।

उल्लेखनीय है कि स्व श्री भार्गव अजमेर की आर्य शिक्षण सस्थाओ के हितैषियो मे एक थे। — मन्त्री

कोटा का साम्प्रदायिक दंगा

कोटा शहर पिछले कुछ दिनो से साम्प्रदायिक दगो की आग मे झुलस रहा है। अनेक लोगो की जाने इस दगे के दौरान जा चुकी है और करोडो रुपये की सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी है। लेकिन इसके बावजूद अभी तक शहर मे पूरी तरह शाति स्थापित नही हो पाई है।

साम्प्रदायिक दगे होते क्यो हैं, आखिर इनकी मानसिकता क्या है? इसे बहुत आसानी से समझा जा सकता है। सम्प्रदायो की भीड ने जिस कट्टरता को जन्म दिया है, उसी के टकराव का नतीजा ये दगे हैं। सम्प्रदाय से ही तो साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ है। धर्म और सम्प्रदाय पर्याप्त नहीं हैं। धर्म तो मानव-मात्र का एक ही है।

साम्प्रदायिक दगो की पीछे काम करती मानसिकता के दो उदाहरण पेश हैं। कोटा के दगे की प्रतिक्रिया में अजमेर के एक कथित हिंदू पक्षधर सगठन द्वारा जुलूस निकला गया। यह जुलूस विश्व प्रसिद्ध दरगाह के पास पहुँचा और वहा इसमे सम्मिलित लोगों द्वारा आपत्तिजनक नारे लगाए गए। दूसरी घटना मे अजमेर मे अन्यत्र एक मुसलमान फकीर द्वारा एक स्कूली छात्रा का गला घोटने की कोशिश की गई। इन घटनाओ का अर्थ क्या निकलता है?

देश के कथित धार्मिक सगठनो व राजनीतिक दलो की भूमिका तो इन दगो मे सदर्भ मे सबसे घटिया रहती है। बिना दगो का कारण जाने ये सगठन और राजनीतिक दल अपने विरोधियो को दोषी ठहराना शुरू कर देते हैं। आखिर इन्हे तो अपनी राजनीति चलाने से ही मतलब जो है।

ऐसे मे प्रगतिशील और शाति के उपासको का दायित्व कही अधिक बढ जाता है।

—वीरेन्द्र आर्य

अगर विश्व में समा सको!

दीप झिलमिला उठें,
फूल खिलखिला उठे,
हृदय से अगर कभी हृदय तुम मिला सको।
साज झनझना उठें,
गीत गुनगुना उठे,
बोल प्यार के मधुर, जो अगर सुना सको।
रोम सुगबुगा उठें,
प्राण जगमगा उठे,
देह से अमर सही नेह तुम लगा सको।
[illegible] महा उठें,
विहग चहचहा उठें,
जिंदगी सुकर्म से अमर [illegible] सको।
चाद चमचमा उठे,
सूर्य दमदमा उठे,
ज्ञान-ज्योति बन अगर विश्व मे समा सको।

—बाल कृष्ण गर्ग (आहटें नई सदी)

आवश्यक सूचना

'आर्य पुनर्गठन' के पाठको से निवेदन है कि जिन सदस्यो ने वार्षिक वार्षिक शुल्क अभी तक कार्यालय मे नही भिजवाया है वह कृपया शीघ्र वार्षिक शुल्क भेजकर सहयोग प्रदान करे। मनीआर्डर भेजते समय अपना पूरा पता लिखने का कष्ट करे। वार्षिक शुल्क 25) रुपय है।

बार-2 वार्षिक शुल्क भेजने की परेशानी से बचन का सरल उपाय, एक बार 150) रुपए भेजकर 'आर्य पुनर्गठन' के आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

—व्यवस्थापक

दहेज कुछ ...

(शेष पृष्ठ 1 का)

सकता है जिनकी दो या तीन सुपुत्रियाँ ही है और जो प्रत्येक के विवाह पर न्यूनतम 40-50 हजार या इससे अधिक रुपया खर्च करने के इच्छुक हैं। बल्कि इतनी राशि तो वे बारात की खातिर, प्रीतिभोज, बाजे-गाजे तथा पडाल की सज्जा मे ही लगा देते हैं, उनके लिए कानूनन दहेज को प्रतिबधित करना कहा तक उचित, न्यायसगत, अथवा प्रभावपूर्ण ही होगा? क्या उनके लिए यह सभव है कि वे अपनी बचत अथवा सम्पत्ति में से बेटियों को पूरी तरह बेदखल कर दें और सब कुछ बेटो को ही दें? बेटिया छूछे हाथ घर से निकाल दी जाए और बेटे सपत्ति का एकछत्र सुख भोगें? ऐसी स्थिति मा-बाप, बेटी, बेटा—किसे सुखी करेगी?

और यदि सब सताने बेटिया ही हो तो? तो भी माता-पिता की मत्यु तक उनका धन बेटियो के लिए निरुपयोगी बना रहे? यह भी सभव है कि बेटा (या बेटे) जुए बाज या आवारा व निकम्मे हो तो बेटा भले बाप की होली जलाता रहे, लेकिन कन्या को दहेज देने पर बाप को मुजरिम बना दिया जाए?

बेटी तो कपडे जेवर तथा दूसरे घरेलू सामान को तरसती रहे, लेकिन डिस्को, कव्वाली, आरकेस्ट्रा, जगराता आदि पर 5-10 हजार रु फूक दिया जाए, मडप की सज्जा, बैंड-बाजे और दावत मे 20-40 हजार खर्च हो. यह स्थिति क्या बहुत शोभनीय है? इस प्रदर्शन और अपव्यय के विरुद्ध कानून बनाने की माग हमारे दहेज विरोधी वीर कम ही करते है।

हमारा अभिप्राय दहेज या किसी भी बुराई का समर्थन करना नहीं है। निवेदन केवल इतना है कि कहानी लघुकथा या निबधो मे जब तक हमारी दृष्टि उथली रहेगी तब यह लेखन बेकार है, जैसा कि वह सिद्ध होता रहा है। ये रहे मागने वाले वे रहे देने वाले, यह इधर दड सहिता है। और उधर हथकडी खनखनाता सिपाही ऐसी सोच हमे कहीं नही ले जाएगी।

(शुभतारिका से)

—आर्योपप्रतिनिधि सभा वाराणसी के साधारण सभा की बैठक दि 23 7 89 को आर्यसमाज आनद बाग, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी मे सपन्न हुई जिसमे वर्ष 89-90 के लिये निम्नलिखत पदाधिकारीगण चुने गये। मत्री

पत्र और विचार

राष्ट्रभाषा के हत्यारे!

जिस समय भारत के सविधान का निर्माण हुआ था उस समय सविधान मे सर्वसम्मति से मातृ भाषा हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया था।

किन्तु आज 40 वर्षो के बाद भी राष्ट्रभाषा की ऐसी स्थिति? दिल्ली जैसे महानगरो मे कुछ समय पूर्व शासन द्वारा चयन किए हुए राज्यपाल द्वारा हिंदी के नाम-प्लेटों एव वाहनो के नम्बरों पर भी आपत्तिजनक कार्यवाही की गई थी। यह तो सर्वविदित है ही। मैं पूछना चाहता हू कि अग्रेजी में कौन सी अच्छाई है, जो इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिंदी का महान अपमान किया जा रहा है। अग्रेजी भाषा का न कोई व्याकरण न कोई नियम। कुछ लिखा जाता है तो कुछ पढा जाता है। कही 'से' "क" निकलता तो कही "स्" की ध्वनि। ऐसी मुर्दा भाषा को मान्यता देकर अपनी परम पवित्र शुद्ध भाषा का अपमान करना क्या देशद्रोह नही है?

वर्तमान भारत के प्रधानमन्त्री से से जब कभी विदेशी देशो के शासनाध्यक्ष मिलने आते हैं तब विदेशी शासनाध्यक्ष तो अपने देशो की राष्ट्र भाषा का प्रयोग करते है किंतु हमारे देश को 21 वी सदी म ले जाने की ओर से जाने वाले युवा प्रधानमत्री अग्रेजी मे टर्राते हैं। क्या यह प्रधानमत्री का देशद्रोह नही है? क्या यह भारतमाता का अपमान नही है?

आर्यो! यदि राष्ट्र को बचाना चाहते हो, यदि दयानन्द के सपनो को साकार करना चाहते हो तो हिन्दी रक्षा के लिए प्राणप्रण से जुट जाओ तभी हिन्दी भाषा का उद्धार होगा। तभी भारत की एकता अखण्डता स्थिर रह सकेगी।

—आचार्य राजदेव शर्मा,
प्राचार्य, आर्य गुरुकुल ऐरवा कटरा,
इटावा (उ प्र)

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम् ।
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए ।

—महर्षि दयानन्द

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।'

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 6 रविवार, 15 अक्टूबर, 1989
अंक 19 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

आश्विन सु 1 संवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

आचार्य दत्तात्रेय आर्य के बारे मे अमेरिकी अखबार ने लिखा

81 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद भी सक्रिय

—जैक बैली—

अधिकतर लोग सेवा निवृत्त होते के बाद, 65 की आयु प्राप्त करने तक ही वे सब तरफ से अपने आपको थका हारा सा अनुभव करते हैं एव सब कर्मों से विमुख हो जाते हैं लेकिन 81 वष की आयु प्राप्त करने के बाद भी प्रो वाल्ले ने हमारे विश्वविद्यालय के कैम्पस मे अपने उदगार व्यक्त करते हुए कहाकि बिना काय एव परिश्रम किये मनुष्य का जीवन बेकार है जबकि मैं अपने जीवन मे कभी भी बिना सक्रियता के काय किय नहीं रहा हूँ ।

वाल्ले जी राजनीति एव इतिहास शास्त्र के प्रख्यात प्राफसर हैं जो आजकल हमारे विश्वविद्यालय के इतिहास एव राजनीति शास्त्र की कक्षा के छात्रों को आमत्रित विद्वान् प्रवक्ता के रूप मे तत्सबधी विषय पर विशेष व्याख्यान एव विचार व्यक्त कर रहे हैं ।

श्री वाल्ले ने कहा कि उन्होन भारत म ही कई वर्षो तक शिक्षा प्राप्त की है तथा वर्तमान मे अजमेर मे कालेज के प्रधान पद पर कायरत



हैं । साथ ही वे भारत के प्रतिष्ठित पदो पर निर्वाचित हुए है जिसमे नगर परिषद के अध्यक्ष जो कि एक पार्षद के समान पद है । श्री वाल्ले जी की सयुक्त राज्य अमेरिका की यह तृतीय यात्रा है और पिछली दो यात्राओं मे उन्होने भारत के इति- एव धम हिन्दू धम के बारे मे अपने सारगर्भित व्याख्यान दिये हैं । साथ ही उन्होने अपनी इस यात्रा से सम्बधित तीन पुस्तकें लिखी हैं । मैंने जब श्री वाल्ले जी से अमरिका के समाज एव समुदाय के बारे मे पूछा तो उन्होने कहाकि अमेरिका के लोग काफी खुले हुए है और स्वतत्र विचारो के व्यक्ति हैं । यद्यपि वाल्ले जी ने 81 वष की आयु पूरी कर ली है फिर भी वे बहुत सक्रिय जीवन व्यतीत कर रहे हैं । जैसा कि आज भी वे कालज प्रधान पद का कार्य कर रहे हैं तथा विद्यालयो पर भी पूरा नियत्रण है एव सुरक्षात्मक काय करते है ।

य विचार मार्शल विश्वविद्यालय मे 2000 छात्रो के मध्य उन्होने विचार व्यक्त किय । श्री वाल्ले जी के कालेज के प्रधान होने के साथ हिन्दू धर्म के एक प्रमुख नेता हैं । उन्होंने ... यह नही समझते कि हिन्दू भ भी क्रिश्चियन धम की तरह एक अल्प सख्यक समुदाय के लाग हैं । इसका मै हिन्दुओ के समर्थक क रूप म पूरा विरोध करता हूँ ।

उन्होन कहा कि अमेरिका के मार्शल विश्व विद्यालय से आने के बाद वे भ रतीय दूरदर्शन पर प्रसारण का कार्य करगे । तथा अपनी इस पूरी यात्रा स सम्बधित एक पुस्तक और भी लिखग ।

क्षितीश वेदालकार का अभिनन्दन

पीड़ित मानवता को जुबान देना ही पत्रकारिता

अजमेर । विख्यात पत्रकार और स्वतन्त्रता सेनानी क्षितीश वेदालकार का मानना है कि पीड़ित मानवता की जुबान देकर ही पत्रकारिता को सार्थक बनाया जा सकता है ।

आज यहा सूचना केन्द्र मे शहर के प्रमुख अखबार नया युगपुरुष' की ओर से आयोजित अपन अभिनन्दन समारोह मे बोलत हुए श्री वेदालकार न कहा कि पत्रकार की कलम से उसके पाठक का मनोबल बढना चाहिए यही पत्रकार की पूजी हाती है । उन्होने कहा-पत्रकार या साहित्यकार अपनी कृति के जरिए ही अमर बनता है और शब्द को अनन्त बनने की शक्ति कृतिकार मे ही होती है ।



डा.स ओंढाकर क्षितीश वेदालकार का सम्मान करते हुए डॉ शशि । पास ही बैठे है डा उपाध्याय ।

समारोह की अध्यक्षता भारत सरकार क प्रकाशन विभाग के प्रमुख डा श्यामसिंह 'शशि' ने की । उन्होने बदलते परिप्रेक्ष्य मे सार्थक पत्रकारिता की जरूरत प्रतिपादित की ।

हिन्दी हिन्दुस्तान' के वरिष्ठ समाचार सम्पादक विश्वमित्र उपाध्याय ने मौजूदा समय मे पत्रकारो मे समर्पण-भावना की कमी पर क्षोभ जताते हुए कहा कि पत्रकारिता मे आज काफी ऐसा घट रहा है जिस पर शर्म आती है । स्वतत्र हाते हुए पत्रकारिता पर बधन और बेडिया लगती हैं । उन्होने पत्रकारिता को जनता जनार्दन की पत्रकारिता बनाने

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक । दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक । रासासिंह सपादक वीरेन्द्र कुमार आय कार्या 21010

कल्प-पुरुष महर्षि दयानन्द

— डॉ. आनन्द प्रकाश —
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

महर्षि दयानन्द का जीवन इतना महान था कि कोई भी विशेषण उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की महानता को पूरी तरह व्यक्त नही कर सकता। साथ ही, उनके कार्यों की तुलना किसी भी अन्य महापुरुष से करना उचित नही लगता क्योंकि पिछले पाच हजार वर्षों मे अन्य किसी ने भी पूर्ण जीवन दर्शन का सन्देश नही दिया। उन्होंने वेद प्रतिपादित मानव धर्म, मानवतावादी सस्कृति और वैज्ञानिक चिन्तन को सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के नीचे पुन. स्थापित किया। देव दयानन्द की शिक्षाओ एव सर्वहितकारी कार्यों का सूचीबद्ध विवरण बनाकर उनसे लाभ ग्रहण किया जा सकता है, उनकी राजधर्म की परिकल्पनाओ को अगीकार कर समस्त भूमण्डल के राष्ट्र अपना कल्याण कर सकते हैं और उनके सम्बन्ध में उच्च कोटि की पुस्तकें लिखकर इतिहास की धरोहर मे अभिवृद्धि की जा सकती है, परन्तु यह सब मिलकर भी दयानन्द का पूर्ण मूल्याकन करने मे समर्थ नही है। उस महामानव को तो युगपुरुष या कल्प-पुरुष ही कहना होगा जिसने इस युग की समस्त चिन्तन धारा को नई दिशा प्रदान की और कल्प-सृष्टि के सम न वेद ज्ञान की पुन स्थापना की।

वैसे तो महर्षि दयानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व पर सदियो तक यथावत प्रकाश डाला जाता रहेगा, परन्तु उनके सार्वजनीन सन्देश को भूमण्डल मे प्रसारित करने की दृष्टि से 'चक्रवर्ती आर्य साम्राज्य" की कल्पना पर विचार करते रहना आवश्यक है। आर्याभिविनय" मे महर्षि दयानन्द ने स्थान-स्थान पर "आर्यो का समस्त भूमण्डल पर अखण्ड पर सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य" स्थापित होने की कामना की है। इस प्रकार की प्रार्थना मे कोई साम्राज्यवादी विचार निहित नही है अपितु धर्म, नैतिक मूल्यो तथा मानव गरिमा पर आधारित व्यवस्था द्वारा श्रेष्ठ पुरुषो का शासन, पूरे विश्व मे स्थापित हो सके, यह कामना की गयी है। आज के सन्दर्भ मे, विश्व शाति और मानव एकता के लिये इस प्रकार का नैतिक अनुशासन अनिवार्य है और कुछ सीमा तक सयुक्त राष्ट्र सघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मच इसकी पूर्ति कर रहे हैं। महर्षि दयानन्द के कार्यक्रम का लघु भाग भी यदि विश्व मे लागू हो जावे तो मानवता की रक्षा की जा सकती है।

मानवीय गुणो यथा धैर्य, क्षमा, सहनशीलता आदि का धारण, मनसा-वाचा कर्मणा सत्य का व्यवहार, शारीरिक-मानसिक-आत्मिक शक्तियो का विस्तार, ज्ञान की उपासना तथा प्रकाश-मार्ग की रक्षा-धर्म का यही स्वरूप भविष्य का मानव धर्म बनेगा। महर्षि दयानन्द ने मानव मात्र के हित के लिये इसी मानव धर्म की ओर पुन प्रेरित किया है। आइये, महर्षि दयानन्द के निर्वाण पर्व पर, समस्त ससार से अधकार को दूर भगाने का सकल्प दुहरावें तथा आत्म चिन्तन और आत्म निरीक्षण करते हुये, महर्षि दयानन्द के सत्धर्म के प्रचार के लिये दिये गये महान बलिदान का स्मरण करें।

दिव्यतम संस्कृति तुम्हारी

—राधेश्याम आर्य—

बन रहा इतिहास नूतन
सो रहे हैं हम सभी, पर।
सामने है आ खड़ा-
असुर दल मुख खोलकर
घूमते हैं अब चतुर्दिक,
राक्षसी प्रवृति चर।

पख फैलाकर कटुकमय-
मनुजता उपहास का स्वर
दनुजता अब आ रही है।
दिव्यतम सस्कृति तुम्हारी ! लुप्त होती जा रही है।

दम्भ-मिथ्या-द्वेष से हैं-
भूमि मण्डल का पता।
धर्म की महती पराजय-
से मगन है हाफता।
नित्य प्रति झूठी विजय को-
असुर दल है मापता।

मनुजता निजतत्व को-
करके कहीं पर खापता-
आर्त अश्रु बहा रही है।
दिव्यतम सस्कृति तुम्हारी ! लुप्त होती जा रही है।

दयानन्द के वीर सैनिक !
कमर कस रणक्षेत्र आओ !
जागरण का शख वीरो !
आज निर्भय हो बजाओ !
धरणि पर मत-वाद फैला,
तुम इसे बढ कर हटाओ।

पाप की आधी बुझा कर-
वेद का ध्वज लहलहाओ।
कटु चुनौती आ रही है।
दिव्यतम सस्कृति तुम्हारी ! लुप्त होती जा रही है।

अजमेर में भव्य ऋषिमेला

4, 5, व 6 नवम्बर 1989 को प्रतिवर्ष की भाति महर्षि दयानन्द सरस्वती के 106 वें निर्वाण दिवस के अवसर पर अजमेर मे विशाल समारोह का आयोजन किया जा रहा है। इस अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाशजी सरस्वती, महात्मा आर्य भिक्षु जी महाराज ज्वालापुर, दर्शनाचार्य प उदयवीरजी शास्त्री प्रो शेरसिंहजी पूर्व राज्य मन्त्री भारत सरकार एव प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा, डा. भवानीलाल भारतीय चण्डीगढ, श्री सत्यपाल सरल आदि विद्वान, महात्मा, आर्यनेता पधार रहे हैं। डा शिवपूजनसिंह कुशवाहा का अभिनन्दन समारोह भी सम्पन्न होगा।

वेदगोष्ठी—'वेद और कर्म काण्डीय विनियोग' नामक विषय अन्तर्राष्ट्रीय वेदपीठ द्वारा एक वेदगोष्ठी का आयोजन भी ऋषि मेले के अवसर पर होगा।

—मन्त्री

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्ध शताब्दी

शोलापुर मे हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्धशताब्दी समारोह का कार्यक्रम बहुत तेजी चल रहा है। यह शताब्दी समारोह 4 5, 6 नवम्बर 1989 को मनाया जावेगा। इस समारोह के सरक्षक आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एव डी ए वी कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति के प्रधान प्रो वेद व्यास जी होगे और इसकी अध्यक्षता स्वामी सर्वानन्दजी महाराज दयानन्द मठ, दीनानगर, पजाब करेंगे। इस समारोह मे राष्ट्रीय युवा सम्मेलन शिक्षा सम्मेलन, तथा हैदराबाद आर्य सत्याग्रहियो का अभिनन्दन समारोह आदि कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं।

—रामनाथ सहगल

इस समारोह मे आध्रप्रदेश के राज्यपाल श्रीमती कुमुदबेन जोशी, महाराष्ट्र के वित्तमन्त्री श्री सुशील कुमार शिन्दे तथा अन्य सन्यासियो एव विद्वानो को आमत्रित किया गया है।

उत्सव

आर्यसमाज, नागोरी गेट, हिसार का वार्षिक उत्सव 3, 4 व 5 नव को मनाया जावेगा। डा भवानी लाल भारतीय, आचार्य प्रेम भिक्षु, रामनिवास भजनोपदेशक आदि विद्वानों के प्रवचन-भजन होगे। इसी अवसर एक स्मारिका का विमोचन भी होगा।

—मन्त्री

—आर्यसमाज, ब्यावर उत्सव 8, 9, 10, 11 अक्टूबर, 1989 को समारोह पूर्वक सम्पन्न। प युधिष्ठिर मीमासक का इस अवसर पर सम्मान किया गया।

सत्यप्रकाश कुवर
(मन्त्री)

—आर्यसमाज राजगढ (अजमेर) का उत्सव 13, 14, 15 अक्टूबर को मनाया गया। विभिन्न विद्वानो के प्रवचन हुए।

—मन्त्री

एक विचारणीय लेख

आर्यसमाज का ढहता संगठनात्मक ढांचा

—प्रतापसिंह शास्त्री, पत्रकार—

आर्य समाज एक आन्दोलन है, वैदिक सिद्धातो एवं मान्यताओ पर अडिग रहने वाला, ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित दस नियमो को मानने वाला श्रेष्ठ पुरुषो का एक अनुशासित सगठन है। भले पुरुषो की एक पचायत है। वेद के आधार पर चलने चलाने की प्रेरणा देने वाला वेद का प्रचारक 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा लगाने वाला यही एक मात्र सार्वभौम सगठन है जिसका ध्वज भी "ओ३म्" है।

भारत वर्ष के लगभग सभी प्रान्तो मे आर्यसमाज की आर्य प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाए है। भारत वर्ष के कोने-कोने मे शिक्षण संस्थाए, आर्यसमाज मन्दिर, विश्व विद्यालय मेडिकल कालेज, आर्य पब्लिक स्कूल, डी ए वी पब्लिक स्कूल व कालेज तथा गुरुकुलो, कन्या पाठशालाओ आदि संस्थाओ के कारण आर्यसमाज आज एक शक्ति के रूप मे दिखाई देता है। अरबो रुपयो की आर्य समाज की सम्पत्ति है। करोडो रुपयो का आर्यसमाज को उक्त सकेत की गई संस्थाओ का वार्षिक बजट है। लाखो परिवार को आर्यसमाज ने रोजगार दिया है। इस संक्षिप्त परिचय के बाद विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि सगठन को दृष्टि से लगभग सभी प्रान्तो मे सभी जगह आर्यसमाजो मे बडे झगडे है, मतभेद है। इनका एक मात्र कारण है मजबूत सगठन का अभाव। आर्यसमाजो मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा समय-समय पर सशोधित सविधान, नियमावली को लागू न कर पाना भी मतभेदो का एक कारण है। आर्यसमाज का सही निर्माण एक प्रकार से आन्दोलनो से हुआ, वैचारिक क्राति से हुआ। आज आर्यसमाज 20-25 वर्ष से कोई राष्ट्र-व्यापी, प्रान्तीय स्तर का कोई आन्दोलन नही कर सका। वैचारिक क्राति भजनोपदेशक, प्रचारक, व सस्ते या नि शुल्क साहित्य के माध्यम से होती है। आर्यसमाज के पास आज यह माध्यम सशक्त रूप मे नही है। जिला स्तर तक नगरो मे आर्यसमाजें हैं किन्तु गावो मे आर्यसमाज की इकाई न के बराबर हैं। स्थानीय आर्य समाजो की सख्या कम है। इन स्थानीय आर्य समाजो मे सदस्य सख्या भी बहुत कम है कहीं-कही तो आर्यसमाज के सविधान के नियम उपनियमो को लागू ही नही किया जा रहा। कोई पूछने वाला नहीं। एक ही पूजीपति, सेठ, साहूकार, एक ही राजनैतिक नेता निजी स्वार्थ हेतु 15 या 20 रुपये की राशि [illegible] कहकर 100 व्यक्तियो, 50 व्यक्तियो के नाम से भर कर उन नामो का रोजगार कार्यालय की भाति हर वर्ष चुनाव से पूर्व नवीकरण करवा लेते हैं ताकि उनका अपना ही आर्यसमाजो पर कब्जा बरकरार रहे। सगठन कैसे होता है, सगठन कितना आवश्यक है, सगठन क्या है, इस विषय मे मुझे कुछ कहना है? गीता मे एक श्लोक आता है—

अधिष्ठान तथा कर्ता,
करण च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक चेष्टा:
दैव चैवात्र पचमम्॥

अधिष्ठान का अर्थ है हमारा ध्येय। हम क्या सिद्धि चाहते हैं? कर्म सिद्धि के लिए स्वामीजी इन पाँच कारणो को प्रमुख मानते हैं। जो मनुष्य का, सगठन का, कार्य का ध्येय है उसका पहला कारण स्थानीय परिस्थितियाँ ही हैं।

(1) हमारा गन्तव्य क्या है (2) कर्ता अर्थात् कार्यकर्ता (3) पृथक-पृथक प्रकार के साधन (4) नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टा (5) देव या प्रयत्न। अधिष्ठान (कृण्वन्तो विश्वम आर्यम्) हम आर्यों का ध्येय भी है आधार भी है। कार्य मे ओत-प्रोत अधिष्ठान कार्य करन की प्रेरणा देना है। जिन आर्य समाजो मे झगडे हैं उनका अधिष्ठान क्या है वे स्वय सोचे? शायद उनका अधिष्ठान है पद प्राप्ति, नेतागिरी, या आर्यसमाज से निजी स्वार्थ की पूर्ति करना। अधिष्ठान अच्छा चाहिए, कर्ता और उपकरण अच्छे चाहिए। ऐसा श्री कृष्ण जी ने गीता मे कहा है। जो आर्यसमाज का कार्यकर्ता, सदस्य, अपने दोष नही पहचानता वह अच्छा कार्यकर्ता, अच्छा आर्यसमाज सदस्य नही हो सकता। जो दूसरो के ही दोष देखता रहता है वह भी चार लोगो को साथ लेकर नही चल सकता। दूसरो के दोष देखना सरल होता है किन्तु अपने दोषो की ओर देखना कठिन। इसलिए कार्यकर्ता को आत्म चिन्तन करते रहना चाहिए।

इस तरह सगठन का कार्य तभी हो सकता है जब आर्यसमाज के कार्यकर्ता पहले अपने दोष देखने की आदत डालें और दूसरो के दोषो के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाए। जिस कार्यकर्ता से कोई ऊबता नही और जो स्वय दूसरो के साथ काय करने से ऊबता नही, वही पुरुष आदर्श आर्य हो सकता है। ऐसी ही योग्यता आर्यसमाज के कार्यकर्ता मे होनी चाहिए। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अकेले मे रहना अच्छा समझते हैं अगर उनके पास कोई आता है तो समझते हैं कि कोई बला आ गई। ऐसे व्यक्ति आर्यसमाज का सगठन नही कर सकते। सगठन कर्ता तो ऐसा होना चाहिए कि उससे जो भी मिलने आये वह आत्मीयता पूर्ण व्यवहार पाये।

अनुशासन सगठन के लिए आवश्यक है। (यत्न और नियन्त्रण) यह हो सकता है।

भारत देश के अनुशासन का आदर्श है शिष्य की समझदारी का स्तर ऊपर उठाना कि जिससे शिष्य सही मार्ग पर चल सके। लेकिन न आज कोई कृष्ण है न अर्जुन। फिर भी हमे ऋषि दयानन्द के आदेश को गुरु का आदेश समझते हुए और स्वय को ऋषि शिष्य मानते हुए अपना स्तर ऊपर उठाकर आर्यसमाज मे अनुशासन कायम रखना चाहिए। याद रखो ऋषि ने मेरठ से राजस्थान प्रस्थान करने से पूर्व कहा था—"मै सन 1885 नही देख सकूगा क्योकि यह शरीर कार्य करने योग्य नही रहेगा। आर्य बन्धुओ! आज तुम्हारी अवस्था बडी शोचनीय है। तुम छोटी-छोटी बात पर भी मुझ पर निर्भर रहते हो, तुम्हे कोई शास्त्रार्थ के लिए ललकारता है तो तुम मुझे तार पर तार देते हो। तुम मे आपस मे मतभेद होता है तो मुझे आकर तुम्हे समझाना पडता है। प्रिय बन्धुओ! मैं सदा नही रहूँगा, मेरा यह शरीर न जाने कब नष्ट हो जाये अत तुम स्वय स्वाध्याय करके इस योग्य बनो कि अब स्वय शास्त्रार्थ कर सको, स्वय अपनी समस्याओ को सुलझा सको, स्वय आत्मनिर्भर बनकर वेद का प्रचार कर सको, वैदिक मान्यताओ को घर-घर पहुँचा सको।"

अफसोस! आज उस प्यारे ऋषि की आर्यसमाजे सगठन की दृष्टि से गैर आर्य समाजियो के चुगल में फसती जा रही हैं। आर्यसमाजो मे व व्यक्ति बहुमत मे हैं जिन्हे सध्या, आर्यसमाज के 10 नियम और ऋषि की जीवनी भी याद नही। सगठन के निर्माण मे सच्चे आर्यों की दिलचस्पी व सख्या नगण्य होती जा रही है। दिशा निर्देश करने वाला आर्यसमाज कही [illegible] भटक न जाए, यह खतरा बढता जा रहा है।

वैदिक परिवार साधना शिविर पुष्कर

शिविरार्थियो को योग साधना सिखाने के साथ-साथ नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान समाधि विवेक वैराग्य का अभ्यास, जपविधि ईश्वर समर्पण जैसे अनेक सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयो पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायेगा।

शिविर एव गायत्री महायज्ञ की समुचित व्यवस्था प्रबन्ध तथा भोजन व जलपान शुद्धघृत का ही होगा। आवासीय सुव्यवस्था वैदिक सत्सग आश्रम पुष्कर की ओर से होगी। शिविर शुल्क प्रति व्यक्ति 60 रुपया होगा। शिविर मे भाग लेने वाले सज्जनो से विनम्र निवेदन है कि अपनी योग्यता तथा व्यवसाय सहित आवेदन-पत्र प्रबन्धक वैदिक सत्सग आश्रम पुष्कर के पते पर दि 25 अक्टूबर, 89 तक जमा कराना आवश्यक है। —मन्त्री

रजिस्ट्रार महोदय,
गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय हरिद्वार

पत्र और विचार

आगामी चुनाव और आर्यसमाज

— बाबूलाल आर्य —

आपने अपने प्रतिष्ठित पत्र के अंक 18 दिनांक 3१-9-89 के माध्यम से आर्य जनो का ध्यान इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर खींचा है कि आगामी लोक सभा एव विधान सभाओ के निर्वाचनो मे वे किस राजनीतिक दल का समर्थन करें। उत्तर स्पष्ट है। जब से हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है हमारे देशवासियो का चारित्रिक ह्रास दिन प्रतिदिन बड़ी तीव्र गति से होता आया है। यदा-कदा किसी महानुभाव ने इसकी ओर संकेत तो किया है परन्तु एक भी राजनीतिक दल ने इस महारोग को मिटाने अथवा कम करने हेतु प्रयत्न करना तो दूर रहा इसकी हानिकारिता भी अनुभव की हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। राजनीतिक दगलो के अखाड़े बाजों ने वातावरण इतना दूषित बना दिया है कि किसी भी सच्चरित्र देश हितैषी को सासद, विधायक, जनपद अथवा नगर निगम के निर्वाचित सदस्य के रूप मे देश सेवा करना प्राय. असम्भव हो गया है। ऐसी स्थिति में निष्ठावान आर्यजनो का केवल एक ही कर्तव्य है कि वे मतादाताओ एव प्रत्याशियों को उनके कर्तव्य का बोध कराए।

प्रत्येक मतदाता को प्रेरित किया जावे कि वह—

(1) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने हेतु सदैव तत्पर रहेगा।

(2) अपना समस्त कार्य धर्मानुसार अर्थात सत्य पर आधारित ही करेगा।

(3) सब से प्रीति पूर्वक, यथायोग्य और पक्षपात रहित होकर व्यवहार करेगा।

(4) स्वार्थान्ध न होकर इस प्रकार अपना हितसाधन करेगा जिस से अन्य किसी सज्जन का अहित न हो सके।

लोक सभा, विधान सभा, नगर निगम अथवा नगर पालिका समिति आदि की सदस्यता का अभिलाषी जब किसी आर्य समाजी मतदाता से अपने समर्थन हेतु याचना करे तब उससे पूछा जावे कि अभिलषित स्थान हेतु निर्वाचित हो जाने पर क्या वह उक्त सदन की कार्यवाही मे पूर्ण मनोयोग एव नि.स्वार्थ भाव से भाग लेगा ?

(2) सार्वजनिक व्यय पर अभिलषित स्थान पर कार्य सम्पादन हेतु जो साधन एव सुविधाए उसको उपलब्ध होगे उनका उपयोग वह उपर्युक्त कार्य सम्पादन करते समय ही करेगा और ऐसे समस्त उपयोगों का विवरण वह सदैव अपने पास रखेगा ?

(3) अभिलषित सदन के समक्ष जब-जब कोई विशेष महत्व का प्रकरण विचारार्थ अथवा निर्णयार्थ उपस्थित होगा तब-तब वह पूर्व से ही अपने निर्वाचको का स्पष्ट मत जानने का यत्न करेगा और उचित अवसर पर उपर्युक्त मत को असंदिग्ध रूप से प्रकट करेगा ?

(4) उसके निर्वाचको का दो तिहाई भाग जब सार्वजनिक रूप से घोषणा कर देगा कि उसको अभिलषित सदन की सदस्यता त्याग देनी चाहिये तब वह पन्द्रह दिवस के भीतर उपयुक्त सदन की सदस्यता त्याग देगा ?

(5) मतदाता के रूप में जो प्रतिज्ञाए वह पूर्व ही कर चुका है उन का पालन वह अभिलषित सदन का सदस्य रहते हुए असंदिग्ध रूप से करता रहेगा ?

(6) दूध देने वाले तथा कृषि कार्य हेतु उपयोगी पशुओ के सरक्षण एवं सुधार हेतु वह सदैव प्रयत्नशील रहेगा ?

लश्कर, ग्वालियर की प्राचीनतम आर्य समाज लश्कर ने मतदाताओ एवं प्रत्याशियो को प्रेरित करने का अभियान पूर्व से ही आरम्भ कर दिया है। मतदाताओ तथा प्रत्याशियो से इसी आशय के प्रतिज्ञा-पत्र भरवाए जा रहे हैं।

किसी भी प्रत्याशी के प्रतिज्ञाबद्ध न होने की स्थिति मे भी यदि आर्यजन अपने मत का प्रयोग करना ही चाहें तब जो प्रत्याशी उनको (1) सब से कम भ्रष्ट दिखाई दे, (2) सब से अधिक योग्य प्रतीत हो, (3) सासद, विधायक अथवा अभिलषित अन्य सदन की कार्यवाही में भाग लेने हेतु सर्वाधिक समय दे सके उसके पक्ष मे आर्यजन अपने मत का प्रयोग कर सकते हैं। —लश्कर

ग्वालियर

(शेष पृष्ठ 1 का)

पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि मूल्यो के क्षरण के इस युग मे भी कुछ सकल्पित पत्रकार हैं, जो सन्तोष की बात है।

समारोह को आर्गेनाइजर अखबार के पूर्व व्यवस्थापक वीरेन्द्रसिंह पवार, दिल्ली प्रशासन के पूर्व प्रचार निदेशक सुर्याष विद्यालंकार, रासासिंह, श्री धर्मवीर व डा बाबूराम शास्त्री आदि ने भी सम्बोधित किया। "नया युगपुरुष" के प्रकाशक नवीन शर्मा ने श्री वेदालंकार का परिचय दिया।

डॉ शशि ने श्री वेदालंकार को दुशाला ओढ़ाकर, श्री वीरेन्द्र सिंह ने अंगवस्त्र, श्री विद्यालंकार ने श्रीफल और श्री नवीन शर्मा ने प्रतीक चिन्ह भेंटकर उनका अभिनन्दन किया। श्री उपाध्याय ने अभिनन्दन ग्रंथ का विमोचन किया। समारोह-आयोजक वीरेन्द्र आर्य ने अन्त मे सबका आभार दर्शाया।

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1. देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0.50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु. 1 00
3, विद्यार्थियो के लिए आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दु इज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5.आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं-मूल्य—50 रु.
6. आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मूवमेंट (सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—5.00 रु.

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1. दयानन्द कथा संग्रह मूल्य रु —3 00
2 महर्षि दयानन्द पत्रो के दर्पण मे मूल्य रु —50 00

अन्य प्रकाशन

1 धर्म शिक्षा (भाग I से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु. 32 00
2 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओ
3 का परिचय)—मूल्य रु 12 00

आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20.00 रु अजिल्द 16.00

ले. लाला लाजपतराय

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतंत्र ट्रैक्ट)

1-ईश्वर एक नाम अनेक
2-आदर्श माता-पिता
3-शिक्षा और चरित्र निर्माण
4-गृहस्थाश्रम का महत्व
5-सन्यासी कौन और कैसा हो ?
राज्य व्यवस्था
7-ईश्वर और वेद
8-जगत् की उत्पत्ति
9-स्वर्ग और नरक कहां है ?
10-चौके चूल्हे मे धर्म नहीं
11-हिन्दू धर्म की निर्बलता
12-बौद्ध और जैनमत
13-वेद और ईसाई मत
14-इस्लाम और वैदिक धर्म
15-सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित हैं एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

ओ३म्

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 सोमवार, 30 अक्टूबर, 1989
अक 19 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

कार्तिक सु 1 सवत 2046
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

भारतीय राजनीति का घिनौना स्वरूप

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

इधर जब से लोकसभा व पाच विधानसभाओ के चुनावो की घोषणा हुई है तब से ही नेताओ के साथ-साथ पत्रकारो की व्यस्तता भी बढ गई है। दिन-रात भाग-दौड करनी पड रही है। इसी भागदौड के दौरान मुझे भारतीय राजनीति का जो घिनौना रूप देखने को मिला उसके दर्शन आपको भी करा रहा हू।

जयपुर – राजस्थान की राजधानी। प्रदेश भाजपा के सर्वेसर्वा भैरोसिह शेखावत का दरबार। टिकटार्थियो की भीड। एक युवा भाजपाई द्वारा अपनी उम्मीदवारी का दावा प्रस्तुत करने पर श्री शेखावत व्यग्यपूर्वक उनसे उनकी जाति पूछते हैं। (समझदार को इशारा काफी होता है। युवा नेता एक अल्पसख्यक जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं।)

दिल्ली के एक प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक का मुख्यालय। पत्रकारो की चुनावी विचार गोष्ठी। एक वरिष्ठ पत्रकार भैरोसिह शेखावत को जातीय राजनीति के लिए कोस रहे हैं "सभी पूर्व महाराजाओ को उम्मीदवार बना दिया। कई अन्य छुटभय्ये स्वजातीयो को टिकट दे दिए। आखिर क्यो भाजपा का सर्वनाश करने पर तुले हो।"

जनता दल अध्यक्ष विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने समर्थक पत्रकार एव 'चौथी दुनिया' के सम्पादक सतोष भारतीय को उत्तर प्रदेश से लोकसभा का उम्मीदवार बनाया है। 'जब तोप मुकाबिल हो' का नारा लगाने वाले श्री भारतीय को अपनी भक्ति के रूप में यह प्रसाद मिला है। पत्रकारो को अपना पिछलग्गू बनाने की नेहरू से विरासत मे मिली यह परम्परा इदिरा, चरणसिह व राजीव को प्रभावित करती हुई विश्वनाथ प्रतापसिह तक पहुची है।

क्या यह स्वच्छ पत्रकारिता के लिए अशुभ नही है?

हमारे एक परिचित को मिला उनके एक मित्र का पत्र उत्तर प्रदेश के प्रमुख स्थान से विधानसभा का चुनाव लड रहा हूँ। वहा आपकी जाति के काफी लोग हैं। यदि एक सप्ताह के लिए प्रचार के लिए आ सको तो आभारी रहूगा।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य की रासासिह को जिताने की अपील

अजमेर। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के वरिष्ठ उपप्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने अजमेर जिले की समस्त आर्य समाजो से लोकसभा चुनावो मे रासासिह को जिताने की अपील की है।

सोमवार को जारी अपनी प्रेस विज्ञप्ति मे आचार्य जी ने कहा कि रासासिह को हमे पार्टी विशेष के स्तर पर नहीं बल्कि उनके चरित्रवान व्यक्तित्व के कारण समर्थन देना चाहिए। आपने कहा कि यह ठीक ही है कि आर्य समाज कोई राजनैतिक दल नही है इसलिए उसके किसी प्रत्याशी का खडा होने का प्रश्न ही नही उठता। लेकिन विचारधारा की दृष्टि से श्री रासासिह हमारे सबसे निकट हैं। उनकी सोच पूरी तरह राष्ट्रीय है और एक ईमानदार और कर्मठ व्यक्ति हैं। इन्ही गुणो को देखते हुए हम श्री सिंह को विजयी बनाना चाहिए।

आचार्य जी ने आगे कहा कि हमे विभिन्न पार्टियो के घोषणा-पत्र को नही बल्कि उम्मीदवारो के व्यक्तिगत चरित्र को देखना चाहिए और अच्छे शासन के लिए ईमानदार एव सशक्त व्यक्तियो को चुनकर लोकसभा मे भेजना चाहिए।

क्रांति के अग्रदूत महर्षि दयानन्द

कविवर शकर' ने एक स्थान पर क्या ही सुन्दर बात कही है— "आनन्द सुधा सार दया कर पिला गया, भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया।" एक अन्य कवि के शब्दो मे "धन्य है तुझको ए ऋषि तूने हमे जगा दिया सो-सो के लुट रहे थे हम तूने हमे बचा लिया। "अधो को आखे मिल गई, मुर्दों मे जान आ गई--जादू सा क्या चला दिया अमृत--सा क्या पिला दिया।" आशय यही कि महर्षि दयानन्द सरस्वती सर्वतोमुखी समग्र क्राति के अग्रदूत थे। यह उस अकेले साहसी व्यक्ति का ही कमाल था कि जीवन मे अनेको बार विषपान करने, विरोधियो द्वारा कई बार अपमानित करने के प्रयासो के बावजूद सत्य के मार्ग से नही डिगा और बडी से बडी चुनौती का भी हसते-हसते निर्भीकता से मुकाबला किया।

सोये हुए भारतीयो मे स्वाभिमान पैदा करने को आत्म-गौरव की याद दिलाने प्रताडित एव पददलित हिंदुओ मे आत्मविश्वास फूकने, अग्रेजो के विरुद्ध जनजागरण कर स्वतन्त्रताका मत्र फूकने सामाजिक कुरीतियो पाखण्डो, अधविश्वासो तथा बुराईयो पर कठोर प्रहार करने तथा सृजनात्मक जीवन एव समाज का निर्माण करने हेतु मार्ग दर्शन करने का जो कार्य महर्षि दयानन्द ने किया है, वह न भूतो न भविष्यति के आधार पर अब तक कोई व्यक्ति नही कर सका है। उपदेश दे देना, धर्म का प्रचार कर देना तो एक सामान्य बात है परन्तु उन उपदेशो से पूर्व अपना व्यक्तिगत जीवन शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एव आत्मिक दृष्टि से तदनुकूल बनाकर एक आदर्श प्रस्तुत करना धर्म प्रचार की व्यस्तता होते हुए सतत साहित्य साधना करते हुए वेदो का भाष्य करना तथा सत्यार्थ प्रकाश जैसे अमर ग्रथ का निर्माण करना अपने अकाट्य तर्कों एव प्रबल, पाण्डित्य से पौराणिकों को शास्त्रार्थों मे निरुत्तर कर देना, सपूर्ण समाज मे वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर सोचने को विवश कर देना उस महान ऋषि का ही प्रताप था। अपने बाद भी क्राति की सुधा धारा निरन्तर प्रवाहमान करने हेतु आर्य समाज जैसे क्रातिकारी

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक रासासिह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

राम जन्मभूमि और आर्यसमाज

—डा. भवानी लाल भारतीय—

हिन्दू स्वभाव से ही मूर्ति पूजक है और इस्लाम का अर्थ ही है बुत-शिकनी मूर्ति को तोड़ना। पैगम्बर साहब ने काबा के धर्म स्थान पर रखी विभिन्न देवताओं की मूर्तियों को वहां से हटवा दिया। अब वहां केवल संग असवद ही रह गया है, जिसे हज के समय प्रत्येक हाजी मुसलमान चूमता है। हिन्दुओं के मन्दिर निर्माण की कोई सीमा नहीं, गली, गली, चौराहों, रास्तों पेड़ों के नीचे पर्वतों की चोटियों गुफाओं, खेतों और खलिहानों में उसने मन्दिर बनाये और बनाता जा रहा है। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने हनुमान की एक विशाल पवनकाय प्रस्तर मूर्ति बनवाई है और उसके निर्माण पर लाखों रुपये भी खर्च किये हैं। मुसलमान की बुतशिकनी की भी कोई इन्तिहा नहीं उसने हिंदुओं के मठों मन्दिरों, धर्मस्थानों और पूजास्थलों पर स्थापित मूर्तियों को तोड़ा, उनको धराध्वस्थ किया। शायद वह समझता था कि ऐसा करने से ही दुनिया से मूर्ति पूजा हटाई जा सकेगी। किन्तु मूर्ति बनाना इन्सानी फितरत है, उसे तोड़ना मनुष्य की जहालत का सूचक है।

स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का है। न वे मूर्ति-पूजक है और न मूर्तिभंजक।

अवतार के सिद्धांत के पनपने के पश्चात ही राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों के मन्दिर बने। भारत में मूर्तिपूजा का चलन जैनों से आरम्भ हुआ।

मूर्तियों और उनसे सम्बद्ध चमत्कारों का कोई अन्त नहीं है। ये चमत्कार दिन प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं और अच्छे खासे समझदार लोग भी इन पर सहज भाव से विश्वास कर लेते हैं। मथुरा में कृष्ण जन्मस्थान का मोहल्ला कटरा केशवदेव कहलाता है। वहां भी एक विशाल मस्जिद बनाई गई। बिड़ला ने इसके पीछे कृष्ण की जन्मस्थली का पुर्ननिर्माण कराया और उसे एक भव्य स्मारक का रूप दिया।

जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूँ आर्य समाज मूर्तिपूजा का विरोधी है, अतः वह किसी स्थान या जड़वस्तु को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसकी उपासना करने का समर्थन नहीं कर सकता। हिंदू मन्दिरों में प्रचलित जड़ प्रतिमाओं की पूजा अर्चा वैदिक मन्तव्यों के नितान्त विपरीत है।

आज अयोध्या स्थित राम जन्मभूमि का विवाद प्रत्येक भारतवासी को आंदोलित कर रहा है राजनैतिक पार्टियां इसे एक अहम मुद्दा बना रही हैं और जन सामान्य की भावनाओं को भड़का रही है। उधर सरकार ने इस सारे विवाद को न्यायालय के सुपुर्द कर दिया है और बड़ी मासूमियत से कह रही है कि दोनों पक्षों को न्यायालय के फैसले का स्वीकार कर लेना चाहिए। किन्तु क्या स्वयं सरकार ने ही अतीत काल में साम्प्रादायिक मुद्दों से जुड़े संवेदनशील प्रश्नों पर अदातल के फैसलों को सदा स्वीकार किया है। शाहबानो को गुजारा भत्ता देने के मामले में सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को न केवल ठुकराया बल्कि संविधान में ही संशोधन कर तलाकशुदा मुसलमान महिलाओं के भरण पोषण के लिये उत्तरदायी व्यक्ति को तो सर्वदा मुक्त ही कर दिया। एक बात यह भी है कि वृहत् मानव समूहों की भावनाओं से जुड़े प्रश्नों पर अदालती फैसले थोपना कभी कभी हानिकर सिद्ध होता है। अच्छा तो यही रहता है कि आपस की सूझबूझ और सुलह सफाई से ऐसे पेचीदे सवालों का उत्तर खोजा जाय।

यदि अयोध्या के राम जन्मभूमि स्थल को एक ऐतिहासिक स्मारक का रूप दिया जाता है, तब तो आर्य समाज उसका समर्थन करेगा। अन्यथा यदि देश के अन्य लाखों मन्दिरों की भांति उसे भी केवल मूर्तिपूजा का ही अड्डा बनाया जाता है तो कम से कम आर्यसमाज तो इस कार्य को जड़पूजा को बढ़ावा देना ही मानेगा। भारत की कांग्रेसी सरकार सदा से ही अपनी मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति के कारण कुख्यात रही है। उसके नेतागण हिन्दुओं को तो शांति, सौमनस्य, भ्रातृभाव और साम्प्रदायिक सौहार्द्र की सीख देते हैं, किंतु सैयद शहाबुद्दीन और अब्दुल्ला बुखारी जैसे वाचाल फिरकापरस्तों की नाक में नकेल डालने की जुर्रत उनमें नहीं है।

अब राम जन्मभूमि का मसला विश्व हिन्दू परिषद ने अपने हाथ में लिया है। इस संस्था का इरादा विवादस्पद स्थान पर 25 करोड़ की लागत का एक भव्य मन्दिर बनाने का है। इसके शिलान्यास की तिथि निश्चित कर दी गई है।

क्या आर्य समाज भी ऐसे शिलापूजन का समर्थन करेगा, क्या वह भी 25 करोड़ लागत से बनने वाले राम मन्दिर को सैद्धांतिक दृष्टि से ठीक मानता है?

जैसा कि मैं लिख चुका हूं, आर्य समाज के नेताओं से हम कुछ अधिक विवेक तथा तर्क युक्त दृष्टिकोण की उपेक्षा रखते हैं। आर्यसमाज हिन्दुओं के अन्धविश्वासों से भरे विशाल महासागर में डूबने के लिए अस्तित्व में नहीं आया है उसकी अपनी एक परम्परा है, उसका प्रत्येक समस्या पर सूझबूझ से युक्त निजी दृष्टिकोण होता है। वह न तो गता-नुगति को ही अनुसरण करता है और न हिन्दुओं की प्रत्येक मूढ़ धारणा एवं अन्ध आस्था का ही पोषण करता है। राम जन्मभूमि के पुनरुद्धार में उसका सहयोग कैसे रहे यह तो सोचने की बात है, वह तो स्वयं अपने संस्थापक ऋषि दयानन्द के जन्मस्थान का भी उद्धार नहीं कर सका वह स्थान भी एक जैन भाई के कब्जे में है।

हमारे हिन्दू भाइयों की भी एक खूबी है। वे किसी सार्वजनिक प्रश्न पर एकमत होना और उसके लिये संघर्ष करना तो जानते ही नहीं।

जो कुछ भी हो हमें सनातन धर्म सभा या महावीर दल के इस रवैये से कोई आश्चर्य नहीं हुआ। कारण कि सनातनी हिन्दू तो सदा से ही मुहूर्त, ज्योतिष और दिशाशूल का गुलाम बना हुआ है। मन्दिरों की स्थापना की तो बात ही क्या, उसके मान्य फलित ज्योतिष के आचार्यों ने तो जुआ खेलने, चोरी करने वहां तक की वारांगना को कृतार्थ करने तक के मुहूर्त निकाल रखे हैं। फिर भला यदि सनातनी नेताओं ने दक्षिणायन में राम मन्दिर के शिलान्यास पर आपत्ति की हो तो आश्चर्य ही क्या? खैर, यह तो झगड़ा उनके ही घर का है और वे ही इसे सुलझायेंगे। अभी तो इन विश्व हिंदू वादियों के मान्य चारों शंकरा-चार्यों की भी राम जन्मभूमि के बारे में कोई स्पष्ट सम्मति सामने नहीं आई है।

मेरे विचार में आर्य समाज को अपनी एतद् विषयक धारणा निम्न बिन्दुओं के रूप में व्यक्त करनी चाहिए।

(1) राम जन्म स्थान को एक ऐतिहासिक स्मारक के रूप में स्थापित या विकसित किया जावे।

(2) इसके लिये जहां पारस्परिक सुलह सफाई से काम लिया जाये, वहां अनावश्यक तुष्टिकरण को हरगिज सहन न किया जाये।

(3) शिलापूजन तथा इसी प्रकार की अन्य मूर्तिपूजा को प्रोत्साहित करने वाले कार्यक्रमों को निरुत्साहित किया जाये।

(4) मुहूर्त आदि को लेकर बखेड़ा करने वाले पौराणिकों का पूरा पर्दाफाश किया जाये।

पूर्ण नशाबन्दी क्यों ?

—भगवान देव "चैतन्य"—

नशे और पागलपन की स्थिति मनुष्य के लिए लगभग एक जैसी ही होती है। आम तौर पर देखा गया है कि पागलों में मुख्य रूप से यही बात देखने में आती है कि उनकी बुद्धि और विवेक नष्ट हो गये होते हैं। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं रहता है कि उनके लिए क्या करना उचित है और क्या अनुचित। इस बात का का निर्णय बुद्धि और विवेक ही करता है कि मनुष्य के लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं। शराब का नशा भी सीधा प्रहार मनुष्य की बुद्धि और विवेक पर ही करता है। यही कारण है कि शराब के नशे में सभ्य तथा सुशिक्षित मानव भी ऐसे जघन्य और अक्षम्य अपराध कर बैठता है जिन पर सहज ही में विश्वास कर पाना भी कठिन हो जाता है। नशे में मदमस्त होने वाले मनुष्य के हाथों ऐसे कार्य भी होते देखे गए हैं जिन्हें सामान्य स्थिति में कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता। बुद्धि और विवेक को हर लेने वाला नशा मानवता का एक ऐसा शत्रु है, जिससे मनुष्य को अवश्य ही मुक्ति पा लेनी चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अच्छी और बुरी दो प्रकार की भावनाएं होती हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अन्दर की बुरी भावनाओं की निरन्तर अवहेलना करता चला जाए। ज्यों ज्यों मानव बुरी भावनाओं को नजर अन्दाज करता चला जाता है अच्छी भावनाओं का स्वतः ही विकास होता चला जाता है। ज्यों ज्यों बुरी भावनाएं समाप्त होती चली जाती हैं, त्यों त्यों अच्छे विचारों को पनपने का अवसर मिलता चला जाता है। मगर इस प्रकार मनुष्य का अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण तभी हो सकता है जब वह पूर्णरूप से चैतन्यता में हो। नशे में धुत्त मनुष्य अपनी भावनाओं को कदापि दिशा नहीं दे सकता। बल्कि उस स्थिति में तो उसका अपनी भावनाओं पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण भी शिथिल पड़ जाता है, दिशा देने की बात तो दूर रही। यही कारण है कि नशे की स्थिति में मनुष्य अधिक अपराध करता है क्योंकि नशे से उसकी बुरी भावनाओं को बल मिलता है तथा अच्छी भावनाएं धीरे धीरे मृतप्राय ही हो जाती हैं। बुरी भावनाएं फिर इतनी प्रबल हो जाती हैं कि वह नशा करने वाला मनुष्य अपनी साधारण अवस्था में भी उस प्रकार के अमानवीय व्यवहार करता रहता है। यदि मनुष्य स्वयं में मानवीय गुणों का विकास करना चाहता है तो उसे शराब जैसी बुरी वस्तु को अविलम्ब त्याग देना चाहिए।

भ्रष्टाचार एक ऐसा अभिशाप है जो राष्ट्र व समाज की प्रगति पर कुठाराघात करता रहता है। बहुत से राष्ट्र और समाज इसी भ्रष्टाचार के कारण नष्ट होते देखे गए हैं। हम यदि गहराई में दृष्टिपात करें तो भ्रष्टाचार के मूल में भी नशे का ही प्रमुख हाथ है। यह नशा ही है जो निरन्तर भ्रष्टाचार को पालता और पोषता रहता है। जैसा कि पूर्व कहा गया कि बुद्धि और विवेक तथा मनुष्य की मानवीय भावनाएं नशे के कारण समाप्त हो जाती हैं। जहां ये गुण समाप्त हुए वहीं भ्रष्टाचार जन्म लेता है। यह एक ध्रुव सत्य है कि भ्रष्टाचार मानव और किसी देश को पतन के गहरे गर्त में फैंक देता है। भ्रष्टाचार को जड़मूल से उखाड़ फैंकने के लिए नशीली वस्तुओं का बहिष्कार परमावश्यक है। जब तक भ्रष्टाचार समाप्त नहीं होता तब तक राष्ट्र के उज्जवल भविष्य की कामना करना ओस से प्यास बुझाने के समान ही है और यदि यह भ्रष्टाचार समाप्त हो जाए तो राष्ट्र की उन्नति स्वतः ही होगी।

भारतवर्ष के लिए नैतिकता का गुण सदा ही प्रमुख रहा है। इसी गुण के कारण यह राष्ट्र कभी धर्मगुरु के स्थान पर था। यही वह गुण है जिसके कारण हमारी चारों ओर जय-जय कार होती थी। यही एक गुण था जिसके कारण हमारे देश को सोने की चिड़िया तक कहा जाता था। नैतिकता के कारण ही यहां पर दूध की नदियां बहती थीं तथा राम राज्य की स्थापना थी। इस गुण की जड़ों का भारत से हिलना एक अत्यधिक शोचनीय बात है। नैतिकता का मूलाधार धर्म है। वैदिक धर्म जिस सिद्धान्त को मानता है वह केवल इस लोक की ही नहीं बल्कि परलोक की उन्नति का भी आधार है। पांच विकार मुख्य रूप से धर्म के मार्ग के बाधक माने जाते हैं। इसीलिए इनसे बचने का सदा आदेश दिया जाता है। इन्हें त्यागे बिना कोई भी मनुष्य धार्मिक नहीं कहला सकता है। ये विकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। बस धर्म और नैतिकता के यही सबसे प्रबल शत्रु हैं। यही पांच विकार हैं जो मानव को दानव बना देते हैं और इनका सबसे अधिक पालन पोषण करने वाला नशा ही होता है। नशा मनुष्य के भीतर इन पांच विकारों का का विकास करता है। नशे से ये नियन्त्रित होने के स्थान पर फलते और फूलते हैं। यह प्रत्यक्ष देखने की बात है कि नशा करने वाले मनुष्य में इन विकारों की अधिकता होती है। नशे की हालत में व्यक्ति इन विकारों के पूर्णरूप से वशीभूत हो जाता है। इसीलिए नशे की हालत में व्यक्ति अधिक कामी, क्रोधी, लोभी आसक्त तथा अहंकारी हो जाता है। नशे की दशा में किसी भी व्यक्ति का परीक्षण करके इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। इसलिए धर्म और नैतिकता को जीवित रखने के लिए निश्चित रूप से शराब आदि नशों का परित्याग करना चाहिए।

मनुष्य की प्रसन्नता व खुशहाली के लिए उसका स्वस्थ रहना परम आवश्यक है। अस्वस्थ मनुष्य जीवन का आनन्द नहीं ले सकता है। उसके लिए तो जीवन एक अभिशाप बनकर रह जाता है। नशा केवल मानसिक विकृति ही पैदा नहीं करता बल्कि यह तो वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि शराब व्यक्ति के शरीर को अस्वस्थ व विकार ग्रस्त बनाकर खोखला कर देती है। नशे में एक ऐसा जहर होता है जो स्वस्थ शरीर को भी धीरे धीरे बेकार कर देता है। ऐसा शरीर बीमारियों से लड़ने की क्षमता खो बैठता है। विशेष रूप से नशा जिगर को खराब कर देता है। पाचन शक्ति को सुचारु रूप से चलने के योग्य नहीं रहने देता। इसके पीने से फेफड़ों की नाजुक झिल्ली कमजोर होती चली जाती है। शराब एक नहीं बल्कि अनेक रोगों की जड़ है। इसका सेवन करने वालों को ब्लड प्रैशर, हार्टअटैक आदि भयानक बीमारियां लग जाती हैं। बहुत नशा करने वालों को टी बी जैसे रोग भी लग जाते हैं। पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए मनुष्य को नशा पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए। हमारे पूर्वज पूरी स्वस्थ तरह एवं निरोग रहकर सौ वर्ष तक तथा इससे भी लम्बी आयु का जीवन जीते थे जिसका कारण नशों से दूर रहना ही था।

मनुष्य के संस्कार ही उसे देवता या राक्षस बना देते हैं। जैसे हमारे कर्म होंगे वैसे ही ही संस्कार होंगे और वैसा ही हमारा जीवन बनता चला जाएगा। हम यदि बच्चों पर अच्छे संस्कार डालना चाहते हैं तो हमें पहले स्वयं अच्छा बनना पड़ेगा। यदि हम उनसे यह अपेक्षा करते हैं कि वह बड़ा होकर शराब या सिगरेट न पीए तो हमें पहले स्वयं ये दुर्गुण त्यागने होंगे। नशा करने वाले का परिवार कभी भी अच्छे संस्कार प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि वहां पर तो आपसी सहानुभूति, प्यार एवं सद्व्यवहार ही समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत वहां तो अक्सर मारपीट, गाली गलौच और ऐसे ही अन्य अमानवीय कार्य देखने को मिलते हैं। ऐसे वातावरण में बच्चों तथा परिवार के अन्य लोगों पर क्या संस्कार पड़ सकते हैं। संस्कारों का महत्व तो केवल इस लोक के लिए ही नहीं अपितु पुनर्जन्म से भी सम्बन्ध रखता है। जिसके इस जन्म के संस्कार ही अच्छे नहीं उसके अगले जन्म के संस्कार भी पड़ सकते हैं। संस्कार भी कैसे अच्छे बन सकते हैं। नशा करने वालों का यह जन्म तो दुःखों और कष्टों से भरपूर होता ही है, उसका परलोक भी बिगड़ जाता है। वह परिवार के लोगों से कभी भी सहानुभूति, प्यार एवं सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः शराब जैसी बीमारी से अपने आप को एकदम दूर रखने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है।

उपर्युक्त विवेचन से हमारे समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि बुद्धि और विवेक की रक्षा के लिए, मानवीय व्यवहार के लिए, भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए, नैतिकता की रक्षा के लिए, सुसंस्कारों की प्राप्ति के लिए, परलोक को सुधारने के लिए तथा पूर्णस्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए पूर्ण नशाबन्दी परमावश्यक है। तभी मानव का अपना जीवन परिवार का

(शेष पृष्ठ 4 पर)

आज से 114 साल पूर्व
महर्षि दयानन्द ने सबसे पहले

● नमक के कर का विरोध किया था।

● न्यायालयों में प्रार्थना--पत्रों के लिए स्टेम्प-पेपर का विरोध किया था।

● अनिवार्य और नि शुल्क शिक्षा को आवश्यक दर्शाया था।

● आपात स्थिति मे अनिवार्य सैनिक-शिक्षा पर बल दिया था।

● देश की अखडता के लिए हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाने का पक्ष लिया था।

● देश की सभी भाषाओं के लिए नागरी लिपि को अपनाने की प्रेरणा दी थी।

● वेदो का सबसे पहले हिन्दी म भाष्य किया था।

● हिन्दी में सबसे पहले आत्म चरित लिखा था।

● हिन्दी को राज भाषा बनाने के लिए लाखो-हस्ताक्षरो से सरकार क पास मेमोरण्डम भेजने का कार्य प्रारम्भ किया था।

* गोरक्षा का अन्दोलन प्रारम्भ किया था।

* गोरक्षा के लिए सब से पहले 'गोरक्षिणी सभा" स्थापना की थी। और उस का सविधान भी बनाया था।

● देशी वस्त्रो और देश मे बनी वस्तुओ के प्रयोग की प्रेरणा दी थी।

* औद्योगिक उन्नति और अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार की देश वासियो को प्रेरणा दी थी और शिक्षित युवको का औद्योगिक उच्च-शिक्षा के लिए जर्मनी भेजने की व्यवस्था की थी।

● स्वराज्य को ही पूर्णता सुखदायक घोषित किया था।

✱ साम्प्रदायिकता का विरोध किया था।

✱ जन्म के आधार पर बनी जातियो का विरोध किया था।

✱ किसी भी धर्मावलम्बी को वैदिक धम मे सम्मिलित करने का अर्थात् शुद्धि का मार्ग प्रशस्त किया था।

✱ समाज के सभी स्त्री-पुरुषो को वेदो के पढने-पढाने और सुनने-सुनाने का अधिकार दर्शाया था।

—कृष्ण दत्त, हैदराबाद

आचार्य दत्तात्रेय आर्य की विदेश प्रवास संबंधी भाषणमाला

आर्य समाज, अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य अपने तीन माह के विदेश प्रवास से सकुशल वापिस आ गये हैं। उल्लेखनीय है कि श्री आर्य अमेरिका के मार्शल विश्वविद्यालय से प्राप्त निमत्रण पर एक आमन्त्रित भारतीय विद्वान के रूप मे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो के समक्ष भारतीय सस्कृति एव सभ्यता पर भाषणमाला प्रस्तुत करने के लिए गये थे।

श्री आचार्य जी, अनेक सज्जनो के अनुरोध पर रविवार दिनाक 12 नवम्बर 89 ई से आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सग के समय अपने विदेश प्रवास के सस्मरण धारावाहिक रूप से सुनना प्रारम्भ करेंगे।

12 नवम्बर, 89 ई से शीत कालीन साप्ताहिक सत्सग का समय प्रात 9 बजे से 11 बजे तक रहेगा।

—मन्त्री

ऐसे भी आर्यसमाजी हैं!

दैनिक ट्रिब्यून मे यह समाचार पढकर बडी हैरानी और दुख हुआ कि सोनीपत की एक आर्यसमाज मे एक आर्यसमाजी विद्वान ने रामशिलाओं को वेद मन्त्रो के पाठ और यज्ञ से पवित्र किया और विश्व हिंदू परिषद के कार्यकर्त्ताओ को सौंपा। क्या आर्यसमाज की यही मर्यादा और सैद्धांतिक निष्ठा है कि वह मूर्तिपूजा से भी निकृष्ट पत्थर पूजा को प्रोत्साहित करती है। वेदमन्त्रो और यज्ञ से पत्थर की शिलाओ को पूजना और पवित्र करना क्या आर्य समाज को शोभा देता है? क्या यह ऋषि दयानन्द की शिक्षाओ का खुला उपहास नही है। ऐसा लगता है कि इस नये उभरे हिन्दुवाद मे आर्यसमाज भी पूर्णतया विलुप्त हो जायेगा। और उसका क्रांतिकारी चरित्र, अन्धविश्वासो तथा रूढिवाद पर प्रहार करने वाली छवि भी नष्ट हो जायेगी। क्या प्रबुद्ध आर्यसमाजी अब भी नही चेतेंगे?

—भवानीलाल भारतीय

क्रान्ति के अग्रदूत

(शेष पृष्ठ 1 का)

सगठन का निर्माण किया। अनेक महापुरुषो ने ऋषि के इस क्रांतिकारी स्वरूप को मुक्त कठ से सराहा है।

महर्षि दयानन्द के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और कृतित्व ने तो हमे स्वामी श्रद्धानन्द पडित लेखराम शहीदे आजम भगतसिंह, शेरे पजाब लाला लाजपतराय महात्मा हसराज, क्राति शिरोमणि श्री प रामप्रसाद बिस्मिल, स्वामी दर्शनानद, स्वामी सत्यानन्द, गुरुदत्त, महात्मा नारायण स्वामी जैसे अनेक तप: पूत, त्यागी तपस्वी कर्मठ नेता और क्रांतिकारी दिये परन्तु आज उसी ऋषि दयानन्द और उसके आर्य समाज की चमकती हुई शान क्यो धूमधुमिल हो गई है। यह हम सब के लिये विचारणीय है। आज आर्यसमाज मे भी असली सिक्कों के स्थान पर "नकली सिक्कों" का प्रचलन हो रहा है। फलस्वरूप हमारी प्रतिष्ठा कम हो रही है। नकली सिक्को के प्रचलन को बद करना होगा। कागजी शेरो से सावधान रहना होगा।

अत ऋषि निर्वाण दिवस मनाते वक्त हमे अपने स्वय के तथा आर्य समाज के उस क्रांतिकारी स्वरूप को उजागर करने का सकल्प लेना होगा। हमे पहले सच्चा, तेजस्वी आर्य बनना होगा। हमे दरबारी और "सरकारी" तथा पदलोलुपी के स्थान पर क्रांतिकारी वीर दयानन्दी और निर्भीक आर्य बनना होगा।

—रामसिंह

आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन

महात्मा हसराज कालेज दिल्ली के सभागार मे आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक क्रान्ति के लिए सकल्प लेकर समाप्त हुआ। यह सम्मेलन 30 सितम्बर स 2 अक्टूबर तक चला जिसमे अनेक विषयो पर सम्मेलन आयोजित किये गये। इस सम्मेलन का आयोजन डा प्रशान्त वेदालकार ने किया।

इस अवसर पर डा प्रशान्त वेदालकार, प क्षितीश वेदालकार द्वारा सम्मेलनों के निर्णयो को सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी के सामने रखने का निर्णय लिया गया। एक समिति का भी गठन किया गया जो उन निर्णयो को क्रियान्वित कराने मे सक्रिय भूमिका का निर्वाह करेगी।

इस सम्मेलन मे देश के प्राय प्रत्येक प्रदेश से लगभग 500 प्रतिनिधि आये थे। इस सम्मेलन की विशेषता यह रही कि इसमे विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, पत्रकार तथा लेखक आदि बडी मात्रा मे थे।

—डा प्रशान्त वेदालकार
सयोजक

पूर्ण नशाबन्दी...

(शेष पृष्ठ 3 का)

जीवन, सुखमय हो सकता है। सामाजिक सुव्यवस्था और राष्ट्र की समुचित उन्नति के लिए नशाबन्दी एक प्रशसनीय और अनिवार्य कार्य है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा है-'जो राष्ट्र शराब की आदत का शिकार है, कहना चाहिए कि उसके सामने विनाश मुह बाए खड़ा है, इतिहास मे इस बात के कितने ही प्रमाण हैं कि शराब के कारण कई साम्राज्य मिट्टी मे मिल गए। प्राचीन भारतीय इतिहास से हम जानते हैं कि वह पराक्रमी जाति जिसमे श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था इसी बुराई के कारण नष्ट हो गई थी। रोमन साम्राज्य के पतन का एक सहायक कारण निस्सदेह यही बुराई थी।' गांधी जी शराब को सब बुराईयों की जड मानते थे। इसीलिए उन्होंने यह भी घोषणा की थी- "यदि मुझे एक घण्टे के लिए भारत का डिक्टेटर बना दिया जाय तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराब की दुकानों को बिना मुआवजा दिये बन्द करा दिया जाए।"

आवश्यक सूचना

पाठकों से निवेदन है कि जिन सदस्यों ने वार्षिक शुल्क अभी तक कार्यालय में नहीं भिजवाया है, वह कृपया शीघ्र वार्षिक शुल्क भेजकर सहयोग प्रदान करें। मनीआर्डर भेजते समय अपना पूरा पता लिखने का कष्ट करें। वार्षिक शुल्क 15) रुपये हैं।

बार बार वार्षिक शुल्क भेजने की परेशानी से बचने का सरल उपाय एक बार-150) रुपए भेजकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।
-महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म।
ओ३म हमारा देव है सत्य हमारा कर्म।

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य. समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 6 संयुक्तांक [illegible] 1989 अभयं मित्रादभयम् अमित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। संवत 2046
अंक 20-21 प स -4338/84 अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। वार्षिक मू 15/ एक प्रति 60

रासासिंह एक लाख मतों से जीते

अजमेर नवम्बर। आर्यसमाज अजमेर के मन्त्री और इसी समाज द्वारा सचालित डी ए वी सी उच्च माध्यमिक विद्यालय अजमेर के प्रधानाचार्य रासासिंह ने अजमेर लोक सभा सीट जीत ली है। वे भाजपा उम्मीदवार थे। उन्होंने अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी काग्रेस (आई) के वन मंत्री गोविन्द सिंह गुर्जर को एक लाख आठ हजार 39 मतो से हराया। श्री सिंह को कुल तीन लाख आठ हजार 254 व श्री गुर्जर को दो लाख 215 मत मिले।

श्री रासासिंह को सर्वाधिक बढत ब्यावर विधानसभा क्षेत्र से 21 हजार 659 मतो का और सबसे कम बढत नसीराबाद क्षेत्र से पाच हजार 438 मतो की मिली। श्री रासासिंह मत गणना के सभी चौदह दौर मे अपने प्रतिद्वन्द्वी से आगे रहे। उनकी बढत मतगणना के हर दौर के साथ बढती रही।

पहले दौर मे श्री रासासिंह को 8 हजार 894 मतो की बढत मिली। इस दौर मे भाजपा को 25 हजार 137 व काग्रेस को 16 हजार 243 मत मिले। दूसरे दौर मे भाजपा को 24 हजार 440 व काग्रेस को 13 हजार 423 मत तथा बढत 19 हजार 910 रही। तीसरे दौर मे रासासिंह को 25 हजार 265 चौथे मे 36 हजार 534 पाचवे मे 45 हजार 762 छठे मे 54 हजार 537 सातवे मे 58 हजार 426 आठवे मे 64 हजार 242 नवे मे 70 हजार 833 दसवे मे 78 हजार 992 ग्यारहवे मे 86 हजार 97 बारहवे मे 97 हजार 47 तेरहवे मे एक लाख 3 हजार 370 व अन्तिम विजयी बढत एक लाख 8 हजार 38 मतो की रही।



श्री रासासिंह को अजमेर पूर्व विधानसभा क्षेत्र से 16 हजार 625 अजमेर पश्चिम से 11 हजार एक किशनगढ से 11 हजार 314 नसीराबाद मे 5 हजार 438 मसूदा मे 16 हजार 82 पुष्कर मे 10 हजार 922 ब्यावर मे 21 हजार 659 तथा भिनाय मे 14 हजार 911 मतो की बढत मिली थी।

अजमेर पूर्व मे श्री रासासिंह को 45 हजार 959 व गुर्जर को 29 हजार 344 पश्चिम मे 33 हजार 115 व 22 हजार 114 किशनगढ मे 39 हजार 345 व 28 हजार 30 नसीराबाद मे 33 हजार 540 व 28 हजार 102 मसूदा मे 37 हजार 609 व 21 हजार 527 पुष्कर मे 40 हजार 897 व 29 हजार 963 ब्यावर मे 42 हजार 650 व 20 हजार 991 तथा भिनाय मे श्री सिंह को 34 हजार 811 तथा श्री गुर्जर को 19 हजार 900 मत मिले।

विधानसभा क्षेत्रो के अनुसार हुई मतगणना के दौरा मे पाच छः बार छोडकर कभी भी काग्रेस को कही से बढत नही मिल पाई।

यह मेरे तमाम साथियों की जीत है—रासासिंह

अजमेर संसदीय क्षेत्र से नव निर्वाचित सासद भाजपा के रासासिंह अपनी जीत के प्रति आश्वस्त तो थे किन्तु इतने भारी मतो से विजयी होने की उन्हे उम्मीद नही थी।

आचार्य दत्तात्रेय से आशीर्वाद प्राप्त किया

अजमेर संसदीय क्षेत्र के नए सासद रासासिंह ने अपनी जीत के उपलक्ष्य मे 27 नवम्बर की प्रातः निकाले जा रहे विजयी जुलूस के दौरान आर्य समाज भवन के सामने रुक कर आर्यसमाज के प्रधान और अपने संरक्षक आचार्य दत्तात्रेय आर्य के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद प्राप्त किया।

सासद चुने जाने के पश्चात एक मुलाकात मे श्री रासासिंह ने कहा कि सही मायने मे यह जीत उनकी उनके तमाम साथी-सहयोगियो की है जिन्होने चुनाव के दौरान दिन रात एक कर दिया। श्री रासासिंह ने जिले के नागरिको का हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए कहा कि जिस उम्मीद से नागरिको ने उन्हे विजयी बनाया है। वह उनकी उम्मीदो को गत सासदो की तरह निराशा मे नही बदलने देगे। एक प्रश्न के जवाब मे नए सासद ने कहा कि केवल संसदीय सत्र को छोडकर बाकी सभी दिन वे अजमेर मे निवास करना पसंद करेगे।

श्री रासासिंह ने अपने चुनावी वादो को दोहराते हुए कहा कि वे सब
(शेष पृष्ठ 3 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सम्पादक रासासिंह   सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या 21010

एक आर्य पत्र का सम्पादकीय

यह उर्दू का समर्थन है या विरोध?

—डा भवानीलाल भारतीय

उत्तर प्रदेश मे उर्दू को द्वितीय राजभाषा के स्वीकार करने का सर्वत्र विरोध हुआ है। संविधान के अनुसार जिस राज्य मे किसी भाषा के बोलने वाले 30 प्रतिशत या अधिक हो वहीं पर उस भाषा को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिया जा सकता है। उत्तर प्रदेश मे उर्दू भाषियो का संख्या दस ग्यारह प्रतिशत से अधिक नही है। विभिन्न पत्रो ने अपने सम्पादकीय लेखो मे उर्दू को इस प्रकार देश के एक सबसे बड़े प्रान्त का द्वितीय राजभाषा बनाने का विरोध किया और इसे एक चनावी स्टण्ट बताया। अल्पसंख्यको के मत प्राप्त करने की यह एक विनाशकारी प्रवृत्ति है जो आगे चल कर देश के विखण्डन की प्रक्रिया को जन्म दे सकता है।

किन्तु हमे आश्चर्य तो तब हुआ जब हमने देखा कि आर्यसमाज की एक शिरोमणि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र ने उर्दू को लेकर कुछ ऐसी बातें लिखी जो उत्तर प्रदेश की सरकार के इस कार्य के समर्थन में लिखा गई प्रतीत होनी हैं। इस सम्पादकीय की कतिपय असंगत बातो का नमूना देखे। क्या यह आर्यसमाज की पत्रकारिता के गौरव को बढ़ाती है?

1. नारायणदत्त तिवारी ने उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा देकर कांग्रेस द्वारा किये गये वादे को पूरा किया है।
2. उर्दू लिपि अरबी लिपि का सरल रूप है। सचाई यह है कि उर्दू को फारसी लिपि मे लिखा जाता है न कि अरबी लिपि मे।
3. आम हिंदुस्तानी संस्कृत का कोई श्लोक नहीं समझ सकता।
4. उर्दू में लिखा वह (भारतवासी) समझ सकता है।
5. उर्दू लिपि का विरोध सिर्फ उसमें अरब वर्णमाला के अक्षर होने के कारण किया जाता है।
6. उर्दू विरोध की आड मे वास्तव मे मुस्लिम विरोध है। क्या उर्दू का विरोध करने वाले सचमुच मुसलमानो के विरोधी है?
7. कुछ ऐसे कट्टर पंथी अभी भी है जिन्हे मुसलमान इस देश में फूटी आँख भी नही सुहाते।
   इस कथन से तो सभी उर्दू विरोधी कट्टर पंथियों की श्रेणी मे आ जायेंगे। जब कि उर्दू भाषा का विरोध न होकर उर्दू को अनावश्यक राजनैतिक प्रश्रय देने का विरोध सभी विचारवान व्यक्तियो द्वारा किया जा रहा है।
8. 'उर्दू सिर्फ मुसलमानो की बपौती नही है। बात तो यह ठीक है किन्तु सवाल यह है कि फिर उर्दू के प्रश्न पर मुसलमानो को ही परेशानी क्यो होती है? क्या उन्होने अपने धर्म के साथ उर्दू को जोड़ नहीं लिया है?
9. भारत मे उर्दू लोक भाषा बनती गई। यह लिख कर तो सम्पादक ने हिन्दी के लोकभाषा होने के अधिकार को ही चुनौती दे दी।
10. उर्दू पढ़ने पर लोग राष्ट्रीय धारा से कैसे कट जायेंगे इसका उत्तर सीधा सा है। पाकिस्तान बनाने का आन्दोलन उत्तर भारत के उर्दू भाषी मुसलमानो ने ही आरम्भ किया था जब कि अन्य भारतीय भाषाओं को बोलने वाले मुसलमानो ने पाकिस्तान की योजना का कभी समर्थन नही किया। यह कौन भूल सकता है कि विभाजन के पहले उर्दू भाषा का गढ़ अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय पाकिस्तान के समर्थकों का अड्डा था जहां के छात्रो ने मौलाना आजाद जैसे राष्ट्रीय नेताओं का सदा अपमान किया।
11. अगर उर्दू भाषा उर्दू लिपि में लिखी जाये तो इसमें हर्ज क्या है? यह पंक्ति लिखने वाला नागरी लिपि की वैज्ञानिकता को ना नजर अंदाज कर ही रहा वह उन सभी भाषा शास्त्रियो लिपि विशेषज्ञों तथा राष्ट्रभक्त नेताओ के उस सम्मति की भी अवहेलना कर रहा है जिन्होने समस्त भारतीय भाषाओं को नागरी लिपि में लिखने का समर्थन किया था।
12. — सम्पादक भाषा नहीं है यह वाक्य लिखने वाला यह भूल गया कि उर्दू के लेखक और कवि अरबी फारसी मे व्यक्त जन जीवन और संस्कृति से प्रेरणा लेते है। वे अर्जुन और भीम के साथ पर सोहराब और रुस्तम को याद करते हैं। कमल और भ्रमर के स्थान पर वे गुलोबुलबुल को तरजीह देते है।

'हम वोट किसको दें?

—क्षितीश वेदालंकार

यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—

जो बुद्धिमान लोग शासन चलाने मे स्वयं भाग लेने से इन्कार कर देते हैं उन्हें दुष्ट मनुष्यों द्वारा शासित होने का दण्ड भोगना पड़ता है। इसलिए राजनीति को कीचड़ दलदल छल कपट गुण्डागिरी या निहित स्वार्थों का जमघट आदि कुछ भी कहकर कितनी ही गाली क्यो न दे लो परन्तु न तो उससे बचने का कोई रास्ता है और न ही उसका फल भोगने से बचने का। भले ही आप राजनीति से कितनी ही नफरत क्यो न करें और यह भी भले ही कहते रहें प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम—कीचड़ को धोने से बेहतर है कि पहले ही उसके स्पर्श से बचे रहें पर कीचड़ आपको बिना स्पर्श किए नहीं छोड़ना चाहे कितने ही बच बच कर चलते रहें।

पिछले दिनों कुछ पर्यावरण विशेषज्ञों ने कहा कि भारत की राजधानी दिल्ली अन्य महानगरो की अपेक्षा पर्याप्त कम प्रदूषण वाली है फिर भी जिस तेजी से प्रदूषण बढ़ता जा रहा है उसका परिणाम यह है कि इस समय हर दिल्ली वासी को कम से कम तीन सिगरेट जितना धुआं रोज पीना पड़ता है। अब आप भले ही सिगरेट से कितना ही परहेज करें पर यदि दिल्ली मे रहते हैं और वहां की हवा में सांस लेते हैं तो बिना चाहे भी तीन सिगरेट रोज पीनी ही पड़ जाती हैं अर्थात उतना प्रदूषण तो झेलना ही पड़ता है। यह बात राजनीति की भी है। आप कितना ही उससे अछूत समझते रहें पर उसकी छूत तो छूत के रोग की तरह आपको कभी अछूता नहीं छोड़ेगा।

फिर जब से राष्ट्रों ने राज्यों का रूप लिया है और वे राज्य सत्ता के इस कदर केन्द्र बन गए हैं कि ग्रामो और कस्बो की स्वायत्तता की बात तो जाने दीजिए व्यक्ति भी स्वायत्त नहीं रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राज्य की यह अधिनायकता जनता की सरकारापेक्षी वृत्ति के कारण और चरम पर पहुंच गई है यह ठीक है कि लोकतन्त्र में अधिनायकवाद की अपेक्षा व्यक्ति की गरिमा कहीं अधिक सुरक्षित रहती है इसीलिए अधिनायकवादी देश लोकतन्त्र के लिए तरसते हैं पर जब लोकतन्त्र पर माफिया हावी हो जाए तो?

तभी प्लेटो के उक्त कथन की सार्थकता अनुभव होती है यदि किसी परिस्थिति विशेष को आप पसन्द नहीं करते तो आपको यह भी सोचना होगा कि उस परिस्थिति को पैदा करने में आपका कितना हाथ है आप कह सकते है कि हम तो मुंडेर पर खड़े तमाशा देखते रहे और हमारे सामने से कारवां गुजरता रहा। हां आपका यह तटस्थ होकर तमाशा देखते रहना भी उस परिस्थिति को पैदा करने में बहुत बड़ा सहायक है उसके लिए आप भी उतने ही जिम्मेदार हैं जितने कारवां मे शामिल होकर नारे लगाने वाले।

इसीलिए कहा जाता है कि लोकतन्त्र में हम वैसे ही सरकार मिलती है जैसी सरकार के हम पात्र होते है। क्योंकि वोट के रूप में हमे ऐसा ब्रह्मास्त्र प्राप्त है। जिसके द्वारा हम स्वयं हमारे भाग्य का निर्णय करने वाला का चुनाव कर सकते हैं। हमारा वोट कितना शक्तिशाली है जरा इसकी कल्पना तो करिए। पर यदि आप इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग नहीं करते सही समय और सही स्थान पर प्रयोग नहीं करते तो आपके पास उस अभागे व्यक्ति की तरह पश्चात्ताप करने सिवा पीछे क्या बचेगा जिसे कहते हैं पारस मणि प्राप्त हुई थी पर उसने उसे मामूली पत्थर समझकर तालाब में फेंक दिया था। आपको वोट जहां आपका ब्रह्मास्त्र है वहां आपकी पारसमणि भी है कभी उसको मामूली और व्यर्थ की वस्तु मत समझिए।

जब हम आपके वोट को ब्रह्मास्त्र और पारसमणि कह रहे हैं तब यह भी आपको समझना होगा कि यह अहस्तान्तरणीय है केवल आपके लिए है। कहीं किसी भय या प्रलोभन से या किसी के बहकाने से किसी ऐरे गैरे की माला मे मत डाल देना—उसी जौहरी की झोली में डालना जो उसका सही मूल्य पहचानता हो और ईमानदारी से उसका मूल्य चुकाने को तैयार हो।

शायद आप कहें कि क्यों फिराकर इधर उधर की बातें करने से क्या फायदा? सीधी बात क्यों नहीं कहते। आखिर आप कहना क्या चाहते हैं। लीजिए सीधी बात है कहते है।

चुनावो का घमासान प्रारम्भ हो गया है। इतना बड़ा लोकतन्त्रीय

(शेष पृष्ठ 3 पर)

हम ...

(शेष पृष्ठ 2 का)

चुनाव संसार मे और कही नही होता। विभिन्न राजनीतिक दलो के उम्मीदवारो के अलावा निर्दलीय उम्मीदवारो की संख्या भी कम नही है। अंधाधुंध पैसा बहाया जा रहा है। लगता है लोकतन्त्र के बजाय पूंजीतन्त्र का महारास हो रहा है। थैलीशाहो की थैलिया खुली हुई हैं। और विदेशो से भी निहित स्वार्थों के लोग पैसा भेजने मे और यहां के लोग उसे प्राप्त करने मे पीछे नही है। सरकार का कहना है कि चुनाव पर लगभग 130 करोड रुपये खर्च होगा। पर जानकर इस खर्च का अंदाज 3000 करोड अर्थात तीस अरब रुपये लगाते हैं। फिर जवाहर रोजगार योजना और पंचायती राज के नाम से जो रेवडिया बांट रही हैं वे भी कहीं आसमान से थोडी टपकेंगी ? करोडो रुपये की दलाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियो का विनियोग और नित्य बढती महगाई से होने वाली कमाई भी और कब काम आएगी।

पर प्रश्न फिर वही का वही है। किस पार्टी को वोट दे कोई पार्टी हमारी कसौटी पर खरी नही उतरती। इसलिए किसी पार्टी को वोट देने की बात हमारी समझ मे नही आती। हरेक पार्टी मे भले बुरे दोनो तरह के लोग है। हमारी दृष्टि मे पार्टी के बजाय आप व्यक्तियो पर ध्यान दीजिए। यह मत सोचिए कि अमुक व्यक्ति के जीतने की उम्मीद है इसलिए इसी को वोट देना चाहिए। जीतने की उम्मीद के पीछे अपने सिद्धान्तो और मान्यताओ की अवहेलना मत कीजिए। जय और पराजय गौण बात है। मुख्य बात है—देश का सुशासन ऐसे व्यक्तियो के हाथो मे आना चाहिए जो अल्पसंख्यको का बहुसंख्यको के हितो को हानि पहुचा कर भी तुष्टि न करे जो स्वयं भ्रष्टाचार से मुक्त हो और शासनतन्त्र को भ्रष्टाचार से मुक्त करे जो साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन न दे और न साम्प्रदायिक दलो से समझौता करे जो देश के सब नागरिको के लिए समान आचार संहिता के पक्षपाती हो जो न दलाली खाए न खाने दे जो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वो की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जो देश की एकता और रक्षा के लिए सदा सजग हो जो अपने व्यवहार से जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध हो और अनुचित आरक्षण को प्रश्रय न दे जो संख्या के बजाय व्यक्तिगत गुणो का और योग्यता को महत्व दे जो दलीय स्वार्थों के स्थान पर निस्वार्थ भाव से राष्ट्र के प्रति समर्पित हो जो देश को पश्चिम का नकलची बनाने के बजाय भारतीय अस्मिता का संचालक बना सके जो विलासिता और नाना व्यसनो मे लिप्त होने के बजाय सादगी के जीवन जीने के अभ्यासी हो—आदि आदि।

इस प्रकार यह सूची और काफी लम्बी हो सकती है। सूची को और लम्बा करने की आवश्यकता नही है। मुद्दे की कुछ बात हमने गिना दी हैं आर्यसमाज शुरू से ही मानवीय श्रेष्ठता का अर्थात आर्यत्व का उपासक रहा है। इसलिए अब भी उसे पार्टी के बजाय श्रेष्ठ और सदाचरण वाले व्यक्ति को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। सार्वदेशिक सभा ने देश के सामने त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया है—गोहत्याबंदी शराबबंदी और अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का समर्थन। इन सूत्रो मे आप कुछ मात्र और जोड सकते है। जैसे वर्तमान सरकार ने संस्कृत को शिक्षा क्रम से निष्कासित करने का कुत्सित षड्यन्त्र किया है। अल्पसंख्यको को आरक्षण के नाम पर नया वर्गभेद पैदा किया है। अल्पसंख्यक आयोग बनाकर समान मानवाधिकार के सिद्धांत का उल्लंघन किया है। साम्प्रदायिकता को भडका कर स्थान स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे करवाए। भ्रष्टाचार और महंगाई बढाई है काले धन को प्रश्रय दिया है। नैतिक मूल्यो का अवमूल्यन किया है यह सूची भी कही और लम्बी न हो जाए इसलिए हमारा कहना यही है कि ये कुछ कसौटियो की बात हम कह रहे हैं उन पर हां की मुहर भी लगाएगे। पर ऐसा तो अभी तक हरेक चुनाव मे होता आया है आप उम्मीदवार के वायदो पर मत जाइए। अपनी कसौटी पर कस कर देखिए हो सकता है कि सभी कसौटियो पर कोई भी उम्मीदवार खरा न उतरे। अब आपको ऐसे व्यक्ति को वोट देना चाहिए जो आपके सिद्धान्तो के अधिक से अधिक अनुकूल हो और जिसके व्यक्तित्व पर आपको सचमुच सत्य और दृढता की छाप दिखाई दे वही व्यक्ति आपके वोट का हकदार है। अन्य नही।

आर्यसमाज द्वारा रासासिंह को 51 हजार रुपये की थैली भेंट

गजानन्द आर्य द्वारा पांच हजार रुपये का सहयोग

अजमेर संसदीय क्षेत्र के विजयी प्रत्याशी व आर्यसमाज अजमेर के मन्त्री श्री रासासिंह को अजमेर आर्यसमाज के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य द्वारा चुनाव प्रचार के समय मतदान से पूर्व 51 हजार रुपये राशि भेंट की गई। यह राशि आर्यसमाज के कार्यकर्ताओ द्वारा एकत्र की गई थी। इस राशि मे परोपकारिणी सभा के मन्त्री श्री गजानन्द आर्य की पांच हजार रुपये व आचार्य दत्तात्रेय आर्य की एक हजार रुपये की राशि भी सम्मिलित है।

इस धन संग्रह मे श्री शिवचन्द व श्री किशनलाल शर्मा ने विशेष सहयोग दिया।

आर्य समाज का विरोध क्यो करें ?

मुझे अनेक पत्रो मे यह पढ कर बडा आश्चर्य और दुःख हुआ कि दिल्ली मे आयोजित एक गोष्ठी मे स्वामी अग्निवेश ने मनु और उनकी स्मृति का घोर विरोध किया मेरी सम्मति मे मनु का विरोध स्वामी दयानन्द का विरोध करना है क्योंकि स्वामी जी ने मनु को धर्म निर्णय मे प्रमाण माना है। अन्य शास्त्र भी एक स्वर से कहते हैं— यत किंचित मनुरवदत्तद भेषजं अर्थात जो कुछ मनु ने कहा है वह तो औषधि के तुल्य गुणकारी है।

—भवानीलाल भारतीय चण्डीगढ

ईसाईयो का परावर्तन

पं० कृष्ण कान्त आर्य प्रचारक आर्य राष्ट्र शुद्धि समिति रोहतक के प्रयत्नो से 15 वर्ष पूर्व प्रलोभन मे फंसाकर दो चूडा परिवार के आठ सदस्यो को पुनः वैदिक धर्म मे दीक्षित करके इन्हें उनके पूर्व नाम प्रदान किये। आर्य समाज गांधी नगर रोहतक मे सम्पन्न इस कार्य की सर्वत्र सराहना की गई।

—मन्त्री

ज्वालापुर मे नेत्र चिकित्सा शिविर

श्री आसानन्द भजनीक एवं श्री भगवन्त राय मलिक के प्रयास एवं महाशय धर्मपाल के सौजन्य से दिल्ली के माता चनन देवी निःशुल्क नेत्र चिकित्सालय के नेत्र विशेषज्ञो के पुरुषार्थ से दिनांक 19 10 89 से 26 10 89 तक आर्य वानप्रस्थ आश्रय ज्वालापुर मे निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर सम्पन्न हुआ। उक्त शिविर का उद्घाटन महात्मा आर्य भिक्षु तथा अध्यक्षता श्री हरीशचन्द्र श्रीवास्तव आई ए एस नेकी मुख्य चिकित्साधिकारी थे इस शिविर मे कुल 678 रोगियो के नेत्रो की जांच की एवं 85 रोगियो की सफल शल्य चिकित्सा हुई।

—मन्त्री

साथियो की जीत

(शेष पृष्ठ 1 का)

प्रथम जिले को पानी की समस्या से छुटकारा दिलाने का प्रयास करेंगे। उन्होने कहा कि किसानो के दस हजार रुपये तक के कर्जे माफ कराए जाने का वादा भी वे पूरी तरह निभायेंगे। जिले भर मे स्कूल व कालेज शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने अजमेर मे राजकीय छात्रा महाविद्यालय व इंजीनियरिंग कालेज खुलवाने के अतिरिक्त अजमेर विश्वविद्यालय के विस्तार एवं विकास के लिये सतत प्रयत्न करेंगे। श्री रावत ने अजमेर रेजीमेन्ट (44) को पुनः शुरू करवाने का वचन दिया है।

गत दिनो नसीराबाद मे हुए एक दंगे के बाद बन्दी बनाए गए भाजपा के जिला उपाध्यक्ष एडवोकेट वीर कुमार सहित करीब 26 कार्यकर्ताओ के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर उन्होने कहा कि प्रशासन या उन्हे बिना शर्त रिहा कर दे अन्यथा मुझे धरने पर बैठना पडेगा।

श्री रासासिंह के विजयी होने से पूर्व ही उनके निवास स्थान पर बधाई देने पहुंच रहे स्कूली छात्रो को वह गुड बांट कर मुंह मीठा करा रहे थे। मौहल्ले की महिलाएं श्रीमती रासासिंह को बधाई देने उमड पडी।

रासासिह आर्य द्वारा दरगाह की जियारत

अजमेर से लोक सभा के विजयी प्रत्याशी तथा डी ए वी सीनियर उच्च मा विद्यालय के प्रधानाचार्य और आर्य समाज के म त्री श्री रासासिह जी द्वारा अपने चुनाव अभियान के समय यहा की प्रसिद्ध ख्वाजा साहब की दरगाह मे जियारत करने का समाचार पढकर आर्य समाज से सम्बन्धित तथा अन्य अनेक व्यक्तियो द्वारा आश्चर्य और विरोध प्रकट किया गया। और यह माग की गई कि आर्य समाज के प्रधान तथा डी ए वी आदि लगभग एक दर्जन शिक्षण सस्थाओ के निदेशक श्री दत्तात्रेय आय जिनका रासासिह को सदा से सरक्षण प्राप्त रहा है, इस सबध मे अपनी स्थिति स्पष्ट करे। अत आचार्य दत्तात्रेय ने एक वक्तव्य जारी करके यह स्पष्ट किया है कि वे स्वय इस घटना से अप्रसन्न हैं और सूचित किया कि श्री रासासिह से मागे गए स्पष्टीकरण के उत्तर मे उन्होंने यह स्वीकार किया है कि चुनाव की विवशता मे उनके द्वारा यह भूल हुई है जिसका उन्हे खेद है।

इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रधान दत्तात्रेय आर्य ने कहा कि उन्हे आशा है भविष्य मे रासासिह जी ऐसा कोई कार्य नही करेगे जिससे आर्यसमाज और उनके स्वय के बारे मे आक्षेप करने का अवसर उत्पन्न हो और साथ ही आशा व्यक्त की कि आर्य समाज जैसे प्रथम राष्ट्रीय तथा धार्मिक और सामाजिक क्रान्तिकारी आन्दोलन की भट्टी मे तपे हुए रासासिह जैसे योग्य नवयुवक राजनीति के इस नवीन और व्यापक क्षेत्र मे भी अपनी निष्ठा और ईमानदारी का परिचय देगे और देश व समाज सेवा का एक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

निर्वाचनो के समय इस प्रकार के धार्मिक स्थानोंका दुरुपयोगकिये जाने की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि जहा तक उनकी जानकारी है स्वय भारतीय जनता पार्टी की भी यह नीति नही है कि उसके उम्मीदवार कोई ऐसा कार्य किये जाने के लिए विवश किए जाये जो उनकी अपनी धार्मिक मान्यता के विपरीत हो धर्म निरपेक्षता के सही सिद्धान्त को विकृत कर के काग्रेस ने साम्प्रदायिक तुष्टिकरण की जो परम्परा प्रारम्भ की है उसका भारतीय जनता पार्टी के प्रबुद्ध नेताओ ने अभी तक अनुकरण नही किया है। यही कारण है कि अटल जी जैसे उदार नेता भी यहा आने पर दरगाह नही गए और न श्री भैरोसिह शेखावत जैसे नेताओ ने अपने अजमेर के दौरो मे कभी ऐसा करने की आवश्यकता अनुभव की। आचार्य दत्तात्रेय जी के अनुसार इस प्रकार की जियारत वैसे भी गुनाह बेलज्जत है। रासासिह जी जिस बडे बहुमत से विजयी हुए है उससे स्पष्ट है कि दरगाह जाने न जाने का उनकी सफलता पर कोई असर नही पडता। अनेक वर्षों से काग्रेस के बडे बडे नेताओ की मिन्नतो के उपरान्त भी ख्वाजा साहब के क्षेत्र तक मे उनकी असफलता इस बात का प्रमाण है।

मुस्लिम मतदाता भी ऐसे नादान नही है कि अपनी धार्मिक और राजनैतिक मान्यताओ के स्थान में वे इस प्रकार के हथकण्डो से प्रभावित हो जाय। उन्होने आगे कहा कि वस्तुत ख्वाजा साहब के प्रति आस्था रखने वालो की दृष्टि से भी यह उन जैसे सूफी सन्तो का अपमान है कि उनसे या उनके मजार मे यह आशा या अपेक्षा की जाय कि परस्पर विरोधी उम्मीदवारो की मिन्नतो मात्र से प्रभावित होकर व किसी एक राजनैतिक दल का पक्षपात पूर्ण समर्थन कर सकते हैं।

स्वाधीनता के बाद और विशेषकर स्व पण्डित नेहरू जी के बाद धर्म निरपेक्षता के स्थान मे सर्व धर्म सापेक्षता की इस राजनैतिक होड के कारण ही आज इक्कीसवी शताब्दी मे प्रवेश करने का ढिढोरा पीटने वाला हमारा यह देश ज्योतिष, मुहूर्त तन्त्र मन्त्र और यहा तक कि नरबलि और नकली भगवानो के दिन प्रतिदिन बढने वाले दकियानूसी और बुद्धिविहीन अन्धविश्वासो के कारण पुन मध्ययुग के उस अन्धकार मे प्रवेश करने लगा है जिससे हम मुक्त करने के लिये अ ग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता से अछूते रहकर भी ऋषि दयानन्द ने सबसे पहले प्रयत्न किया था।

'उठो उठो हे आर्य सपूतों !'

पथ पर विचलित आज हुआ
जाता क्यो आर्य – समाज ?
जिस पर प्यारी भरत भूमि को,
एक दिन था अति नाज।

सोचो पुन दयानन्द जी ने,
क्यो कर इसे बनाया था ?
त्याग - तपस्या प्रेम धर्म से
सुन्दर इसे सजाया था।

तिमिर धरा का दूर भगाने,
का था, अति उद्देश्य महान।
वेद पथो पर चल कर निखरे
मानव जीवन के प्रतिमान।

दूर दर्द हो जन्म भूमि के
धर्मशील हो प्यारा देश।
दानवता के पद चिन्हो का
भू पर बचे नही अवशेष।

लोभ-मोह मद-मत्सर छूटे —
काम क्रोध का शक्ति विहीन
द्रोह दनुजता नष्ट प्राय हो
जग हो पाखण्डो से हीन।

वेद-भानु की रश्मि उदित हो,
सौम्य तथा सम्यक स्निग्ध।
अभिषिक्तित हो पुण्यधरा यह,
जो है आज अनल सी दग्ध।

वेद ज्ञान की पुण्य पताका
महि मण्डल पर लहराए।
वैदिक धर्म पुन जाग्रत हो,
अवनी का तम दूर भगाए।

मानव मानवता से पूरित
मानवता का रक्षक हो।
साम्य प्रसून खिले भारत मे
मनुज धर्म का रक्षक हो।

वर्णाश्रम की पुण्य व्यवस्था
पुन व्यवस्थित हो जाए।
जाति-पाति का, छूआ-छूत का
दनुज यहा से भग जाए।

बिना किसी भी भेद भाव के,
सबको सम अधिकार मिले।
पावन हो धरती का कण कण
मानवता के पुष्प खिलें।

ऋषिवर का है आर्यसमाज
यह, अपने पथ पर भटक रहा
लोभ-मोह सत्ता लिप्सा के
झगडो मे है अटक रहा।

गद्दी धारी बने आर्य जन,
स्वार्थ हितो ने घेरा है।
आर्य समाजो के घर मे ही
देखो आज अन्धेरा है।

सारे जग को आर्य बनाने
का है लक्ष्य हुआ विस्मृत।
दानवता का नर्तन होता—
लोभ मोह है अति विस्तृत।

दयानन्द के अमर सैनिको,
निद्रा त्यागो ! जागो अब।
दानवता के पद चिन्हो हो।
भूमण्डल से भागो अब।

शौर्य-शक्ति-साहस से शोभित
आर्य जनो हे ! आज बनो।
राम-कृष्ण के वशज ! जागो,
भागों तम के घोर घनो।

उठो ! उठो हे आर्य सपूतो।
धरती स्वर्ग बनाना है।
ऋषिवर दयानन्द के स्वप्नो
को साकार कराना है।।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मौहल्ला केसरगज, अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।

—महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्यसमाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए।

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 6 शुक्रवार 15 दिसम्बर 1989 अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभयं पराक्षात्। सवत् 2046
अंक : 22 प स -4338/84 अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु। वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60

आखिर आरक्षण का विरोध कितना सही है ?

—वीरेन्द्र कुमार आर्य —

उत्तरप्रदेश के एक नगर मे चला आरक्षण विरोधी आन्दोलन एक सप्ताह से भी कम समय मे कई प्रदेशो की सीमाओ को लाघ गया है। यह पंक्तिया लिखे जाने तक उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त राजस्थान व बिहार मे आरक्षण विरोधी आन्दोलन उग्र रूप धारण कर चुका है और प्राप्त समाचारो के अनुसार आगामी सप्ताह मे अन्य कई प्रदेशो मे भी आरक्षण विरोधी आन्दोलन के जोर पकडने की पूरी सभावना है।

देश के स्वतन्त्र होने पर जातीय आधार पर एक विशेष उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए दस वर्ष के लिए अनुसूचित जाति एव अनुसूचित जनजाति के लोगो के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई थी लेकिन बाद मे राजनेताओ ने क्षुद्र स्वार्थों के लिए आरक्षण के इस मुद्दे के नाम पर अपनी रोटिया सेंकनी आरम्भ कर दी। मतलब ये कि क्षुद्र राजनीति के खेल मे हर राजनीतिक पार्टी और नेता एक दूसरे को पीछे छोड़ने की कोशिश मे रहा और आरक्षण की निर्धारित दस वर्ष की अवधि हर बार आगामी दस वर्ष तक के लिए बढती रही। इस बीच किसी भी राजनैतिक दल पार्टी या इनके नेता विशेष ने कुछ भी सोचने का विचार नही किया। किसी ने ईमानदारी से आरक्षण नीति के सम्बन्ध मे विचार करने की आवश्यकता महसूस नही की। जबकि आरक्षण के प्रथम बीस वर्षों के तुरन्त बाद इसकी अवधि बढाने जाने से पूर्व गम्भीरता पूर्वक विचार विमर्श किए जाने की महती आवश्यकता थी।

यह सत्य है कि लम्बे समय तक देश की तथाकथित सवर्ण जातियो ने पिछड़े वर्गों की जातियो का सामाजिक एव आर्थिक शोषण किया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उसे आरक्षण द्वारा आगे बढने का विशेष अवसर दिया जाना पूर्णतया उचित था। यो निर्धारित आरक्षण नीति को दोषरहित नही कहा जा सकता। लेकिन बाद मे आरक्षण की इस नीति की कालावधि बढी ही देश व समाज मे उभरी जातीय विषमता की जनक है।

यह भी एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि जातीय विषमता की खाई को चौडा करने मे आरक्षण नीति का प्रमुख हाथ रहा है। समानता के नाम पर अन्याय करने की यह अपने आप मे एक मिसाल है। अब वोटो की राजनीति करने वालो को इतना सब सोचने की फुर्सत कहा है!

आज आरक्षण नीति पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। सामाजिक आधार पर आरक्षण देना समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के साथ तो अन्याय है ही साथ ही कृपाराम पूनिया व स्व जगजीवनराम जैसो के वशजो को अनुसूचित जाति व अनुसूचित जाति के कमजोर लोगो से पक्षपात करने का अधिकार प्रदान करता है। आज पिछडी जातियो के लाखो सख्या मे ऐसे व्यक्ति हैं जो आरक्षण का भरपूर उपयोग कर उच्च वर्ग की पात्रता प्राप्त कर चुके हैं और साथ ही कथित उच्च वर्ग के लाखो लोग पिछडे वर्ग का कहलाने की स्थिति मे पहुच चुके हैं।

ऐसी अवस्था मे सभी राजनैतिक दलो को समस्या की वास्तविकता को समझते हुए आरक्षण नीति को सामाजिक आधार के स्थान पर आर्थिक आधार पर निर्धारित करना चाहिए। यह तय है कि ऐसे फैसले से एकबारगी काशीराम जैसे तथाकथित दलित नेता को बल मिलने का खतरा है लेकिन देश और समाज हित मे सभी राजनीतिक पार्टियो को इस खतरे से डरना नही चाहिए। बेहतर तो यह रहेगा कि स्वय आरक्षण का लाभ उठाने वाली जातियो के अन्दर ही इसमे परिवर्तन के समर्थन मे जनमत बनाया जाए।

सन् 1981 में अहमदाबाद के बी. जे. मेडिकल कालेज में कुछ पोलियो ग्रसित छात्रों के प्रवेश को लेकर एक छोटा-सा विवाद हुआ था जिसने आगे चलकर विकराल जातीय युद्ध का रूप ले लिया। इसके फलस्वरूप भड़के दंगों से 42 व्यक्ति अपनी जान गवा बैठे, सैकड़ों घायल हुए। शनैः शनैः यह जातीय युद्ध गुजरात ही नहीं, अपितु अन्य प्रदेशों जैसे राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश में भी फैल गया। मेडिकल कालेज के छात्रों ने उन नियमों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया, जिनके तहत मेडिकल कालेज में केवल 'आरक्षित समुदाय' के छात्रो का ही प्रवेश हो रहा था। यह आन्दोलन प्रदेश की सभी शिक्षण सस्थाओं एवं कुछ सम्बन्धित राजकीय सस्थाओं में भी प्रभावी हो गया जिसमें आरक्षण कानून के नियमों के अन्तर्गत ही प्रवेश या अन्य कार्य सम्पन्न होते थे। छात्रों ने दंगे, आगजनी, बलात्कार, तोड़फोड़, हड़ताल बन्द आदि माध्यमों से 182 दिन तक इस जातीय दंगे का ताण्डव जारी रखा।

× × × × ×

वर्तमान समय में विभिन्न शिक्षा, सरकारी तथा अन्य संस्थानो मे केवल जाति विशेष को अतिरिक्त अधिकार दिये गये हैं। विभिन्न प्रदेशों में इन वर्गों के लिए 2 प्रतिशत से लेकर 80 प्रतिशत तक आरक्षण दिया जाता है। महाराष्ट्र में 80 प्रतिशत, तमिलनाडु में 50 प्रतिशत, केरल में भी 50 प्रतिशत, कर्नाटक में 66 प्रतिशत, गुजरात में 31 प्रतिशत, आन्ध्रप्रदेश में 30 प्रतिशत, पंजाब में 25 प्रतिशत, जम्मू-कश्मीर में 50 प्रतिशत, बिहार में 26 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 15 प्रतिशत, हरियाणा में 12 प्रतिशत, हिमाचल-प्रदेश में 5 प्रतिशत।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रबन्ध सम्पादक : रासासिंह सम्पादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या 21010

कुरीति दहेज

नारी की शत्रु क्या नारी नहीं है ?

—प्रेमकपूर

घटना बहुत पुरानी नही है जब कानपुर में तीन बहनो ने सामूहिक आत्महत्या कर ली। यही घटना एक बार फिर चण्डीगढ मे दोहराई गई। पिछले साल केवल पश्चिम बगाल मे 629 युवतियो की हत्या कर दी गई। और इन सारी हत्याओ-आत्महत्याओ का कारण था—दहेज। आये दिन पत्र-पत्रिकाओ मे देश के विभिन्न हिस्सो मे ऐसी खबरे आती रहती है और सुर्खियो मे छपती रहती हैं।

बुरहानपुर (मध्य प्रदेश) मे तो एक ऐसा हादसा हुआ जिसने पूरी मानवता को ही कलकित कर दिया। 5 वर्ष पूव निमला का विवाह अशोक जायसवाल से हुआ था। विवाह के वक्त पर वर पक्ष ने दहेज की माग की थी। जिसे निर्मला के पिता मुन्नालाल जायसवाल ने पूरा करने का आश्वासन दिया था। सयोग से इस बीच बुरहानपुर ताप्ती मिल्स मे आग लग जाने के कारण उन की नौकरी जाती रही। निमला साल भर ससुराल रही, जहा उसने एक पुत्र राहुल को जन्म दिया। माग पूरी न होने के कारण उसे ससुराल के निकाल दिया गया। चार साल वह अपने पिता के घर रही। बाद मे समाज से कुछ लोगो के बीच बचाव से उसे वापस ससुराल भेज दिया गया। ससुराल मे उसे तो यातनाये दी ही जाती रही उसके पुत्र राहुल जो सम्पत्ति का वारिस था को राह से हटाने की तरकीबे की जाने लगी। गत 15 जुलाई को कहते है अशोक जायसवाल ने अपने अबोध शिशु पुत्र राहुल को जहर देकर मार डाला।

यह और ऐसी ही अन्य घटनाये हमे सोचने को विवश करती हैं कि यह कैसी रीति है जो व्यक्ति को मनुष्य से पिशाच बना देती है, छीन लेती है उस की मानव जनित सवेदना।

सुनते आये थे कि मनुष्य वही है जो दूसरो के लिये जिये और मरे। विपरीत इसके दहेज के इस दानव ने मनुष्य को इतना आत्म और अर्थ केन्द्रित कर दिया है कि वह मनुष्य ही नही रहा निरा पशु हो गया है।

कहने को हमने बहुत प्रगति कर ली है, दहेज लेने और देने के खिलाफ कानून भी बना दिये है। बावजूद इसके दहेज एक गलित कुष्ठ की तरह हमारे समाज मे विद्यमान है। हमारी प्रगति पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है। जो कुरीति दो सौ तीन सौ साल पहले दूर हो जानी चाहिये थी हम आज भी उसे ढोये जा रहे हैं। आज भी पुत्र-जन्म पर कासे के थाल बजाये जाते है और पुत्री होने पर मातम मनाया जाता है क्योकि पुत्री का अर्थ है विशाल दहेज की राशि।

अभी जब तक पिता, पति व पुत्र के भिक्षोम की शरणार्थी बनी रहेगी, यो ही जलती रहेगी, आत्महत्या करती रहेगी। इसलिये आज स्त्री को अपनी अस्मिता, अपनी बैसाखियां तोड़नी होगी। आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर होना होगा। अपनी अस्मिता को प्रतिष्ठित करना होगा। यह सही है कि आज के सन्दर्भो मे भारतीय नारी जागृति का शखनाद करने लगी है परन्तु यह प्रक्रिया अभी अधूरी है। यदि पूर्ण हो गई होती तो दहेज जैसे कोढ से समाज मुक्ति पा चुका होता।

दुर्भाग्य तो इस बात का है कि दहेज के खिलाफ नारी के सघर्ष मे कही कही स्वय नारी ही बाधक है। वधू-दहन के जितने भी मामले प्रकाश मे आये लगभग प्रत्येक मे बहू को जलाने मे सास ने अहम भूमिका निभाई। यह एक ऐसा तथ्य है जिस पर नारी वर्ग को गम्भीरता से सोचना है। सास यह क्यो भूल जाती है कि वह स्वय भी एक नारी है।

दहेज सरीखे अभिशाप के विरुद्ध समाज के युवको की भूमिका पर दुःख भी होता है और आश्चर्य भी। यह सही है कि कुछ प्रगतिशील युवक हैं जो नीतिगत रूप से दहेज लेना और देना उचित नही मानते और अपने परिवारो पर दहेज लेने और देने के खिलाफ दबाव डालते है। किन्तु ऐसे युवको की सख्या बडी सीमित है। अधिकतर युवक अपने शादी-विवाह पर आज्ञाकारी बालक बन जाते हैं और अपने माता-पिता द्वारा दहेज की माग पर कोई आपत्ति नही उठाते। दरअसल पहल इस युवक वर्ग को ही करनी होगी।

हम अपनी रुग्ण मानसिकता को त्यागने को जब तक तत्पर नही होंगे, तब तक यह कोढ समाज से दूर नही किया जा सकता और तब तक कानपुर हो या चण्डीगढ की बहनो की सामूहिक आत्महत्या हम एक मूक दर्शक बनकर देखते व सुनते रहेगे। हमे एक व्यापक सघर्ष करना होगा समाज से, समाज के ठेकेदारो से और कभी-कभी स्वय अपने आपसे भी।

साथ ही नारी वर्ग को भी आत्महत्या जैसे घृणित मार्ग से निकल कर अबला की जगह सबला बनना होगा। अपने सम्मान व गौरव की रक्षा के लिये समाज मे जूझना होगा। दहेज के लोभियो व सफेदपोश दरिंदो को सबक सिखाने के साथ ही इनका सामूहिक सामाजिक बहिष्कार करना होगा अन्यथा दहेज की बलिवेदी पर चढाई जाने वाली बहनो की हत्याओ मे आप और हम सभी परोक्ष रूप से हिस्सेदार होगे।

दहेज की नई जननी : आज की शिक्षा

लेखक दहेज के खिलाफ और स्त्री के पक्ष मे बहुत लिखते हैं, लेकिन आज की शिक्षा और प्रमाणपत्रो के पीछे वे स्वय पागल रहते है। आज की शिक्षा निरन्तर बोझिल, पाखडी और खर्चीली होती जा रही है। मा बाप अनापशनाप तरीको से अपनी सतान को पढाना, नौकरी मे लगाना या पढाई का केवल आर्थिक लाभ उठाना चाहते हैं। फलत पढाने और पढने वाले सभी पाखडी होते जा रहे हैं। पब्लिक स्कूलो मे तो फीसो, वर्दियो, दिखावो मे बहुत पैसा लगता है। यह पैसा भ्रष्ट तरीको से आता है। ये लोग दहेज जैसी पारम्परिक चीज को पाखड या कुरीति कैसे मान सकते हैं? डाको मे व्यस्त समाज चोरी का विरोध क्यो करे? क्या लेखक इस समाज के ढकोसलो मे प्राय सहयोगी नही है? •—अशेष

स्वामी सत्य प्रकाश जी का आपरेशन सफल

आर्य समाज के मूर्धन्य सन्यासी श्री स्वामी सत्य प्रकाश जी अकस्मात पेशाब रुक जाने के कारण तजानिया का कार्यक्रम बीच मे छोडकर विमान से सितम्बर को सीधे बम्बई आ गए थे। वहा के प्रसिद्ध हिन्दूजा अस्पताल मे उन्हे भरती करवा दिया गया। बम्बई के प्रसिद्ध सर्जन डा श्रीनिवास ने उनकी पौरुष ग्रन्थि का सफलता पूर्वक आपरेशन किया। स्वामी जी अभी कुछ दिन तक अस्पताल मे ही रहेगे। बम्बई की सभी आर्यसमाजो और स्वामी के भक्त आर्यजन तन, मन धन से उनकी सेवा मे लगे है।

पत्र व्यवहार आर्यसमाज सान्ता-क्रुज बम्बई-54 के द्वारा किया जा सकता है।

ओकारनाथ आर्य, प्रधान
—आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई

दयानन्द सेवाश्रम बरबतपुर मध्य प्रदेश मे गायत्री-महायज्ञ सम्पन्न

दिनाक 5-10-89 से 15-10-89 तक आदिवासियो के बीच एक महान यज्ञ का आयोजन ब्रह्मचारी जितन्द्र के सयोजन मे किया गया जिसके ब्रह्मा ब्रह्मचारी लोकव्रत वाचस्पति थे। यह स्थान ईसाई बाहुल्य का क्षेत्र है जहा जनवरी 86 से ब्रह्मचारी जितन्द्र शुद्धि कार्य मे लगे हैं।

आर्यसमाज भिवडी के बाल मदिर का उद्घाटन

दिनाँक 1-9-89 को थाने जनपद (महाराष्ट्र) का उपनगर भिवडी के आर्यसमाज द्वारा आयोजित बाल मन्दिर का शुभारम्भ यज्ञ के द्वारा प ब्रह्मानन्द जी "आजाद" के पौरोहित्य मे सम्पन्न हुआ। इस शुभ कार्य हेतु आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई ने आर्य समाज भिवडी को जो कि सभान्तर्गत है 1500 रुपये की सहायता राशि प्रदान की।

—धर्मवीर गुलाटी (मन्त्री)

मेरी अमेरिका यात्रा के संस्मरण

हवाई यात्रा की आशंकाएँ और आनन्द

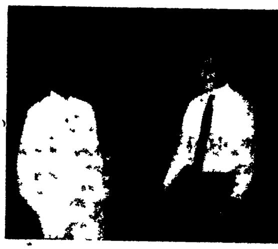
—दत्तात्रेय वाळे

आर्यसमाज अजमेर के प्रधान, शिक्षाविद् दत्तात्रेय जी ने अमेरिका के मार्शल विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर लगभग तीन माह का विदेश प्रवास किया। इस अंक से हम उनके यात्रा सस्मरणों का धारावाहिक रूप से प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं। —स

11 अगस्त से 14 अक्टूबर सन् 1989 तक मैं वेस्ट वर्जीनिया नामक अमेरिका के एक पूर्वी राज्य के मार्शल विश्वविद्यालय मे 'विजिटिंग स्कोलर' अर्थात् निमत्रित विद्वान के रूप मे गया था।

ये मेरी तीसरी अमेरिका यात्रा थी। सबसे पहले सन 1956 म मैं भारत और अमेरिका के बीच तत्कालीन सास्कृतिक आदान-प्रदान समझौते के अन्तर्गत वहा की सरकार के निमत्रण पर गया था। उसकी सारी व्यवस्था और व्यय अमेरिकन सरकार ने ही वहन किया था।

तीन महीने मे अधिक की यात्रा मे मुझे अमेरिका जैसे विशाल देश के [पूर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सब स्थानो पर जाने का अवसर मिला। लौटने पर मैंने अपने सस्मरणो के आधार पर अग्रेजी म पुस्तक The Two Way Traffic" नाम से प्रकाशित की थी। इसी प्रकार वहा के विश्वविद्यालयो धार्मिक और सामाजिक सगठनो तथा अन्य जहा-जहा भी मेरा कार्यक्रम निर्धारित किया गया था, वहा मैंने भारत तथा उसकी तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध मे जो कुछ विचार व्यक्त किये जिनका मुख्य आधार, ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज] की] विचार धारा था, उनका सकलन उन्हे मेरी दूसरी अग्रेजी पुस्तक 'Introduction To Modern India" मे प्रकाशित किया गया था। अमेरिका जाने वाले भारतीयो और विशेषकर विद्यार्थियो के लिये उन दोनो पुस्तको की उपयोगिता के कारण देहली स्थित अमेरिका दूतावास के सूचना विभाग ने इन दोनो पुस्तको की अनेक प्रतिया खरीदकर उन्हे वितरित किया था। दुर्भाग्य से गत 33 वर्षो की अवधि के बाद अब ये पुस्तकें बिक्री के लिये उपलब्ध नही रही।



आचार्य दत्तात्रेय वाळे के साथ उनकी यात्रा व उनके कार्यक्रम के प्रायोजक एव मार्शल विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष श्री डैन मेन।

दूसरी यात्रा

दूसरी बार मैं सन् 1983 मे अपनी पृथ्वी प्रदक्षिणा 'Round the World") यात्रा कार्यक्रम मे यूरोप होता हुआ अमेरिका गया और दो महीने वहा के अनेक राज्यो शिक्षण सस्थाओ आदि मे कार्यक्रम पूरा करने के बाद जापान, थाईलैण्ड, हागकाग और सिंगापुर आदि देशो म थोडे समय ठहरकर लौटा। इच्छा होने पर भी अपनी इस दूसरी यात्रा के सस्मरण व्यस्तता के कारण मैं प्रकाशित नही कर सका।

वर्तमान तीसरी यात्रा

मैं इस लेखमाला मे केवल अपनी तीसरी यात्रा के ताजा सस्मरणो का ही उल्लेख करना चाहता हू —

(1) हवाई यात्रा की आशकाएँ

आजकल वायुयान से यात्रा और विशेषकर विदेश म, एक साधारण सी बात समझी जाती है। हमारे देश मे काफी सख्या मे लोग वायुयान से यात्रा करते हैं। किन्तु जिन्हे वायुयान से यात्रा करने का अवसर नही मिला है, उन्हे इन यात्राओ की कठिनाईयो शकाओ और अच्छे-बुरे अनुभव के बारे मे जानने की उत्सुकता रहती है। सन् 1956 मे स्वय मुझे भी अनेक प्रकार की आशकाओं और अप्रत्याशित अनुभवो का सामना करना पडा। वायुयानो की दुर्घटनाओ के समाचार अन्य रेल आदि वाहनो की यात्राओ मे हुई दुर्घटनाओ से अधिक विभत्स और भयभीत करने वाले होते हैं। मेरे मित्रो और सम्बन्धियो ने इसीलिये जब मेरी सुरक्षा के सम्बन्ध मे अनेक चिन्ताएँ प्रकट की तो उसकी प्रतिक्रिया मुझ पर भी हुई और क्योकि मेरी यह पहली हवाई यात्रा थी इसलिये मैंने यथासभव प्रयत्न किया कि कम से कम अमेरिका पहुचने के बाद वहा की यात्राएँ मुझे वायुयान द्वारा न करनी पडे। किन्तु मेरे कार्यक्रमो और यात्राओ का आयोजन करने वालो ने मुझे सचेत किया कि ऐसी स्थिति म मैं अमेरिका जैसे विशाल देश को देखने वहा आयोजित कार्यक्रमो म भाग लेने म सफल नही हो सकता। परिणाम स्वरूप उन तीनो महीनो की यात्रा भी मुझे वायुयान से ही करनी पडी और धीरे-धीरे हवाई यात्रा सबधी मेरी आशकाओ की स्मृति धूमिल होती गई और मैं तब से एक बार हवाई जहाज मे बैठने के बाद इस सबध मे सर्वथा निश्चिन्त होकर हवाई यात्रा की विचित्रता विशेषता और आनन्द को अनुभव करने का आदी हो गया हू। वैसे प्रत्येक यात्रा से पूर्व हवाई अड्डो पर दुर्घटना की सम्भावना को ध्यान म रखकर जीवन बीमा कराने का प्रबन्ध होता है। विदेशो मे वो सर्वथा और सरल यान्त्रिक प्रणाली से किया जाता है और नाम मात्र की राशि देकर हजारो लाखों रुपये या डालरो के बीमा के कागजात प्राप्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिये मशीन के अन्दर भिन्न-भिन्न राशियो की पालिसियाँ रखी हुई होती है और 5 डालर से लेकर 20-25 डालर के नोट उस मशीन म डालकर अपेक्षित छोटी या बडी राशि की पालिसी मशीन मे से निकलकर आपके हाथ मे आ जाती है। उसे उसी समय वहा स्थित लेटर बॉक्स मे अपने सम्बन्धियो को भेजने की भी व्यवस्था होती है।

(2) विस्फोट और हाईजेकिंग

गत कुछ वर्षों से हवाई जहाजो मे बम विस्फोट तथा आतकवादियो द्वारा पिस्तौल की नोक पर उसे अन्यत्र ले जाये जाने की घटनाये हम अक्सर समाचार पत्रो मे पढते है। इससे पूर्व भी वायुयान की खराबी अथवा चालक की भूल के कारण ऐसी दुर्घटनाओ मे प्राय समस्त यात्रियो को जान से हाथ धोना पडा है। मुझे स्मरण है कि मेरी ऐसी ही वायुयात्रा के अवसर पर हवाई जहाज म जो समाचार पत्र पढने को दिये गये उनमे वहा के प्रसिद्ध ग्राड केनियन के ऊपर से आने वाले दो हवाई जहाजो की टक्कर का साधारणत अनहोना समाचार पढने को मिला। उस समय मैंने देखा कि मेरे कई सहयात्री आख मीचकर प्रार्थना या ईश्वर स्मरण करने लग गये। अस्तु।

अज्ञात यात्री

इस बार भी इस प्रकार की घटनाऐ घटी है। मैं देहली से 9 अगस्त 1989 ई को अपनी धमपत्नी सहित ब्रिटिश ऐयरवेज के वायुयान मे इस आश्वासन से बैठा कि समय के अन्तर के आधार पर मैं 10 तारीख की प्रात ही लन्दन पहुच जाऊ किन्तु जैसे ही वायुयान ने उडान भरने के लिय अपने दरवाज बन्द किये वैसे ही लाऊडस्पीकर पर यह घोषणा की गयी कि वायुयान मे कोई ऐसा व्यक्ति बैठा है जिसने अपना सूटकेस बिना जाच कराये विमान मे रखा है। अत वह कृपया विमान चालक से फौरन मिल।

किन्तु बार-बार की घोषणा के बाद भी कोई व्यक्ति उठकर नही गया। अन्त मे सब यात्रियो को विमान से उतारा गया और जिस-जिस ने अपने सूटकेस आदि को स्वीकार किया उन्हे बारी-बारी से दुबारा यान म रखे जाना लगा और जो सूटकेस सदिग्ध पाया गया या किसी ने नही पहचाना उसे पुलिस को सौंप दिया गया। इस सारी प्रक्रिया मे जहा अनेक यात्रियो म भय और शकाये उत्पन्न हुई वही हमारा वायुयान लगभग चार घन्टे देरी से रवाना हो सका।

(क्रमश)

15 दिसम्बर, 1989 'आर्य पुनर्गठन' पाक्षिक RJ/AJ/169

वैदिक शोध कार्य के लिए अपील

श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय गुरुकुल गौतमनगर के वार्षिकोत्सव में 26 नवम्बर को गुरुकुल के संस्थापक श्री स्वामी सच्चिदानन्द योगी के अभिनन्दन के अवसर पर स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने गुरुकुल में एक सक्षम शोधपीठ की स्थापना के लिए 50 लाख रु की स्थिर निधि के लिए अपील की। उन्होंने कहा कि आर्यसमाज और वैदिक वाङ्मय के यत्रतत्र बिखरे शोधकार्यों को एक स्थान पर केन्द्रित करके 5 विद्वानों को उचित मानदेय देकर रखा जाए और उसी केन्द्र की ओर से ग्रन्थ प्रकाशित हों। इसके लिए उन्होंने अपना पुस्तकालय और एक लाख रु देने की घोषणा की। स्वामी भीमानन्द जी और स्वामी दीक्षानन्द जी ने भी भरपूर सहयोग देने की घोषणा की।

3 दिसम्बर को अथर्ववेद के मन्त्रों से महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई। दिल्ली की अनेक आर्यसमाजें उपस्थित थीं। इसी अवसर पर स्वामी आनन्दबोध जी ने प्रसिद्ध पत्रकार, आर्य विद्वान प. क्षितीश वेदालंकार द्वारा सम्पादित **"आर्य परम्परा के गौरव-पुरुष : स्वामी सच्चिदानन्द योगी"** अभिनन्दन ग्रन्थ का विमोचन किया।

समाचार

वैदिक परीक्षाओं की उपाधियां वितरित

श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट करतारपुर की ओर से संचालित वैदिक परीक्षाएं 30 सितम्बर 1989 को आर्ष सम्मेलन म महाविद्यालय के आचार्य के तत्वावधान में सम्पन्न हुईं। एक छात्र को 'यजुर्वेदी' तथा पांच छात्रों को 'पाणिनीय' उपाधियां, पुरस्कार एवं कम्बल प्रदान किये गये। ये उपाधियां और पुरस्कार प्रतिवर्ष वेद संहिताओं तथा अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने वाले छात्रों को दी जाती हैं।

टंकारा में निर्वाणोत्सव

महर्षि दयानन्द सरस्वती का 106 वां निर्वाण दिवस उनके जन्म-स्थान टंकारा में 28 अक्टूबर 1989 को सोत्साह मनाया गया। इस अवसर पर उपदेशक महाविद्यालय टंकारा के छात्र, अध्यापक एवं अन्य अनेक मान्य विद्वान् उपस्थित थे। महर्षि को श्रद्धांजलि अर्पित की गई और अगले दिन गुजरात की परम्परा के अनुसार स्नेह मिलन का आयोजन किया गया।

यजुर्वेद पारायण यज्ञ

12 नवम्बर से 3 दिसम्बर 1989 तक गुरुकुल गौतम नगर दिल्ली में स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती के ब्रह्मत्व में यजुर्वेद पारायण यज्ञ का आयोजन हुआ। इस अवसर पर योग साधना शिविर का आयोजन भी किया गया।

वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज ऊना का वार्षिकोत्सव 8-9-10 दिसम्बर 1989 को डी ए वी स्कूल ऊना के प्रांगण में मनाया गया है। इस महोत्सव पर वेदों के तथा आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान पधार कर अपने मनोहर प्रवचनों द्वारा सार्वजनिक रूप से सम्बोधित किया।

श्री देवीदास आर्य का सफल आपरेशन

प्रख्यात महिला उद्धारक केन्द्रीय आर्य सभा के प्रधान श्री देवीदास आर्य के रीढ़ की हड्डी का लखनऊ में [illegible] होने के पश्चात् [illegible] कानपुर में [illegible] स्वागत किया गया।

सम्पूर्ण की अध्यक्षता श्रीमती लीलावती ग्रोवर (प्रधाना) ने की।

—मन्त्री, केन्द्रीय आर्य सभा, कानपुर

दयानन्द बाल सदन, अजमेर
आचार्य की आवश्यकता

दयानन्द बाल सदन अजमेर जिसमें 150 बालक-बालिकाएं हैं, उसके लिये एक निष्ठावान 45 से 55 वर्ष आयु के आर्य विद्वान आचार्य की आवश्यकता है। प्रारम्भिक वेतन 1445/-, वेतन शृंखला 1120-2050 नि शुल्क आवास तथा बिजली पानी की सुविधा। आवेदन मन्त्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

आर्यसमाज शिक्षा सभा, अजमेर

आवश्यकता (1)

विरजानन्द सीनियर हायर सैकण्डरी विद्यालय हेतु एक व्याख्याता (स्कूल शिक्षा) नागरिक शास्त्र-योग्यता—एम ए (राजनीति शास्त्र) तथा बी एड वेतन शृंखला 1490-3050 तथा देय महंगाई भत्ता। आवेदन मन्त्री के नाम 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र प्रस्तुत करें।

आवश्यकता (2)

सूरदेव सैकण्डरी विद्यालय हेतु एक द्वितीय ग्रेड गणित अध्यापक—योग्यता—बी एस सी (गणित विषय सहित) तथा बी. एड.—वेतन शृंखला 1140 से 2250 तथा देय महंगाई भत्ता। अनुभवी तथा उच्च योग्यताधारी को प्राथमिकता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मन्त्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

आवश्यकता (3)

स्टेनोग्राफर एक—योग्यता हायर सैकण्डरी तथा किसी मान्यता प्राप्त संस्थान से आशुलिपि में डिप्लोमा। वेतन शृंखला 1140 से 2250 तथा देय महंगाई भत्ता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मन्त्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

आवश्यकता (4)

विरजानन्द प्राईमरी विद्यालय हेतु दो सहायक अध्यापक-योग्यता-हायर सैकण्डरी व एस टी सी वेतन वेतन शृंखला—880 से 1680 तथा देय महंगाई भत्ता। अनुभवी को प्राथमिकता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मन्त्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

आवश्यकता (5)

संगठन सचिव—योग्यता स्नातक एवं कम से कम पांच वर्ष का वरिष्ठ लिपिक का अनुभव। वेतन शृंखला—1400 से 2825 तथा देय महंगाई भत्ता। उच्च योग्यताधारी एवं अनुभवी को प्राथमिकता। आवेदन मन्त्री के नाम 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र प्रस्तुत करें।

आर्यसमाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्यसमाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार—मूल्य रु 1 00
3 विद्यार्थियों के लिए आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं-मूल्य—50 00 रु
6 आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मूवमेंट (सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—रु 5 00

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1 दयानन्द कथा संग्रह मूल्य रु 3 00
2 महर्षि दयानन्द पत्रों के दर्पण में रु मूल्य 50.00

अन्य प्रकाशन

1 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
2 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओं का परिचय)—मूल्य रु 12,00
3 आर्यसमाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द रु 20 00 अजिल्द रु 16.00
ले. लाला लाजपतराय

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट)

1—ईश्वर एक नाम अनेक
2—आदर्श माता-पिता
3—शिक्षा और चरित्र निर्माण
4—गृहस्थाश्रम का महत्व
5—सन्यासी कौन और कैसा हो ?
6—राज्य व्यवस्था
7—ईश्वर और वेद
8—जगत् की उत्पत्ति
9—स्वर्ग और नरक कहां है ?
10—चौके चूल्हे में धर्म नहीं
11—हिन्दू धर्म की निर्बलता
12—बौद्ध और जैन मत
13—वेद और ईसाई मत
14—इस्लाम और वैदिक धर्म
15—सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत् के चोटी के विद्वानों के द्वारा लिखित हैं एवं ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्यसमाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेय जी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/- रुपये है।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए ।

-महर्षि दयानन्द

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्यसमाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए ।

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष · 6 शनिवार 30 दिसम्बर 1989 अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् । सवत 2046
अक 23 प स -4338/84 अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु । वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

बलिदान दिवस पर विशेष

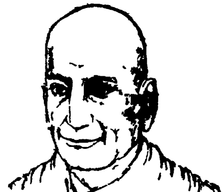
राष्ट्रमूर्ति श्रद्धानन्द

—क्षितीश वेदालंकार—

सन् 1857 की प्रथम क्रान्ति को विफल करने मे जिन लोगो ने अंग्रेजो का साथ दिया था, उसके बारे मे तत्कालीन शासको की यह धारणा बनी कि भविष्य मे यही लोग भारत मे अंग्रेजी हुकूमत को कायम रखने के दृढ स्तम्भ बनेंगे । इसलिए अंग्रेजो ने जहा विद्रोहियो को नृशसतापूर्वक दण्डित किया, वहा सहयोगियो को अपनी ओर से पुरस्कृत करने मे भी कसर नही छोडी । देश-विभाजन के बाद जो हिस्सा पश्चिमी पाकिस्तान कहलाया, उस भूखण्ड पर अंग्रेजो की कृपादृष्टि तभी से चली आ रही है । पाकिस्तान के प्रति जिस कोमल भाव के कारण उस प्रदेश को कभी कम्यूनिज्म से लडने के नाम पर और कभी भारत-विरोध की प्रच्छन्न मनोवृत्ति के कारण शस्त्रास्त्रो से लैस किया जाता रहा है, उसकी पूर्वपीठिका इसी साम्राज्यवादी कूटनीति में देखी जा सकती है ।

परन्तु अंग्रेजो की इस कूटनीति को भापकर उसका प्रतिकार करने का प्रयत्न यहा कभी बन्द नही हुआ और ऐसे तेजस्वी पुरुष इस देश मे निरन्तर पैदा होते रहे जो भारतीय राष्ट्रवाद को अपनी प्राण-धारा से सींचते रहे । यो समस्त उत्तर भारत मे, पर खास तौर से पजाब मे इस साम्राज्यवादी षड्यन्त्र को विफल करने का श्रेय जिन व्यक्तियो को दिया जा सकता है, उनमे अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द अग्रगण्य हैं ।

ऋषि दयानन्द की क्रान्तिकारी विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होने इस तथ्य को हृदयगम कर लिया था कि अंग्रेजी शासन से भी अधिक खतरनाक वह अंग्रेजियत है जो विदेशी भाषा, विदेशी आचार-विचार और विदेशी सस्कृति के माध्यम से इस देश की सन्तति को मानसिक दृष्टि से गुलाम बना रही है । मन गुलाम होने पर तन की गुलामी भी नही अखरती । देश मे केवल राजनैतिक पराधीनता को समाप्त करने का स्वप्न देखने वाले भी बहुधा इस मानसिक पराधीनता की उपेक्षा करते रहे । परन्तु मानसिक पराधीनता से मुक्ति पाए बिना केवल राजनीतिक स्वाधीनता कारगर नही हो सकती । स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी यदि तन्त्र दूसरो का ही चलता रहे, तो क्या लाभ ?



अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

विदेशी शिक्षा-दीक्षा, विदेशी चिंतन, विदेशी वेश, विदेशी भाषा और विदेश-पलायन का मोह आज भी कम नहीं है । वह सुविधा-परस्ती का रास्ता है । पर राष्ट्र के कल्याण का राजमार्ग तो त्याग-तपस्या और कष्टो की गलियो से गुजरता है । युवा-पीढी को सस्कारवान चरित्रवान और भारतीय सस्कृति से अनुप्राणित बनाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, समाज मे व्याप्त कुरीतियो का निवारण करने के लिए स्वय अपने घर-परिवार से पहल की और देश के स्वातत्र्य-सग्राम मे अदभुत निर्भीकता का परिचय दिया । धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक क्षेत्र मे कदम-कदम पर उनकी स्वभावगत वीरता के दर्शन होते हैं ।

'हम' शब्द की व्याख्या उन्होने की थी—ह अर्थात् हिन्दू और म अर्थात मुसलमान—वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की एक नई परिभाषा ही नही थी बल्कि इसे जिस रूप मे उन्होने चरितार्थ करके दिखाया था—वह भी इतिहास की अद्वितीय घटना है ।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का मूल सूत्र था—श्रद्धा । सत्य मे श्रद्धा ही उनके जीवन की नियामक शक्ति थी। इसी श्रद्धा ने उन्हे विकट परिस्थिति से जूझने की शक्ति दी थी । रवि बाबू ने लिखा है— विधाता जब दु ख को हमारे पास भेजता है तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है । 'वह पूछता है—तुम हमे किस भाव से ग्रहण करोगे ? जब उद्धार का कोई उपाय नजर नही आता तब उस विपद के साथ व्यवहार के ढग पर ही इस प्रश्न का उत्तर निर्भर होता है । हम उससे डरे या उसके सम्मुख छाती तानकर खडे हो जाए ।' विपद के सम्मुख छाती तानकर खडे होने की यह शक्ति बिना अखण्ड श्रद्धा के नही आती ।

(शेष पृष्ठ 2 पर)

कट्टर सिद्धान्तवादी

स्वामी श्रद्धानन्द जी कट्टर सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे, कभी भी अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ हित सिद्धान्तों की बलि नहीं देते थे । अपनी इसी सिद्धान्तप्रियता के कारण ही उन्हें महात्मा गांधी एवं कांग्रेस दोनों का त्याग करना पडा था ।

प्रसिद्ध गोभक्त लाला हरदेवसहाय जी ने एक बार स्वामी जी से कहा, "नित्य आपको मारने की धमकियां मिलती हैं । गांधी जी जैसे नेता भी आपसे रुष्ट हैं ।" इसके उत्तर मे स्वामी जी ने गरज कर कहा—

"क्या हुआ जो गांधी जी रुष्ट हैं ? क्या हुआ जो धमकी भरे पत्र आते हैं ? जब परमात्मा मेरे पास हैं, उनका वरदहस्त मेरी पीठ पर है और जब मेरा पक्ष सत्य है तो मुझे किसका भय ? मैं देश धर्म के कल्याण के लिये हर प्रकार के विरोध का सामना करूं गा ।"

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान सम्पादक ' रासासिंह सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन न कार्या 21010

युगपुरुष श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

—प्रो रामप्रसाद वेद
आचार्य एवं कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वह दिन भारतीय सांस्कृतिक जागरण के इतिहास में सदैव याद किया जाएगा जिस दिन महर्षि दयानन्द के प्रथम दर्शन और सत्संग का लाभ महात्मा मुंशीराम जी को मिला। स्वामी दयानन्द की अपूर्व तार्किक युक्तियों ने मुंशीराम जी की संदेह और अनास्था की शिला को चूर चूर कर दिया था पर परमेश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना उनके लिए दूभर हो उठा था। हतप्रभ मुंशीराम जी ने निवेदन किया महाराज! आपकी तर्कणा शक्ति बड़ी प्रबल है आपने मुझे चुप तो करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है। महाराज पहले हंसे फिर गम्भीर स्वर में बोले—देखो तुमने प्रश्न किए मैंने उत्तर दिए —यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे। स्वामी जी महाराज उपनिषद की इस धारणा को— यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। अपने चिन्तन में दृढ़ता के साथ आबद्ध कर चुके थे। अतः मुंशीराम जी को उन्होंने कहा—श्रद्धा की वेदी पर विश्वास का दीपक जलाओ परमेश्वर का साक्षात्कार होगा। मुंशीराम जी की इस मानसी दीक्षा ने उन्हें श्रद्धानन्द बना दिया। तब से लेकर बलिदान होने तक उन्होंने श्रद्धा की अंगुली कभी नहीं छोड़ी। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी वह इसी सम्बल के कारण विचलित न हुए। आस्तिक होने का प्रमाण है निर्भयता। कांग्रेस और स्वाधीनता का क्षेत्र हो या आर्यसमाज और शुद्धि सभा का गुरुकुल का काम हो या हिन्दू समाज का निर्भयता उनके मन की प्रचण्ड शक्ति के रूप में उनके साथ रही। जलियांवाला बाग काण्ड के तुरन्त बाद अमृतसर कांग्रेस का अधिवेशन उनके आत्मबल के कारण ही सफलता के साथ सम्पन्न हो सका। उन्हीं के तेजस्वी और लोकप्रिय व्यक्तित्व के कारण अंग्रेज फौजी अफसरों के आतंक दमन और अत्याचार के बावजूद त्रस्त जनता भारी संख्या में अधिवेशन में उपस्थित हुई। स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी की सूझबूझ और लोकप्रियता का इससे प्रबल प्रमाण क्या हो सकता है?

स्वामी जी देह और मन से सच्चे आर्य पुरुष थे। वह आत्मसाक्षात्कार के आलोक से दीप्त योगी थे। वैदिक युग को मूर्त रूप देने के लिए शिक्षा की लोकोपकारी योजना लेकर गुरुकुल आए थे। उन्होंने न केवल पंजाब के राजनीतिक और सामाजिक रूप का कल्प किया अपितु उन्होंने गांधी जी के आध्यात्मिक और स्वावलम्बी भारत की कल्पना को मूर्त रूप भी दिया। दीनबन्धु एण्ड्रूज उनसे इतने प्रभावित हुए कि महात्मा गांधी को दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर पत्र लिखकर स्वामी श्रद्धानन्द जी से मिलने की प्रेरणा दी। महात्मा गांधी जिस दिन उन्हें मिले वह भारतीय सांस्कृतिक जागरण के इतिहास में याद किए जाने योग्य दूसरा महत्वपूर्ण दिन है। दोनों ही महापुरुष थे दोनों ही महात्मा थे। महात्मा गांधी ने लिखा है—अगर कोई मुझे महात्मा के नाम से पुकारते भी थे तो मैं यही सोच लेता था कि महात्मा मुन्शीराम जी के बदले भूल से मुझे किसी ने पुकार लिया होगा। मैं जानता था कि हिन्दुस्तान की जनता ने उन्हें उनकी देश और समाज-सेवाओं के लिए महात्मा की उपाधि दी थी।

1925 में आचार्य दयानन्द जी की जन्म-शताब्दी पर उन्होंने गुरुकुल का लक्ष्य विषय पर एक लेख लिखकर अपने विचार प्रकट किए थे। उन्होंने प्राचीन गुरु शिष्य सम्बन्धों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था को जीवित करने के साथ प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के समन्वय पर भी बल दिया। आचार्य का स्वरूप शिक्षा का स्वरूप पाठ्यक्रम पाठ्य विधि अध्ययन स्थान और सामग्री समान शिक्षा और समान जीवन-यापन की सुविधा प्रदान करना तथा समाज और राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में सचेष्टता के मूल आधार पर खड़ी उनकी शिक्षा-योजना ने देश-विदेश में तहलका मचा दिया। स्वामी जी ने गोखले साहब की प्रेरणा पर गुरुकुलीय पद्धति पर आधारित शिक्षा प्रदान करने की देशव्यापी योजना भी बनाई थी जो क्रियान्वित न हो सकी। स्वामी जी ने श्री गोपालकृष्ण गोखले को गुरुकुल आमन्त्रित किया ताकि वह इस रूपरेखा को मूर्त रूप दे सकें परन्तु श्री गोखले कार्याधिक्य के कारण गुरुकुल न आ सके और यह योजना पूर्ण न हो सकी। स्वामी जी देश की बुनियादी शिक्षा पद्धति बदलना चाहते थे। उन का विचार था कि प्रत्येक नगर के पास प्रत्येक पांच गांवों के समूह के मध्य प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाठशालाएं खोल दी जाएं जिनमें पढ़कर बालक केन्द्रीय गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण कर सकें। चार वर्ष की पाठ विधि हो और जनता की सभाएं बनाकर लड़की और लड़कों की अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध कराया जाए। आज की नवोदय शिक्षा में इस योजना की कुछ झलक मिलती है। काश पराधीन भारत में यदि यह योजना लागू हो जाती तो आज राष्ट्रभक्त सुशिक्षित नवयुवकों की फौज ने अज्ञान गरीबी रूढ़िवादिता और वैषम्य भरे समाज में एक नया युग ही स्थापित कर दिया होता। स्वामी जी उच्च-कोटि के शिक्षा शास्त्री थे। अभी देश के शिक्षाशास्त्रियों को स्वामी जी को आदर्श मानकर एक महान लक्ष्य की पूर्ति करनी है। उनका यह स्वप्न उनके जीवन में साकार न हो सका। आर्यसमाज यदि इस दिशा में कार्य करे तो वर्तमान अशान्ति की औषध बाहरी शिक्षण संस्थाओं को गुरुकुल से प्राप्त हो सकती है।

(क्रमशः)

ऋषि निर्वाण दिवस

आर्य समाज कृष्णानगर दिल्ली की ओर से ऋषि निर्वाण दिवस पर 26 10 89 को प्रभात फेरी का आयोजन किया गया जिसमें लगभग 250 स्त्री पुरुष बच्चे सम्मिलित हुए कृष्ण नगर एवं आसपास के क्षेत्र से जहां से भी प्रभात फेरी हुई निवासियों ने पुष्प वर्षा मिष्ठान एवं फलों द्वारा अभूतपूर्व स्वागत किया। सारा क्षेत्र वैदिक ध्वनि से गुंजायमान हो गया।

—मन्त्री

बिहार में आर्य-समाज की दुर्दशा

बिहार के आर्यों का शिष्टमण्डल 3 अक्टूबर 1989 को दिल्ली में आर्य नेताओं से मिला। देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी के नेतृत्व में यह शिष्टमण्डल प्रो रतनसिंह नैतिक शिक्षा संस्थान दिल्ली श्री क्षितीश वेदालंकार सम्पादक आर्य जगत दिल्ली श्री पं यशपाल सुधांशु आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली एवं श्री रामनाथ सहगल मन्त्री आर्य प्रादेशिक सभा दिल्ली शिष्टमण्डल ने बिहार में आर्य समाज की दुर्दशा स्थिति से आर्य नेताओं को परिचित कराया।

मन्त्री

(शेष पृष्ठ 1 का)

काका कालेलकर ने लिखा है— जिस दिन स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने प्रिय पुत्र को लेकर गुरुकुल की स्थापना के संकल्प से गंगा के तट पर निवास किया वह दिन भारतवर्ष के वर्तमान इतिहास में महत्त्व का था। उस दिन उन्होंने जाति के उद्धार की नींव डाली। जिस दिन उन्होंने अन्त्यज बालकों को अपनाया उसी दिन हिन्दू जाति के संगठन का सूत्रपात किया। और जिस समय उन्होंने पत्थर गोली और खंजर की तरफ तुच्छता की नजर से देखा उसी दिन उन्होंने भारतवर्ष को निर्भयता का पाठ पढ़ाया। अपनी अतुल श्रद्धा से उन्होंने अपना दीक्षा नाम कृतार्थ किया। कायरों के जमाने में इस पुरुषसिंह की निर्भयता बहुत लोग न समझ पाए होंगे और संशय की नजर से उन्हें देखा होगा पर ऐसा समय जरूर आएगा जब विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि भारतवर्ष का यह आधुनिक सन्यासी सबको मित्र की दृष्टि से ही देखता था। सचमुच श्रद्धानन्द राष्ट्र-मूर्ति थे।

इस राष्ट्रमूर्ति के जीवन की तेजस्विता राष्ट्र की आत्मा को सदा तेजस्विता की ओर अग्रसर करती रहे!

मेरी अमेरिका यात्रा के संस्मरण

हवाई यात्रा की आशंकाएँ और आनन्द-2

—दत्तात्रय वाब्ले

(गतांक से आगे)

कम्प्यूटर की खराबी

लन्दन पहुचने पर दूसरे वायुयान द्वारा अमेरिका के लिये प्रस्थान करना था। अब सब यात्री उस दूसरे विमान मे बैठकर विशाल अटलांटिक महासागर के ऊपर लगभग दो घटे की यात्रा पूरी कर रहे थे तभी पुन एक भयभीत करने वाले समाचार की घोषणा की गई और चालक द्वारा यह आशका व्यक्त की गयी कि हवाई जहाज को चालित करने वाला जो कम्प्यूटर है वह ठीक तरह से काम नहीं कर रहा है और उसकी जाच की जा रही है। उसके बाद मे ये निर्णय किया जायेगा कि अगली यात्रा जारी रखना उपयुक्त है या नही। स्पष्ट है कि इस अवधि मे यात्रियो की मनोदशा बडी तनावपूर्ण रही क्योकि नीचे सिवाय विशाल महासागर और उसकी मीलो उठने वाली लहरो के अतिरिक्त और कोई आश्वस्त करने वाला दृश्य दिखाई नहीं दे रहा था। अन्त मे जहाज को पुन लन्दन लौटाये जाने की घोषणा की गई जहा लम्बी प्रतीक्षा के बाद दूसरे वायुयान मे यात्रियो को बैठाया गया। बाद मे मालूम हुआ कि जिस वायुयान से यात्रा प्रारम्भ की गयी थी वह एक विशाल नवीनतम वायुयान कुछ ही समय पूव निर्मित किया गया था। उसमे लगे आधुनिकतम कम्प्यूटरो का अभी परीक्षण नही हो पाया था इसलिये लौटने के बाद पूव परिचित वायुयान का ही उपयोग करना पडा।

प्राईवेट अर्थात व्यक्तिगत वायुयान

इस सब विलम्ब के कारण हम अपने गन्तव्य स्थान अर्थात अमेरिका के पीटमबग मे रात के 3 बजे पहुच पाये। वहा से पुन नियमित वायुयान से जाने मे और अधिक देरी की सभावना को ध्यान मे रखकर मेरी पुत्री तथा उसके पति [illegible] व सीटो वाला एक व्यक्तिगत हवाई जहाज हमे ले जाने के लिए लेकर आये। इस प्रकार हम लगभग 4 बजे अपने स्थान पर पहुचे। अमेरिका मे प्राय सबके पास और कुछ परिवारो मे जिनमे भारतीय परिवार सम्मिलित हैं बड बच्चो सहित सबकी अलग-अलग मोटर गाडिया है किन्तु कुछ व्यक्तियो के पास अपने छोटे और प्राईवेट वायुयान भी हैं। आगे जानकारी करने से पता लगा कि इस प्रकार व्यक्तिगत वायुयान रखने वालो का वहा एक सगठन बना हुआ है और नियमित वायुयान सेवा के लिये उतरने व उडान की सुविधा है। ये सुविधाए इन व्यक्तिगत वायुयानो को भी निर्धारित राशि देकर उपलब्ध होती हैं। वायुयान की यात्रा आदि मे आजकल कम्प्यूटर का उपयोग होता है इसलिये इन व्यक्तिगत वायुयानो की उडान तथा उतरने और माग आदि सब स्वचालित होते हैं। छ व्यक्तियो के इस वायुयान मे मैं और मेरी पत्नी पुत्री तथा उसके पति डॉ शर्मा के अतिरिक्त उनका मित्र चालक इस प्रकार हम पाच व्यक्ति थे। छोटे हवाई जहाज मे नीची उडान तथा हवा के दबाव आदि के कारण उतनी स्थिरता नही होती जितनी बड अन्तर्राष्ट्रीय वायुयान मे होती है जो लगभग 30 40 हजार फीट पर उडते हैं। इसलिये इस प्रकार के छोटे वायुयानो मे दुघटना की अधिक आशकाए होती हैं फिर भी हम पाच घटे के स्थान मे 45 मिनिट मे अपने घर सकुशल पहुच गये।



वाब्ले दपती के साथ मार्शल विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विभाग के अध्यक्ष प्रो क्लेयर मेटस

सुरक्षा सम्बन्धी नियम

अन्तर्राष्ट्रीय विशालकाय वायुयानो की यात्रा से पूव सुरक्षा आदि सम्बन्धी कुछ नियमो का पालन सब जगह एकसा है। विदेश यात्रा के लिय अपने देश का पासपोर्ट लेना होता है जिसमे यह अकित किया जाता है कि आप किस किस देश की यात्रा कर सकते हैं। भारत सरकार द्वारा हमे दिये गये पासपोर्ट मे यह उल्लेख था कि हम दक्षिण अफ्रीका को छोडकर अन्य सभी देशो की यात्रा कर सकते हैं। अपने देश के पासपोर्ट के बाद जिस देश मे जाना हो वहा के दूतावास द्वारा वीजा प्राप्त करना आवश्यक होता है। हवाई यात्रा के निश्चित समय से लगभग दो घटे पूव हवाई अड्ड पर पहुचने का नियम है क्योकि वहा अनेक औपचारिकताऐं पूरी होने के बाद ही वायुयान म प्रवेश मिलता है। बढती हुई भीड भाड तथा सुरक्षा की दृष्टि से आजकल केवल यात्रियो को ही एयर पाट म प्रवेश दिया जाता है पहले के समान उनके मित्र आदि अब अन्दर नही जा पात हैं।

यात्रा की औपचारिकताए

प्रवेश के बाद सबसे पहले पासपोट आदि की जाच होती है। भारत सरकार ने अब यात्रा को औपचारिकताए विदेश यात्रा करने वाला पर भ लगभग रुपये तीन सौ प्रति व्यक्ति के हिसाब स यात्रा टैक्स लगा दिया ह। इस देन के बाद कस्टम अर्थात चुगी विभाग मे सामान की यह देखन के लिय जाच की जाती है कि उसमे कोई अवैध सामान तो नही है। अन्त र्राष्ट्रीय उडाना मे सीधी यात्रा करने वालो को प्रतिव्यक्ति दो सूटकेस ले जाने की अनुमति है जो हवाई जहाज के नीचे सामान कक्ष म रखे जाते हैं किन्तु यदि रास्त मे कही रुककर जाना हो तो एक स्थान पर केवल एक ही सूटकेस वह भी निर्धारित वजन का ले जाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक व्यक्ति अपने साथ एक छोटा सूटकेस हवाई जहाज मे भी ले जा सकता है। जो अपनी सीट के नीचे या ऊपर बने खानो मे रखा जाता है। चुगी या कस्टम के बाद सबसे महत्वपूण औपचारिकता सिक्योरिटी अर्थात सुरक्षा सम्बन्धी कायवाही होती है जो गत कई वर्षों मे हवाई जहाज के विस्फोटो तथा उसे भगाकर उडा ले जाने के कारण काफी कडी की गई है। साथ मे ले जाने वाले छोटे सूटकेस पस व छोटी बड सभी चीजो की एक यात्रिक प्रणाली के द्वारा जाच की जाती है कई स्थानो पर इस प्रणाली के द्वारा अन्दर के चित्र छोटे पर्दे पर देखे जा सकते हैं। और उनमे यदि चाकू छुरी तलवार पिस्तौल आदि कोई विस्फोटक वस्तु हो तो उसमे से एक विशेष प्रकार की आवाज होती है जिसके आधार पर उसे खोलकर देखने के बाद आपत्तिजनक न होने पर ही ले जाने की अनुमति मिलती है।

तलाशी

इसी प्रकार प्रत्येक यात्री को एक ऐसे दरवाजे स गुजरना पडता है कि जिसमे इसी प्रकार के जाच यत्र के द्वारा आपत्तिजनक वस्तुओ की जानकारी दी जाती है इसके उपरान्त भी कई स्थानो पर महिला और पुरुष अधिकारी सिर से पैर तक यात्रियो को हाथ से टटोल कर भी तलाशी लेत है। इन सब सुरक्षा सबधी जाचो के बाद सब यात्रियो को सुरक्षित सिक्योरिटी के केन्द्र मे एकत्रित बैठना होता है उसके बाद न वहा कोई अन्य व्यक्ति जा सकता है और न यात्रियो मे स ही कोई बाहर आ सकता है वहा से हवाई जहाज तक पहुचने का रास्ता भी एक विशेष प्रकार की बनी ऊपर-नीचे से बद गैलरी मे से होता है। जिसका उद्देश्य यह है कि इसके बाद किसी प्रकार का बाहर का सम्पक न हो सके। वायुयान मे अपने निर्धारित स्थान पर बैठने के बाद सबको बैल्ट या सुरक्षा की कमर पेटिया बाधनी होती है और जब तक हवाई जहाज निर्धारित ऊचाई पर न पहुचे तब तक किसी यात्री को अपने स्थान से उठने व चलने आदि की अनुमति नही दी जाती।

हवाई यान सुविधाए

जैसा मैंने ऊपर कहा है कि आधुनिकतम हवाई यान एक विशाल लम्बे थियेटर हॉल के समान होते है। उनमे से कई दो मजिले भी होते हैं जिनमे 300 से 500 तक यात्री भिन्न भिन्न श्रेणियो के टिकिट लेकर बैठते है। जहाज मे नीचे सब जगह गलीचे जमी बिछायत होती है और कुर्सिया भी इसी प्रकार गद्दीदार होती हैं जो आगे पीछे करके आराम कुर्सी जैसी बन जाती है। वायुयान की यात्रा मे नियमित रूप से भोजन व नाश्ते आदि के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थ समय समय पर वितरित किये जाते हैं मदिरा पान करने वाले लोगो के लिय सभवत यह अच्छा अवसर होता है क्योकि वहा महगी से महगी और भिन्न भिन्न प्रकार की मदिराये नि शुल्क दी जाती हैं।

(क्रमश)

महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर रोहतक की हीरक जयन्ती महोत्सव

आपको यह जानकर अत्यन्त हर्ष होगा कि आपका अपना यह प्रिय सम्थान उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ अपनी स्थापना के 75वें वर्ष मे पहुच गया है। अतएव इस उपलक्ष्य मे हर्षोल्लास के साथ फाल्गुन कृष्णा द्वादशी से अमावस्या पर्यन्त स 2046 शिवरात्रि के अवसर पर 22 23 24 एव 25 फरवरी 1990 ई मे सस्था के हीरक जयन्ती महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है।

इस शुभ अवसर पर आर्यजगत् के अनेक धुरन्धर विद्वान तप पूत वीतराग साधु-सन्यासी, प्रान्तीय तथा केन्द्र सरकार के प्रमुख राजनैतिक नेता तथा उच्चकोटि के आर्य भजनोपदेशक पधार रहे हैं। अत आप सपरिवार भारी सख्या मे पधार कर धर्म लाभ उठायें।

सभी दानी सज्जनो से नम्र-निवेदन है कि इस आदर्श गुरुकुल की उन्नति एव सुसचालन के लिए मुक्तहस्त से दान देकर कृतार्थ करे।

—स्वामी ओमानन्द सरस्वती (आचार्य)

वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज लल्लापुरा का 54 वा वार्षिकोत्सव 25 से 28-12-89 को मनाया जायगा। इस शुभावसर पर आर्य जगत् के विख्यात महोपदेशक, प्राध्यापक, वेद विदुषी, सगीतज्ञ एव भजनोपदेशकगण पधार रहे हैं। जनता जनार्दन से साग्रह नम्र निवेदन है कि इस महोत्सव मे पधार कर उपदेशो से लाभ उठावें तथा तन, मन, धन से सहयोग देकर समारोह को सफल बनावें।

—मन्त्री

आर्यसमाज शिक्षा सभा, अजमेर

आवश्यकता

(1)

विरजानन्द सीनियर हायर सैकण्ड्री विद्यालय हेतु एक व्याख्याता (स्कूल शिक्षा) नागरिक-शास्त्र-योग्यता—एम ए (राजनीति शास्त्र) तथा बी एड वेतन शृ खला 1490-3050 तथा देय महगाई भत्ता। आवेदन मत्री के नाम 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र प्रस्तुत करें।

(2)

सूर्यदेव सैकण्डरी विद्यालय हेतु एक द्वितीय ग्रेड गणित अध्यापक-योग्यता-बी एस सी (गणित विषय सहित) तथा बी. एड —वेतन शृ खला 1140 से 2250 तथा देय महगाई भत्ता। अनुभवी तथा उच्च योग्यता-धारी को प्राथमिकता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मन्त्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

(3)

स्टेनोग्राफर एक—योग्यता हायर सैकण्डरी तथा किसी मान्यता प्राप्त सस्थान से आशुलिपि मे डिप्लोमा। वेतन शृ खला 1140 से 2250 तथा देय महगाई भत्ता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मत्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

(4)

विरजानन्द प्राईमरी विद्यालय हेतु दो सहायक अध्यापक-योग्यता-हायर सैकण्डरी व एस टी सी वेतन शृ खला-880 से 1680 तथा देय महगाई भत्ता। अनुभवी को प्राथमिकता। आवेदन 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर मत्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

(5)

सगठन सचिव योग्यता स्नातक एव कम से कम पाच वर्ष का वरिष्ठ लिपिक का अनुभव। वेतन शृ खला—1400 से 2825 तथा देय महगाई भत्ता। उच्च योग्यताधारी एव अनुभवी को प्राथमिकता। आवेदन मत्री के नाम 10/- के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र प्रस्तुत करे।

दयानन्द बाल सदन, अजमेर

आचार्य की आवश्यकता

दयानन्द बाल सदन अजमेर जिसमे 150 बालक-बालिकाए हैं, उसके लिये एक निष्ठावान 45 से [illegible] वर्ष आयु के आर्य विद्वान आचार्य की आवश्यकता है। प्रारम्भिक वेतन 14[illegible]/-, वेतन शृ खला 1120-2050 नि शुल्क आवास तथा बिजली पानी की सुविधा। आवेदन मत्री के नाम शीघ्र प्रस्तुत करें।

आर्यसमाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश धर्म और हिन्दू समाज को आर्यसमाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार—मूल्य रु 1 00
3 विद्यार्थियों के लिए आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म (अग्रेजी)—[illegible] रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही-मूल्य—50 00 रु
6 आर्यसमाज दी मोस्ट पावरफुल मूवमेंट
(सा दे सभा द्वारा प्रकाशित)—रु 5 00

दयानन्द शोधपीठ के प्रकाशन

1 दयानन्द कथा सग्रह मूल्य रु 3 00
2 महर्षि दयानन्द पत्रों के दर्पण मे मूल्य रु 50 00

अन्य प्रकाशन

1 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
2 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण सस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00
3 आर्यसमाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द रु 20 00 अजिल्द रु 16 00
ले लाला लाजपतराय

ऋषि दयानन्द वचनामृत

✻ प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राज पुरुषो को जाने।

✻ सब कर्मों का यथावत फल देना ही ईश्वर का काम है क्षमा करना नही।

✻ जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने मे प्रवृत्त होता है इसलिये वह सत्य मत को नहीं प्राप्त हो सकता।

✻ मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ दुराग्रह और अविद्यादि दोषो मे सत्य का छोड असत्य मे झुक जाता है।

✻ जो बलवान होकर निबलो की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर पर हानिमात्र करता रहता है वह पशुओ का भी बडा भाई है।

✻ आर्य उसको कहते हैं जो गुण कर्म स्वभाव और सत्य व्यवहारो मे सब से अधिक हो।

✻ जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है।

✻ ससार मे सुखी-दुखी अपने-अपने पुण्य-पापो के कारण हैं।

✻ माता-पिता तथा अध्यापक ईर्ष्या द्वेष से विद्यार्थियो का ताडन न करे।

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट)

1—ईश्वर एक नाम अनेक
2—आदर्श माता-पिता
3—शिक्षा और चरित्र निर्माण
4—गृहस्थाश्रम का महत्व
5—सन्यासी कौन और कैसा हो ?
6—राज्य व्यवस्था
7—ईश्वर और वेद
8—जगत की उत्पत्ति
9—स्वर्ग और नरक कहा है ?
10—चौके चूल्हे मे धर्म नही
11—हिन्दू धर्म की निर्बलता
12—बौद्ध और जैन मत
13—वेद और ईसाई मत
14—इस्लाम और वैदिक धर्म
15—सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष सभी ट्रैक्ट आर्य जगत् के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित हैं एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्यसमाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेय जी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/- रुपये है।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल शर्मा द्वारा-श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मौहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्यसमाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।



Alfred North Whitehead Pencil portrait by Paul Drury, collection of Trinity College, Cambridge (Photo Stearn and Sons, reproduced by permission of Trinity College, Cambridge)

thoroughly discredited it." Modern science has made it clear that there is no empty space, but only fields of force; that neat packets of matter are a fiction, that matter is energy and energy "incessant activity." Everything therefore is an "event." All events are intertwined, and when a leaf trembles, the universe shakes. There are echoes of Bergson in Whitehead's universe of process. It is neither unintelligible nor merely a machine. It is a universe of becoming and perishing, of "creative advance." It is not necessary fully to grasp Whitehead's meaning to realize that his system transforms profound scientific insights into a comprehensive philosophy of man and spirit

I pass quickly over the German phenomenologist Husserl and the distinguished French literary man, critic and philosopher Jean-Paul Sartre. Husserl's ideas are to me peculiarly opaque. Sartre's existentialism (which owes much to the Danish theologian Soren Kierkegaard, and is anticipated in the writings of Dostoevski, Nietzsche and Franz Kafka) appears in both a moderate and an extreme form. One can be a Catholic existentialist or, like Sartre, an existential atheist, or somewhere between. Existentialism is essentially an anti-intellectual outlook, and peculiarly appealing to those who see ethical ideals lying in ruins and seek solace in a categorical imperative of absolute personal responsibility for conduct By my imperfect grasp, existentialism is more of a creed than a full-grown philosophy.

Of the famous American trio of pragmatists, Peirce, James and Dewey, the first was the philosopher of science, the second the philosopher of religion, the third the philosopher of morals. James once made a celebrated division of philosophers into the "tender-minded" and the "tough-minded." Peirce was tough-minded He was original, wayward, prickly, unsuccessful — "a brilliant unemployable who had to be befriended by saintly people like William James." He introduced into phi-

losophy the word "pragmatic," which comes from a Greek word meaning "action" and is the source of our words "practice" and "practical." The main task of pragmatic philosophy he conceived to be the clarification of the meanings of words — nouns and adjectives — as they are used by scientists. Take, for example, the word "hard." To specify its meaning and make sure it always means the same thing, we must define it by translating the sentence "This is hard" into something like "If one were to try to scratch this, one would not succeed." In general, all descriptive statements in science should be translatable into an if-then form: "If operation O were to be performed on this, then E would be experienced." The entire procedure has a hypothetical, an operational and an experiential element. Any term, however well established, that resists this approach, is meaningless. If any two terms yield the same translation, they are the same, however different they may appear. Peirce said that "the whole function of thought is to produce habits of action." If we respond to a word in the way Pavlov's dogs responded to a dinner bell, the word is doing its job; otherwise not. One of his famous rules reads: "Consider what effects, which might conceivably have practical bearings, we conceive the object of our conception to have. Then, our conception of these effects is the whole of our conception of the object."

James was tenderer than Peirce. He had had things easier. Also he was a fuzzier thinker, but I think deliberately, just as the later Whitehead preferred fuzziness. He wrote a great work on psychology, was interested in the individual and his problems, and reflected deeply on the foundations of belief and the pragmatic theory of truth. For James there was no finality in truth. Truth is concrete, adequate, useful, empirical. It changes as we change. He quotes the German chemist Ostwald reporting on a wrangle between chemists over the word "tautomerous." The argument, said Ostwald, would never have begun if any one of the parties to it had ever asked himself what

experimental fact "could have been made different by one or the other view being correct." The dispute would then have been exposed as having as little substance as a dispute among primitive men over whether dough rises because of the exertions of a "brownie" or an "elf." Since truth is to be measured not alone by correspondence but also by consequences, James suggests the maxim that the truth is "what we ought to believe", and what we ought to believe is "what is better for us to believe" Admittedly it is not always easy to discover what is "better for us." Benefits have to be weighed, and the best we can hope to arrive at is "probable truth." But this is to be tested not by principle or dogma or "skinny" abstractions but rather by "what works best in the way of leading us, what fits every part of life best and combines with the collectivity of experience's demands, nothing being omitted."

John Dewey detected in James's test of truth what White characterizes as a certain "capriciousness" His philosophy, called instrumentalism or experimentalism, reverts to the "social and public pragmatism" of Peirce, and is more concerned with social or public problems than Peirce's or James's philosophy His ethical theory, he hoped, would mediate between the ethics of "transcendental eternal values" and the view that value is determined "by mere liking, desire or enjoyment" Dewey was a much admired and thoroughly admirable man. His influence has been beneficent in many fields. But he is not everywhere received as a thoroughly original thinker The complaint is heard that he is turgid and prolix and that his ideas do not have that special unlocking, liberating quality that marks a first-rate philosophy.

The pragmatists are more than halfway to the analysts. Peirce regarded metaphysics a subject "much more curious than useful" One ought to know about it, he said, as one ought to know about a sunken reef — so as to steer clear of it In the forefront of those who tried to steer philosophy away from the reefs of idealism is the famous English philosopher G. E

Moore Moore was a realist, an apostle of common sense and a founder of what is called the analytic movement. Among the major thinkers who were his pupils are Bertrand Russell, Lord Keynes and Ludwig Wittgenstein, all were profoundly influenced by him. The heart of Moore's philosophy is the belief that the world is made up of an infinite number of independent entities, all equally "real." Where others had established hierarchies of existence, distinctions between primary and secondary qualities, contrasts of appearance and reality, Moore saw a world in which "*everything* is real that common sense, uninfluenced by philosophy or theology, supposes real." Thus there is a place for $\sqrt{2}$ and stones, for the redness of berries and the concept of good; and no one need doubt that there are trees standing in the quad even when no one is looking. Keynes was enthralled by the "beauty of the literalness of Moore's mind, the pure and passionate intensity of his vision, *un*fanciful and *un*dressed up." A simple, childlike, repetitive quality characterizes his style — his prose reminds one of Socrates, Gertrude Stein and even Michael Arlen — and an extraordinary lucidity and austerity When he makes a point about the meaning of the universe, neither a philosopher nor a greengrocer can fail to understand, this, if nothing else, distinguishes him from other great thinkers. It also helps to fix his place in the analytic movement, since he emphasizes the importance of intelligibility, of fixed points of reference for language, of basing knowledge on something more than internal fumes.

The largest and most imposing figure of modern philosophy is Bertrand Russell. Merely to list the subjects he has thought about, written on, contributed to, would be an immense task He began as a follower of Hegel, abandoned his doctrines to embrace Moore's realism and then gradually relinquished Moore's views as he became more and more interested in analysis He approached philosophy as a mathematician and logician where Moore (having had a linguistic and classical training) came to it "more like a precise philologist with an

extraordinary ear for ordinary language." White gives a succinct summary of Russell's attitude "Instead of thinking of mathematics, physics and common sense as axiomatically untouchable, instead of conceiving philosophy as essentially spectatorial or passive *vis à vis* these more solid parts of knowledge, Russell insists that the philosopher should enter science and participate in the reconstruction of its foundations."

His most signal success in this clean-up job was in demonstrating how mathematics can be derived from logic The task involved, among others, extensions and reformations of logic itself (George Boole, Gottlob Frege and Giuseppe Peano were among the pioneers in this enterprise) and an assault upon certain logical puzzles and paradoxes that had plagued philosophers since antiquity. In the course of his labors Russell made up a few delightful and distressing puzzles of his own, which served to emphasize how badly a reconstruction of logical foundations was necessary. While Russell has little use for the doctrines of such system builders as Bergson or Santayana or Croce, and while he has engaged in a "long polemic" against pragmatism, his own conception of the role and method of philosophy is in some ways linked with both these tendencies. He has insisted that philosophy must meddle in science and other activities as a critic, and must also be an independent discoverer of truth In attempting to reform mathematics and physics, he re-evaluated and redefined the meanings of terms "in a way that is surprisingly pragmatic." A great part of philosophy, says Russell, "can be reduced to something that may be called syntax." Rudolf Carnap, a prominent logical positivist, has urged the theory that all philosophical problems are merely syntactical — whence it follows that when language is properly used, the problems are either solved or shown to be insoluble. Russell regards this as overstatement. Nevertheless he stresses the "very great utility" of the syntactical method An example of its utility involves what is called the theory of description. Phrases, says Russell, "in which a

person or thing is designated not by name but by some property which is supposed or known to be peculiar to him or it" have given a lot of trouble in philosophy. "Suppose I say 'The golden mountain does not exist,' and suppose you ask 'What is it that does not exist?' It would seem that, if I say 'It is the golden mountain,' I am attributing some sort of existence to it. Obviously I am not making the same statement as if I said 'The round square does not exist.' This seemed to imply that the golden mountain is one thing and the round square is another, although neither exists. The theory of description was designed to meet this and other difficulties." By means of the theory, Russell was able to convert descriptive phrases into a form that cut through the existence puzzle. Thus, "The golden mountain does not exist" became "There is no entity c such that 'x is golden and mountainous' is true when x is c, but not otherwise." It is important to point out that such puzzles are in fact more than puzzles — as is so often the case in mathematics and logic — and that their solution, involving as it does the elimination of errors in the use of language, has a profound bearing upon correct reasoning in all branches of thought.

Logical analysis, having sharpened its teeth on these puzzles, turned to chew upon concepts and problems of meaning in relativity theory and quantum mechanics, in psychology and in other sciences. There is, to be sure, less than universal approval of what has been accomplished in these forays into areas outside mathematics and logic, but the essential point is that the followers of logical analysis refuse to be awed by such problems, refuse to believe that there is some "higher" way of knowing. Russell, it should be added, has throughout his enormously productive life concerned himself as fully with the problems of human society — ethics, politics, education and so on — as with the problems of technical philosophy. But he has emphasized the opinion that philosophy is after truth, that it is not concerned with promoting, pursuant to certain

preconceptions, "good behavior" or happiness, and that there are many questions of profound human importance that are either unanswerable or lie outside the province of philosophy.

Rudolf Carnap and Ludwig Wittgenstein are the subject of the two concluding chapters of White's survey. Carnap holds that "philosophy is nothing but the logic *of* science"; and only mathematical and empirical statements are meaningful. A statement about the outside world has to be reducible ultimately to "observable predicates," and has to be "verifiable" by some accepted experimental procedure; a mathematical statement, on the other hand, is, if true at all, a priori true — which is to say, true, independent of experience On the view that mathematics is reducible to logic, mathematical statements are what Wittgenstein called tautologous they assert nothing more than what is asserted in a statement of the type "All spinsters are unmarried." It must not be supposed that the insistence of the logical positivists on precise categories of inquiry, verifiability and the like cuts them off from questions of broad human concern. They are not, for example, indifferent to the study of ethics, but their approach to it is characteristic They do not accept as part of their business norms of action or moral judgments, they are quite willing, however, to accept empirical investigations of the causes and effects of different kinds of human behavior.

Wittgenstein, a strange, lonely, moving figure, represents the extreme of the logical positivist position An almost fanatic apostle of clarity of meaning, he himself uttered dark and aphoristic sayings, as moving, as compelling and often as difficult to fathom as the sayings of Heraclitus. He regarded *all* philosophical statements as meaningless, all metaphysics as a disease. He tried to explain the origins of this disease and how to heal it "The meaning is the use" (which recalls Peirce) was his most famous slogan Others of his well-known aphorisms are "The riddle does not exist If a question can be put at

all, then it *can* also be answered", "whereof one cannot speak, thereof one must be silent" Wittgenstein succeeded to Moore's chair in philosophy at Cambridge. He was much influenced by Russell. Today his own influence is at its height, chiefly as the result of the appearance of his posthumous work *Philosophical Investigations*. Since Wittgenstein regarded philosophy as nonsense, one may ask how he justified his own. The answer is, he didn't. At the end of his celebrated book, the *Tractatus*, he speaks of his propositions as "senseless" but serving the purpose of a ladder The reader, having climbed it and gained a better view, is enjoined to throw the ladder away. Carnap and other logical positivists have felt that this is going too far. They say that Wittgenstein makes sense — an understandable position, since they are his followers.

SCHRÖDINGER–
MIND AND MATTER

HIGH up in the vault of the head, site of the roof brain, the world comes to light. Sensations, perceptions, memories weave their images. In that tiny tenement all experience comes to focus. Is this moving picture a projection of a real world existing outside, or is the picture itself the whole stuff of the world? The question has for centuries engrossed philosophers, scientists, and plain men Those who are called idealists have asserted that the picture is constructed by mind, and that mind is the reality and matter a mere fiction, those who are called materialists have maintained that matter alone exists and that mind is merely one of its properties The meaning of the words "mind" and "matter" has itself of course been a subject of vast debate, but on

one point at least there has usually been agreement. Between mind and matter lies an impassable gulf

The debate continues, and here in Schrödinger's latest volume,* the Tarner Lectures given at Cambridge University in 1956, we have yet another analysis of various aspects of the classical problem It is not a fresh venture for Schrodinger; he trod the same ground in the epilogue to *What Is Life?*, in *Science and Humanism*, in *Nature and the Greeks*. For this restless, exquisitely sensitive thinker the mind-matter question has long had a powerful attraction. He has made his mark in physics, but his eye scans a wider horizon He is absorbed in matters that science in its strict definition cannot answer alone. In his search for meaning — of life and the world — he has not been bound by the traditional methods of science. He has not renounced them, but he has supplemented them. Bertrand Russell wrote in a famous essay that men who have sought to conceive the world as a whole by means of thought have felt the need of both science and mysticism Schrodinger has felt this need, and has tried to harmonize both impulses His book is a gem with many facets, one loses oneself easily peering into its depths.

He begins his lectures by considering the physical basis of consciousness. For this purpose it is convenient to adopt the "hypothesis of the real world." Somewhere behind the eyes resides a thinking, sensing, conscious self. This is "inside." We distinguish also an "outside": an external world that consists, as we imagine, of all that has been and is — shapes, sounds, motion, light, matter. This world, we say, exists; yet existence is obviously not enough to make the world manifest It must communicate itself to us, make itself known. We suppose this is achieved by a complex of signals, which the self interprets. How this is done is essentially a mystery, but we conjecture that certain processes taking place in a certain highly special-

* Erwin Schrodinger, *Mind and Matter*, Cambridge, 1958



Erwin Schrodinger
(P I P photo by Ullstein Verlag)

ized piece of matter known as the brain produce certain peculiar occurrences called consciousness. All this may be nonsense, but it is not barren nonsense.

According to our model, consciousness is associated with material processes that take place in nerve cells and brains It is well established that these biological features, which characterize many different kinds of organism, serve a unique and valuable purpose. The individual possessing such a mechanism can adapt itself, can choose, can respond to changes in surroundings by changes in its behavior. There are, to be sure, organisms such as plants that can adapt themselves in an entirely different fashion, but a nervous system crowned with a brain is not only the most elaborate and ingenious of all adaptive mechanisms, but also confers upon its owner an enormous advantage.

The brain, however, is an accident. It is a special turn of evolution that might never have occurred. Natural selection, as Darwin said, does not necessarily include progressive development, but takes advantage only of variations "beneficial to each creature under its complex relations of life" Are we to assume then that in the absence of that special event consciousness itself would not have arisen, and that the outside world would have remained "a play before empty benches"? Schrodinger finds this a repugnant idea, leading to a "bankruptcy" of the world picture But he is not disposed to embrace the views of Spinoza and others who held that all natural objects, animate or inanimate, possess a soul. The flashing-up of the world into the light of consciousness would thus not be a privilege reserved for the higher animals, for everything would, in a sense, be aware of itself as part of a universal mind.

To extend the domain of consciousness is to court fantasies, but one can follow another path to firmer ground. Not every nervous process, nor even every cerebral process, as Schrödinger points out, is accompanied by consciousness Descartes in a famous passage compared the body to a wound-up clock

whose wheels and weights simply tell the hours by following the laws of nature And "so in like manner [he wrote] I regard the human body as a machine so built and put together of bone, nerve, muscle, vein, blood and skin, that still, although it had no mind, it would not fail to move in all the same ways as at present, since it does not move by the direction of its will, nor consequently by means of the mind, but only by the arrangement of its organs." His doctrine has been modified but not abandoned Mindless motor acts, it is said, constitute a large part of the activities of men and animals We do not think to breathe, to run, to hold a glass, to swallow. The heart beats, fortunately, without its owner's attentions. Reflex actions are recognized in the vertebrate ganglia, and in that part of the nervous system under their control, which regulate and time reactions inside the system. Many reflexive processes pass through the brain that do not fall into consciousness or have very nearly ceased to do so. Schrodinger carries the point further. "Any succession of events," he maintains, in which we take part with sensations, perceptions and possibly with actions "gradually drops out of the domain of consciousness when the same string of events repeats itself in the same way very often." The boy recites the poem he has carefully memorized, and for all he is aware of its content it could be T. S. Eliot or Ogden Nash. A well-rehearsed piano sonata can be played "in one's sleep." We drive to work along a familiar route unseeing and lost in thought. There is a story of a noted mathematician whose wife found him lying in bed, the lights off, shortly after evening guests had gathered in his home What had happened? He had gone to his bedroom to put on a fresh collar. "But the mere action of taking off the old collar had released in the man, deeply entrenched in thought, the string of performances that habitually followed in its wake."

Habit crowds out consciousness. But when something new confronts us, calling for a new response — a detour, say, on

the way to work, when we learn an untried action, listen, observe, explore, feel pain or joy, the signal that prods us intrudes into consciousness. Even breathing may become a subject for thought and deliberate action. Consciousness thus appears in the role of a tutor. It "supervises our education," introduces us to new facts and fresh methods, but leaves us to carry on our tried routines alone. The higher vertebrates, having the mechanism that produces consciousness, learn most easily. Their nervous system is the place, in Schrodinger's words, "where our species is still engaged in phylogenetic transformation, metaphorically speaking it is the 'vegetation top' of our stem. Consciousness is associated with the *learning* of the living substance; its *knowing how* is unconscious." Perhaps, then, consciousness is not an "exclusive property of nervous processes," but is associated "with all organic processes inasmuch as they are new." I am not sure I know what this means, but Spinoza might have welcomed it.

Now comes a diversion typical of Schrodinger. Even without the last generalization, he sees in his theory of consciousness a clue toward a scientific theory of ethics. The background of every ethical code is self-denial, an imperative "thou-shalt-not" opposes our primitive will. Commandments and principles of conduct involve a suppression of "primitive appetites," and our conscious life is necessarily a continued fight against our primitive ego. The organism is ever becoming. Every day of man's life is a small bit of the evolution of the species, as he adapts and transforms himself, and the whole evolution is the epic of a myriad of tiny transformations — "minute chisel blows," as Schrodinger calls them. We ourselves are both chisel and statue, conquerors and conquered. "it is a true continued self-conquering." Are we asked to believe that this evolutionary process — so ponderous and slow, so imperceptible not only to the individual but to entire historical epochs, so much the creature of chance mutations tested by selection — actually penetrates into consciousness? Schrodinger's answer

is an affirmation of faith. It is by learning, by adapting, by solving the problems created by change that we evolve, and in these activities consciousness plays a crucial role Consciousness is a "phenomenon in the zone of evolution. This world lights up to itself only where or only inasmuch as it develops, procreates new forms." It follows that consciousness and self-discord are inseparably linked. Not the man at peace with himself, dozing like a little rabbit in the sun, but the creature of self-strife, is the hope of society The wisest and best men of all times confirm this paradox They suffered to achieve; for them the world was lit in a brilliant light of awareness, and only in this light were they able "to form and transform that work of art which we call humanity."

Lest the reader accuse him of preaching morals instead of expounding science, Schrodinger proffers reassurance "Do not take it," he says, "that I wish to propose the idea of our species developing towards a higher goal as an effective motive to propagate the moral code This it cannot be, since it is an unselfish goal, a disinterested motive and thus, to be accepted, already presupposes virtuousness." No, the "shall" of Kant's imperative remains unexplained, and the ethical law — "Be unselfish!" — is simply a fact, agreed upon even by those who do not very often keep it. Schrodinger regards its puzzling existence as an indication "of our being in the beginning of a biological transformation from an egoistic to an altruistic general attitude, of man being about to become an *animal social*" Egoism is a virtue for the solitary animal. It must be primarily self-interested to survive; in evolutionary terms, self-interest is favored by selection But as communities arise, self-interest must be curtailed, something must be yielded to the commonweal. In certain very ancient societies — of bees, ants, termites — egoism has been entirely relinquished, the state is all that counts, and a kind of ferocious national egoism possesses the citizen ("A worker bee that goes to the wrong hive is murdered without hesitation") In the

history of man one can discern similar developments. Whether or not we began as Hobbesian brutes, we are still "pretty vigorous egoists"; at the same time many of us are intense national egoists Yet it has become apparent to many thoughtful persons that nationalism too is a vice. The individual's longing for peace competes with his patriotism; and perhaps the more primitive (and more rational) form of self-interest will save man from destruction Bluntly: "If we were bees, ants, or Lacedaemonian warriors, to whom personal fear does not exist and cowardice is the most shameful thing in the world, warring would go on forever But luckily we are only men — and cowards" Unfortunately things are not really that simple.

It may occur to you that these views of Schrödinger involve at least a tacit acceptance of Lamarckism For if behavior plays a continuing part in evolution, must there not be an inheritance of acquired characteristics? Schrödinger was long troubled, he tells us, by this question, but he is now satisfied that he has found a way out It consists of the operation of a kind of "feigned Lamarckism," a mechanism suggested by Julian Huxley's treatise on evolution. Lamarck's notion that the improvements or adaptations that an organ acquires through use are transmitted to the offspring is wrong. Chance variations favored by selection are accumulated, or at least accentuated, and this process, easy to describe but of inordinate complexity in its microscopic workings, can be made to account for the gross transformations of species. Yet a striking simulation of Lamarckism occurs, according to Huxley, "when the initial variations that inaugurate the process are not true mutations, not yet of the inheritable type." A specialized skill may lead an animal to change its environment, to migrate to surroundings where this skill is advantageous; thereupon the environment will not only favor those individuals most proficient in the skill but also preferentially select those in whom chance mutations have accentuated the favorable character

Take this example. The ability to fly enables birds to build their nests high up in the trees or on inaccessible cliffs where the young especially are in less danger of being attacked by predators Thus the ability to fly *and the use made of it* confer a selective advantage But now the environment itself takes a hand in smiling upon the better fliers among the young. The behavior of the parents has therefore reinforced and speeded up the process of selective improvement, because when the "right" mutations show up, the individuals possessing them are so situated as to make the best use of them. We must, of course, guard against an animistic interpretation of this process, for it is tempting to lapse into metaphor and say that the species "has found out in which direction its chance in life lies and pursues this path " The fact that certain behavior can be shown to enhance the selective value of certain mutations, to pave the way for the realization of their advantages in a given environment, must not be taken as evidence that this behavior is deliberately adopted for this purpose. To avoid one's enemies if they are stronger, or to seek them out if they are weaker, is doing what comes naturally, without a grand design other than survival in view But it may happen that just this behavior pattern, which is transmitted to offspring by example, will contribute to the selective process described above. The causal mechanism proposed by Lamarck is enormously suggestive, while it is all wrong, it is merely upside down. Behavior does not change physical organs in an inheritable way; rather physical changes resulting from mutations change behavior. This change, transmitted by example or teaching, acts as a significant evolutionary factor "because it throws the door open to receive future inheritable mutations with a prepared readiness to make the best use of them and thus to subject them to intense selection "

On this hypothesis Schrodinger is able to relate the operations of mind and consciousness to biological development. If behavior has biological consequences among plants and

lower animals, where trial and error are apt to govern it, how much more important must it be in man, who can make choices — sensible choices. Political and social events are not thrust upon us; en masse, at least, we cause and control them (though we may often act unwisely). Our biological destiny is no different Nature has not decided it for us in advance. It is possible, to be sure, that man, like the crocodile or the insects, has reached the end of the evolutionary line. Moreover, there is reason to believe we have blocked the Darwinian mechanism in both good and bad directions. We protect the weak, cure the sick, feed the hungry and practice birth control, we also slaughter each other in ever-increasing numbers, and permit millions to die of starvation and disease. Humanity and inhumanity alike interfere with natural selection. Nevertheless there remains to us a very broad opportunity to improve our biological future by cultivating the evolution of the intellect We can hope thereby not only to enlarge our understanding of nature and our control over its forces, but to achieve mastery of ourselves and our destructive impulses as well.

Schrödinger warns of the serious danger of "a general degeneration of our organ of intelligence [because of] the increasing mechanization and 'stupidization' of most manufacturing processes" There is a constant search for talent and a cry for genius, yet the conditions of industrial society promote the rise of the cheerful robot Schrodinger notes the controversy over the "welfare state," which is often accused of stifling incentive by leveling chances and providing everyone with economic security. But care for our present welfare need not undermine our evolutionary future. Next to want, says Schrodinger, boredom has become "the worst scourge" in our lives. Ingenious machines steadily encroach upon arts and skills; entertainment is canned and packaged, the popular image of bliss is to rot in feckless leisure, i.e., to "retire," at the earliest possible age. The machine, says Schrodinger,

"must take over the toil for which man is too good, not man the work for which the machine is too expensive. . . This will not tend to make production cheaper but those who are engaged in it happier." We place high value upon competition, but the competition of commerce and manufacture is as uninteresting as it is biologically worthless. "Our aim should be to reinstate in its place the interesting and intelligent competition of single human beings."

I shall discuss only one other of Schrodinger's themes Two general principles, he contends, form the basis of the scientific method: The first is that nature is comprehensible; the second, that it is possible to "objectify" the world. We are concerned with the second, which the reader will recognize as the "hypothesis of the real world" mentioned earlier.

To make headway in understanding the infinitely intricate problem of nature, we pretend to be able to step out of the world, to become observers. It is clear that this is an artifice, that we are ourselves part of what we are observing, but the device appears to be essential if we are to make sense, let alone science. Yet its illogicality returns to grin at us. With the sentient self removed, we make a tidy model of a system of matter and motion But this model has a grave flaw: it is "colourless, cold, mute," in short, it is not a model of the world at all It is like a diagram of a flower. Having eliminated ourselves in order to get closer to the world, we have managed to lose it Hurriedly we step back into the picture. The result is chaos. Not only is it a picture of ourselves making a picture of ourselves making a picture, but it is full of figments and fictions that came out of our heads. It is a personal world, many features of which cannot be measured and are therefore of no interest to science. My dislike of poached eggs is very real to me. Is it or is it not a proper part of the world picture, and if it is, of whose world picture?

Another difficulty In the hypothesis of the real world, how does mind act upon matter? To make the picture, the self has

been removed But the self is mind, then how can it work upon what it is divorced from? Is this a mere quibble? Only if science and philosophy are themselves a quibble "Physical science," Sir Charles Sherrington wrote, "faces us with the impasse that mind *per se* cannot play the piano — mind *per se* cannot move a finger of a hand " What then does what is done? Is the picture of the world of matter made by matter itself? Is there no direction, no design, no discrimination? It can certainly be argued that there is no such thing as mind, that it is a meaningless concept This leads to one set of antinomies. But if we concede to the concept any meaning whatever, we are enmeshed in other antinomies Mind sits alone in its high perch in a world of shadows. It is a stranger in its own world. In his great book *Man on His Nature* Sherrington epitomizes the dilemma. "Mind, for anything perception can compass, goes therefore in our spatial world more ghostly than a ghost Invisible, intangible, it is a thing not even of outline; it is not a 'thing.' It remains without sensual confirmation and remains without it forever."

Modern science is in a trap, physics is hopelessly ensnared Its bizarre model of the world is admittedly a model of nothing, its parts cannot be pictured; it is held together by contradictions. Time, space, matter, motion — even causality itself — have been thrown on the rubbish heap Limits have been set upon knowledge; the physicists' Eden abounds in forbidden fruits.

All this, in Schrodinger's view, is the result of excluding ourselves from the picture. Whatever science has gained in the past from this "exclusion principle," we are now obliged to assess its consequences. It is too early to say whether science must be made anew, just as it is too early to swallow the fashionable dogma that there are certain properties of an object that cannot be accurately known (If such boundaries to knowledge exist, we have to abandon at least partially the cardinal

principle of the understandability of nature, but we are not yet, Schrodinger feels, forced to this desperate step, because physics may find more plausible models.) It is not too early, however, to criticize the contention, based on recent discoveries in physics, that refined methods of observation have carried us so close to the mysterious boundary between subject and object that the boundary has begun to vanish. Schrödinger's demurrer to this contention is characteristically subtle Many thinkers have, of course, made the point that the observer colors the observation, that what we perceive is not the "thing in itself," to use Kant's term But modern physics goes beyond this in asserting that it is not only our impressions of the outside world that depend on our "sensorium," but the outside world itself that depends upon it and is changed by it. Yet how, asks Schrodinger, can this be? The clumsy finger may tilt the scale, the eyelash may blur the image under the microscope, but how can the subject's mind, the thing that merely senses and thinks, disrupt the physical world? The mind is not matter, nor does it belong to the world's energy. This is the core of the real-world hypothesis, the root of objectivation.

There is, however, another approach to the dilemma. We need not, after all, accept in the first instance the "time-hallowed distinction" between subject and object. It has its practical uses, and in science it serves as an invaluable make-believe; but in philosophy, as Schrodinger believes, it should be abandoned Scientists do not get into trouble when they act upon the distinction in their own field, but rather when they decide to draw portentous epistemological consequences from their unsolved problems This does not mean that the scientist should stick to his last, Schrödinger is scarcely in a position to advocate such self-restraint. But it does mean the physicist must clear his thoughts, must recognize that pragmatic assumptions in one sphere do not necessarily yield valid conclusions in another Let Schrodinger summarize: "It is the same elements

that go to compose my mind and the world. This situation is the same for every mind and its world, in spite of the unfathomable abundance of 'cross-references' between them. The world is given to me only once, not one existing and one perceived. Subject and object are only one. The barrier between them cannot be said to have broken down as a result of recent experience in the physical sciences, for this barrier does not exist."

I do not think it can be said that Schrodinger has made a solid contribution to the science of mind; and it would be useless to pretend that a fine linguistic scalpel, of the sort the analytic philosophers have devised and are so mercilessly skillful in wielding, is needed to slice many of his arguments into bits. He is old-fashioned in some of his views; his concepts are apt to leak and flow into one another; he is sometimes, I regret to say, fervid when it would be better to be clear. And yet he has given us something that stands nobly by itself, that can survive the onslaughts of both scientists and philosophers. What he has written is imbued with values that are as compellingly real as they are hard to define. There is not a trace of superficial cleverness about him. To a fine intelligence he joins a passionate heart. He is not ashamed to be human, though he is never sentimental. That the dilemma of objectivation is his primary concern is a reflection of his whole style and outlook: He puts himself into his ideas, he shares his doubts with us, he pierces us with his reflections. For Schrodinger the importance of the questions of science lies in the fact that they are questions about the nature and meaning of life. Because these questions cannot be answered by science alone, he has turned elsewhere for light. The book of Job tells us that the ways of God are inscrutable; that there are questions we must not ask, things too impious to search out, "too wonderful" for man to know. For Schrodinger, if the question can be put, the answer must be sought. One can read his little essay in a few hours, one will not forget it in a lifetime.

THE SCIENTIFIC ATTITUDE

C. H. WADDINGTON, professor of animal genetics at the University of Edinburgh, is of that small group of scientists — may their tribe increase — who understand the relation between science and society and have a sense of responsibility for social problems that transcends the normally limited outlook of the specialist. They are, in other words, sensible and courageous men as well as scientists. The conjunction of these qualities is rarer than is perhaps commonly supposed; and on this side of the water, especially, as the pressures of conformity mount and the penalties for social and political heresy become severer, the number of scientists at once aware of their time and prepared to defend sane ideas and rational behavior outside the domain of their disciplines grows dangerously small.

Waddington's little book, *The Scientific Attitude*, written for the admirable Pelican series, struck me on its appearance in 1941 as the work of an uncommonly perceptive and stimulating mind Revised and somewhat enlarged, the book has now been reissued* and on rereading it I find my original impres-

* Pelican Books, London

sions reinforced. Because the issues it treats have reached an even more critical stage than in 1941, I should like to discuss a few of its points at some length.

Waddington began his career as a geologist interested in the historical aspects of evolution; later he turned to genetics, where he has attained first rank. He is a fellow of the Royal Society, has published many technical papers and several books, including *Science and Ethics*, and keeps watch over social and political matters no nice biologist ought to worry about. To this essay on the common sense of science, Waddington brings a happy mixture of skepticism, tolerance, scientific insight, friendliness and a practicality gained, at least in part, from his first-hand experience in operational research with the British Air Force during the war. Here, it is plain to see, is a scientist who respects men as well as ideas and has taken thought to both; he is what is certainly exceptional — a scientist with a scientific attitude.

What is the ideal scientific attitude? I would find it not easy to describe, but fortunately Waddington's book makes a good crib. The scientific attitude is, of course, less the product of innate qualities than of education and social influence. Its attributes depend on present circumstances and are neither ubiquitous nor eternal; the scientific attitude suitable to the age of Roger Bacon or to the Balinese is not the scientific attitude appropriate to twentieth-century Western man. It makes demands — and affords rewards — in accord with our cultural heritage. It is unsentimental, unsuperstitious and undogmatic. It pledges no irrational loyalties, is free of the bias of property owners and wears neither school tie nor political badge. It is as distant from the crowd as from the cloister. It is not — the point will come up again — the censor of any faith so long as that faith is not the censor of the normal appetites and reasonable hopes of the mass of men. It is curious, sympathetic, open, tentative and hospitable to change.

It is the friend of freedom and the enemy of its enemies. It is neither cynical nor despairing, nor is it shattered by the un-

expected. It is based on the awareness that men, though at the apex of the Linnaean chart, are animals and not seraphs; it asserts that they have animal needs, which must be met by using the resources of the physical world, and that these needs can be better determined and satisfied by rational scientific methods than by other methods (e.g., that a belief in the efficacy of crossing oneself, or in the virtues of war or nationalism or of a particular economic system, is not among the better ways of satisfying these needs). It is frankly pragmatic, seeking, in Macaulay's words, "not to make men perfect but to make imperfect human beings comfortable." Its yardstick for measuring the "good" in the absence of any other adequate standards is the "general course of evolution."

An irreproachable set of attributes and principles. But can they be applied effectively to politics as well as physics, to social action as well as research, to practice as well as thought? That question presses upon us for reasons familiar enough: because men's ability to order their affairs sensibly has been outstripped by their ability to make machines, because machines, when misused, not only debase and brutalize life but now in truth threaten human survival; because the scientist of our period is often no more than a technician unwilling (and unable) to extend his methods beyond a narrow area, to explain the implications of his discoveries.

Take the last charge. There is, to be sure, a popular notion that "science is and must be ethically neutral," that the scientist should stick to his last. Convention frowns upon the crystallographer concerned with the social function of science, the astronomer who debates foreign policy, the chemist who writes on the social implications of atomic energy, the mathematician interested in Marx, or the physicist who utters opinions on the economy or the arms budget.

Does the scientific attitude endorse this stand and require the scientist not to "meddle," as Hooke cautioned the Royal Society, with "Divinity, Metaphysicks, Moralls, Politicks, Grammar, or Logick . . ."? The question is rhetorical. It re-

quires no elaborate argument to prove that the scientist with the scientific attitude, the responsible scientist, must be a meddler. The tendency to regard the scientist as defiled if he mixes in social and political activities arises from the widespread failure to understand that science lies at the center of the network of human affairs. Since everything science discovers affects man's behavior and brings about changes — slight or profound, immediate or deferred — in his relation to himself, society and the physical world, it is evident that science has ethical consequences and that the notion of a "neutral," passive science is absurd There is no inconsistency between the proposition (which is true) that the scientist at work must not permit his preconceptions and preferences to interfere with an unbiased appraisal, and the proposition (which is equally true) that the scientist has the right, and duty, to express opinions about the social meaning of his results

The responsible scientist is ethically obligated to be unneutral, to direct attention to evils when he sees them, to press for reforms when the results of his research point the need and the proper direction, in sum, to regard his special knowledge not as a disability but as a means to special good. There are those, to be sure, who will argue that the scientist already speaks with an excess of authority and that to broaden this authority further means abandoning our society to the high priests of technocracy, to men who place efficiency above all other human values One way to meet this false charge is to explain the kind of person the scientist is An accurate portrayal will add up to something like this He is neither the Wizard of Oz nor the benign doctor in the baby-food ads, he enjoys normal activities, hobbies, prejudices, political views and a love life, he is as well-fitted as other educated men to play an important part in the evolution of general culture Waddington says:

It is time that scientists became willing to state explicitly that the scientific attitude is as full of passion, as much a function of the

whole man and not merely of an intellectual part of him, as any other approach to human action It differs from them only in what it is trying to do Instead of trying to earn more money, or to improve the condition of the working class, or to create visual beauty, a scientist tries to find how things work The search for causal connections cannot be made merely by refusing to grind axes Scientific imagination and insight do not automatically result when the mind is swept clean of preconceived notions and prejudices, their attainment is a positive achievement and not a merely negative one And because this is true, scientists can and do pass ethical judgment on human behavior, those things which are based on the scientific attitude, or encourage it, are good, those which stultify or deny it are to that extent bad

A crucial testing ground for the broad validity of the scientific attitude is the field of politics Even if there is something profound in politics that, according to the maxim mocked at by Swift, "men of plain honest sense cannot arrive to," science cannot avoid grasping the nettle. Science recognizes, however, that in politics it faces problems more difficult than any that arise in the comparatively orderly world of physical matter. What a trivial exercise, you will agree, to construct a rocket for interstellar travel, compared with the task of explaining the behavior, say, of Jersey City's electorate

What is needed for an improved understanding of political (as well as economic) behavior is a systematic, impartial analysis of society's aims and beliefs. The first step is to discover what people believe, the second, to relate their beliefs to their actions; the third — and the most precarious — to supplant irrational and inconsistent beliefs, from which stem unsuitable actions, by a set of rational and consistent beliefs from which fruitful action may develop. A formidable procedure, yet necessary, if reason is to dispossess outworn standards, false values and conflicting shibboleths

As an example of the "disparate and confusing cultural environment" in which the members of our own society are forced to live, Waddington quotes the social antinomies in the

famous tabulation by Robert Lynd: Individualism is the law of Nature and the "secret of American greatness, and restrictions on individual freedom are un-American and kill initiative" — *but*. "no man should live for himself alone, for people ought to be loyal and stand together and work for common purposes." The family is "sacred" and "our basic institution" — *but*: business is the lifeblood of the nation and all other institutions must conform to its needs. "Religion and the 'finer things of life' are our ultimate values" — *but*: "A man owes it to himself and to his family to make as much money as he can." Honesty is the best policy — *but*. "Business is business, and a business man would be a fool if he didn't cover his hand." Etc.

It is true that contradictory beliefs are held in every society But, Waddington points out, "the contradictions have never appeared so obvious, have never been so much in the forefront of consciousness and caused such mental strain as they do today " It is the peculiar business of science, which by some of its own works has undoubtedly aggravated the strain, to sweep out this mass of rubbish, to help create a biological and social environment in which men will not be forced to run about like laboratory animals in a maze constructed to test their mental breaking point.

Apart from the polygonal assault that the co-ordinated natural and social sciences could make upon the problems of society, the scientific attitude would destroy many of the irrational beliefs underlying social ills Its wide adoption as a creed, the practice of its articles with the same sincerity as we practice those of strange and less reasonable creeds, would lead men, among other things, to assert their individuality, to put forward their own points of view, to distrust authoritarianism, to scorn conformity It would train them to support their social and political views "by reasons which other people can verify," to "accept the judgment of critical experiments" as to whether they have made out their case In daily affairs the scientific attitude, as Waddington emphasizes in one of his

sharpest passages, is the "recognition that one belongs to a community, but a community which requires that one should do one's damnedest to pick holes in its beliefs. I know of no other resolution of the contradiction between freedom and order which is so successful in retaining the full values of both."

What is the relation between the scientific attitude and religion? This is more, as Waddington's essay shows, than an academic question For although it is commonly supposed we live in an irreligious age, and it is true that religion has been thoroughly fragmented and many modern faiths so diluted that even Voltaire could swallow one of their sermons without ill effects, our immediate period has witnessed a remarkable, and in some respects alarming, revival of religion The authority and prestige of science have been invoked to prove that God is present in the laboratory; the overthrow of strict physical determinism, having, it is said, freed us from the prison of predestination, encourages the most extraordinary theological speculations There has also been an abundance of mischievous, politically motivated appeals to orthodoxy in religious as well as social matters, appeals invoking fear and superstition and inviting a headlong retreat from reason.

The scientific attitude recognizes that men hunger for certainty, that in a troubled world particularly they need a secure system of beliefs to which they can turn "If men cannot live on bread alone," wrote Whitehead, "still less can they do so on disinfectants" Any attempt, it is highly probable, to make skepticism and empiricism the basis of an entire society's philosophy must fail. in Russia, for example, the Holy Fathers of the Revolution have become necessary substitutes for the Holy Fathers of the Orthodox Church.

Science is in no position easily or quickly to satisfy this hunger It sees a constantly changing world whose most positive attributes are only expressible in the fractions of probability It would not venture to contradict the philosopher who asserts that the ultimate nature of experience is beyond analy-

sis. It offers no rosy assurances to the living and does not pretend it can improve the condition of the dead. For an unhappy and bewildered man the qualified, nervously circumspect propositions of science are a poor substitute for the eternal truths of religious faith.

Here I should turn aside to point out that the scientific attitude is under further handicaps. Not the least of these stems from the fact that science is itself a kind of faith and thus has to get itself accepted. The faith in science as a means of understanding and controlling nature is not automatically accompanied by a faith in science as "prototype for all human common action." Because men believe in science, i.e., electric blankets or the multiplication table, it does not follow they believe in the scientific attitude toward society. And it is precisely in this sphere that science clashes with some of the opinions of organized religion, particularly those of the more irrational faiths. Thus it comes about that its own ethic requires the scientific attitude to assume the role of a fighting and competing faith.

Yet this is a role for which, partially because of its rationalism, the scientific attitude is peculiarly unfitted. It has no holy wars at its disposal, on crucial issues its methods of inference would be judged by many religions inferior in authority to the procedures of revelation; it cannot, even apart from this challenge, point confidently to the "you must" of logic, since logic, as the mathematical philosophers inform us, is propped on stilts of arbitrary choice, planted in a bog of paradoxes. Nor can the scientific attitude without jeopardizing its integrity accept the fashionable compromise which says "I have faith in reason for some things — those I think I understand — and faith in religion for other things — those I think I do not understand": an eclecticism as commendably complete as that practiced by the celebrated Wilson Mizener, who on his deathbed, it is reported, had a spiritual send-off administered by ministers of at least three different faiths, on the ground that this was no time to take needless risks.

The scientific attitude, we are bound to conclude, has no means of winning adherents other than by the pull of its inherent plausibility and intellectual integrity. Science must make its way by proving not only that it is the source of material progress but also that it is able "to provide mankind with a way of life which is . . . self-consistent and harmonious." The scientific attitude acknowledges the value of moral convictions, which give direction and encouragement to all human activities; of ideals, found in religion and elsewhere, which supplement the contribution of science to human betterment. It must, on the other hand, expose those aspects of religion which maintain its authority by the use of fear, superstition and intolerance, and denounce alike the alliance between reactionary religion and fascism, and the subordination of scientific freedom to the philosophical and political orthodoxy of communism

The charge is often made that science does not impart the warmth, the intimacy and the color of life. For these values one must, Waddington would agree, turn to other activities such as art, literature, poetry, even philosophy Yet for all its cautiousness and "heavy vernacular," science offers its own "thrill of romance " Almost invariably, fundamental scientific discoveries entail the overthrow of cherished, established beliefs. Every major theory — of curved space, of the uncertainty of causal relations, of the quantification of energy, of the particulate nature of inheritance, of the endless continuity of living substance, of the equivalence of mass and energy — warily as it may have been advanced, is more "outrageous" in its implications than the furthest flights of religious or mystical imagination. Science has adventures and fantastications for every taste

Though the scientific attitude considers every dogma to be a source of evil, it cannot fail to notice that the certainty offered by orthodox religion is much less of an "intellectual and moral drug" than the certainties of racism, nationalism, religio-fascism and their kin. These are the wellsprings of tyranny,

sustenance for seekers of power in the social, political and economic spheres. We are familiar also with the critics, for whatever purpose, of centralization, social planning and of every aspect of the welfare state, who, in their arguments, invoke the certainties most destructive of freedom as allegedly the sole means of preserving it Hayek, for example, is typical of the school that urges men to accept social and economic institutions as they are, or at least as they were in the halcyon past, and not to keep questioning and nagging to get at the reason of things. These unsettling practices lead, says the Austrian *Gelehrte*, directly to serfdom.

Science is not easily misled by such hokum. Unquestionably, Waddington says, science is "on the side of democracy", but only a democracy that is prepared to make social experiments and to abide by their results. In such social experiments the scientist's function is to suggest direction and method, while the members of the society judge the results and decide whether the experiment should be continued. This, in a sense, represents the ideal union of science and society

For all its length, my review touches, and then only superficially, on no more than a small fraction of the topics considered by Waddington. I hope, notwithstanding, to have conveyed the taste of a gratifying intellectual experience

"Consider the fact," says the Arch-vicar of the new society in Huxley's *Ape and Essence*, [that] "nobody wants to suffer, wants to be degraded, wants to be maimed or killed. [Yet] at a certain epoch, the overwhelming majority of human beings accepted beliefs and adopted courses of action that could not possibly result in anything but universal suffering, general degradation and wholesale destruction. The only plausible explanation is that they were inspired or possessed by an alien consciousness, a consciousness that willed their undoing." Consider the fact that this is the sort of diagnosis intellectuals of the Huxley-Waugh school are now peddling; you will understand the need for the scientific attitude, and the importance of Waddington's book.

PART 2

CAUSALITY AND CHANCE IN MODERN PHYSICS

"At certain periods in the development of human knowledge, it may be profitable and even essential for generations of scientists to act on a theory which is philosophically quite ridiculous."—C. D. BROAD

IN 1952 the physicist David Bohm published in the *Physical Review* two articles proposing a causal reinterpretation of quantum physics. Louis de Broglie had made the first approach in this direction some twenty-five years earlier, but criticism of his paper in the *Journal de Physique* led him to abandon his theory. Bohm has since revived and enlarged it. He has suggested ways to overcome its major difficulties and has invented certain ingenious argu-

ments and supplementary features. These results have encouraged De Broglie to take up again his original concept. Moreover, one of his younger colleagues, Jean-Pierre Vigier, has collaborated in research with Bohm and together they have achieved a fresh interpretation of the statistical significance of Erwin Schrodinger's famous Ψ function in wave mechanics In short, a small but gifted and determined group of investigators is devoting its efforts to a re-examination of the ruling doctrine of contemporary physics. Re-examination is perhaps too polite a term. The members of this group (which includes other physicists than those mentioned) are profoundly dissatisfied with the prevailing belief, they have a doctrine of their own, which they hope will help to disenthrall the majority In De Broglie's words, the aim is to "rescue quantum physics from the cul de sac where it is at the moment." The struggle is not without drama.

The rebel's case is brilliantly argued in Bohm's book * He begins with a philosophical prologue on cause and chance, which I shall pass over. Though I suspect it is dear to his heart, it is the least convincing section of his brief Not so the historical survey. Following Bohm's lucid recital — the penetrating judgments, the original analysis of the growth of ideas and their interaction — one sees how his interpretation of the history of physics has shaped his theories It is as a historian, more than as a philosopher, that he best explains himself

To understand the problem of causality and chance in modern physics, one must review the status of these notions in classical physics. A few landmarks must suffice. We may regard Newton's laws of motion as the supreme model of mechanistic determinism. These laws imply that, given the initial positions and velocities of the bodies in a system at a given instant of time, and the forces acting upon them, the future behavior of the system is determined and can be predicted for all time.

* David Bohm, *Causality and Chance in Modern Physics*, New York, 1957

In brute experience this is a fairy tale. There are no isolated systems. Our information about positions, velocities and forces is never complete But in planetary astronomy the laws work very well, and there was in Newton's day no reason to suspect that they would not work perfectly both up above and here below

The Marquis de Laplace, it will be recalled, converted this principle of mechanics into a universal principle. Everything in the world, he said, obeys Newton's laws They applied, one might assume, to one's disposition and to the housemaid's knee as well as to a cannon ball and the water in a river. The universe consists of nothing but bodies moving through space. Democritus and Leucippus, the Greek atomists, had had the same idea but lacked the advantage of Newton's insight; his laws, Laplace believed, made it possible to conceive of the world as a machine that is frictionless, can never break down or wear out, and, having once been started, runs on forever in predestinate ways.

In this form the mechanistic philosophy was both a deterrent and a boon to further scientific progress It narrowed and hardened thought (much as the indeterminacy principle does today), it promoted, on the other hand, a more quantitative, unified and dynamic point of view than had before flourished in science

But the path of the mechanists was not smooth for long. Three major advances in physics shook confidence in Laplace's dream The first was electromagnetic field theory As men began to understand electricity and magnetism and strove to formulate the basic laws of these phenomena, it became apparent that the Newtonian scheme needed to be supplemented. Newton's bodies occupied a definite region of space. (In some mysterious fashion, to be sure, their influence vaulted over space and acted at a distance, but the less said of this the better) Electricity and magnetism, however, were incorporeal and could not, like butterflies, be fixed with pins A new ap-

purtenance had therefore to be added to the classic model, namely, electric and magnetic fields. These were defined as continuously distributed throughout space as a whole, and at each point in space at each instant of time the components of the field were assumed to have definite values. Electric and magnetic fields are not independent. a moving charge is a current and produces a magnetic field, a magnet in motion produces an electric field. Moreover, fields act upon bodies. Fields and bodies therefore codetermine each other. To describe the traffic of the universe, a combined set of laws was necessary. Newton's equations of motion, and Clerk Maxwell's equations, which determine the interrelations of field quantities, fields, and the motions of the charged bodies in the system. Mechanism was no longer simple.

Additional abstractions made it terrifyingly intricate. For a time imagination clung to the ether as the vehicle for electromagnetism, the Michelson-Morley experiment extinguished this solace. Since the field appeared to exist quite happily in empty space, carrying energy, momentum and angular momentum, it could simulate some of the properties of moving bodies. Einstein went further; he suggested that special kinds of fields (satisfying nonlinear equations) might exist, "having modes of action in which there would be pulse-like concentrations of fields, which would stick together stably, and would act almost like small moving bodies." It is possible, he thought, that the fundamental particles of physics consist of nothing but such agglutinations.

Mechanism is a fighting faith. It did not succumb to field theory. There had been a miscalculation, certain parameters having been overlooked. But this was not fatal. If the whole of nature could not be reduced to the motions of a few kinds of bodies, it could be reduced to the motions of a few kinds of bodies plus a few kinds of fields. (Or, if one followed Einstein, to a few kinds of fields alone.) Laplace's superman would merely have to include the infinity of variables of the field in

his other calculations. He would then have no difficulty predicting future states. Mechanism is also a supple faith.

The molecular theory of heat and the kinetic theory of gases posed a second challenge by introducing a qualitatively new aspect of the laws of nature. They forced recognition of the fact that what appear to be smooth, predictable events on the macroscopic level are in truth statistical averages of a vast aggregate of irregular, unpredictable events on the microscopic level. The mean pressure, for example, of a gas on the walls of a container depends almost entirely on the general properties (e.g., mean density, mean kinetic energy) of the gas molecules as a group, and is insensitive to the motions and arrangements of the individual molecules. In the small there is an enormous number of irregularities and fluctuations, but on the average these offset each other and cancel out, the result being practically determinate mean values.

It is worth taking a moment to weigh the significance of this development. If we picture the universe as a large Newton-Laplace machine, we imagine any given sequence of motions as causally and mechanically linked. The corollary of this notion is that there is a continuity of the causal chain such that any effect is directly traceable to the events that produce it, however numerous, remote or complex. New factors, however, are introduced by the kinetic theory, which enrich the conceptual structure. For instance, Bohm says, one is justified "in speaking of a *macroscopic level* possessing a set of relatively autonomous qualities and satisfying a set of relatively autonomous relations, which effectively constitute a set of *macroscopic causal laws*" — the laws of thermodynamics and macroscopic physics in general. As illustration, consider the properties of a liquid. It flows, it wets things that it touches, it tends to maintain a certain volume. Its motions satisfy a set of basic hydrodynamic equations whose variables and constants express only large-scale properties such as pressure, temperature, density, velocity and the like. Now, if we are interested

in describing or predicting the behavior of a mass of water, we do not treat it as a crowd of molecules, but as an independent macroscopic entity, following laws appropriate to the macroscopic level. Does this mean that the properties and behavior of the water are independent of those of its molecular constituents? Not at all. But it does mean that the large-scale entity is not only insensitive to individual molecular gyrations, but also has properties peculiar to itself, which the molecules, under certain arrangements, create but do not themselves possess. Bohm offers this example When a liquid has a certain density, the intermolecular forces are in balance. If the density is increased or lowered, repulsive or attractive intermolecular forces manifest themselves, which, in either case, tend to bring the density back to its original value. With the forces in balance, the liquid exhibits a stability of behavior; this stability is characteristic of macroscopic entities and is not an attribute of molecules.

Another point bearing on the mechanistic philosophy is the clarification of the relationship between qualitative and quantitative changes. Take the transformation from gas to liquid to solid In a gas the molecules are in perpetual, chaotic motion. As the temperature is lowered, clusters of molecules begin to form, but they break up almost immediately because the mean kinetic energy is high But as one approaches a certain critical temperature, the clusters build up, on the average, faster than they disintegrate. Small droplets appear and the liquid phase gains the upper hand. Now the substance no longer fills the entire space available to it but occupies a certain characteristic and definite volume. A further drop in temperature is accompanied by an increase in density and viscosity. The atoms start to arrange themselves in regular and periodic lattices, and crystals take shape At first these too have a short life because of the disruptive effects of random thermal motion, but again, around a certain critical temperature, the intermolecular forces achieve the most stable possible configuration, namely, the crystal

lattice, and the liquid becomes a crystalline solid. In this state the substance tends to maintain a fixed shape, to transmit and to polarize light, to exhibit its own special X-ray diffraction pattern.

It is clear, then, as Bohm states, that a series of quantitative changes — in the mean kinetic energy of molecular motion — have produced a series of qualitative changes in the properties of matter Moreover, these new properties are subject to "new kinds of causal factors . . which 'take control' of a certain domain of phenomena, with the result that there appear new laws and even new kinds of laws, which apply in the domain in question."

The third major advance to prompt a re-evaluation of classical mechanism was the introduction of probability and statistics in connection with the analysis of Brownian motion and the formulation of the laws of thermodynamics. The extension of insights embodied in the kinetic theory of gases, and the development of the mathematics of probability, greatly enlarged the understanding of the relationship between small-scale and large-scale phenomena. By a brilliant stratagem a pyramid of knowledge was erected on a platform of ignorance Men accepted the chance character of events on the microscopic level, but chance, as they discovered, has its rhythms and symmetries. Once it was learned how to express them in symbols and to incorporate them into a calculus, it became possible to design reasonably determinate laws for the mean behavior of large aggregates.

"It seems probable to me," Newton wrote in his *Opticks*, "that God in the beginning formed matter in solid, massy, hard, impenetrable, movable particles, so very hard as never to wear or break in pieces, no ordinary power being able to divide what God Himself made *One*, in the first creation." So long as this belief persisted, the mechanistic philosophy was enormously persuasive, indeed, it had no reason to fear a com-

petitor. Even after confidence in it had been eroded by the nineteenth-century advances in physics, ingenious arguments were found to support the mechanistic creed. Admitting that the particles of matter are neither solid, massy, hard, nor impenetrable, that atoms are not the basic building blocks, and that every time a new particle is discovered it turns out to be a changeling, it is still reasonable to suppose that a fundamental law rules the universe. From this law it will be possible to deduce the properties of hyperons, atoms, molecules and everyday matter.

Yet suspicion grew that mechanism was coming to the end of the line. The classic causal laws leaked like a sieve. Every attempt to formulate a precise description of behavior at a given level was disturbed by apparently random events at the level below. There was no known case of a causal law that was completely free from dependence on "contingencies introduced from outside the context of the law in question." Moreover, even if such a law could be imagined, the problem would arise "of reciprocal relationships between levels and between qualitative and quantitative laws."

At the beginning of the twentieth century a new theory was advanced to escape this dilemma. "Indeterminate mechanism," as Bohm calls it, represented a momentous concession. For the first time the notion was entertained of an element of "absolute arbitrariness and lawlessness" entering into physical events. It was possible still to picture the universe as a great machine, but it was a machine more like an "idealized roulette wheel" than a perfect watch. It was the very nature of the wheel to be unpredictable in individual results, yet on the average to yield quite regular distributions. In studying natural phenomena one might expect at every level to encounter irregularities and chance fluctuations. The farther one probed, the more one might learn of causes and motions, but at bottom was an irreducible arbitrariness. This did not, of course, extend to statistical aggregates and thus was science rescued

from logical bankruptcy To seek a fundamental, purely quantitative law that described the working of the universe remained a reasonable objective, but the law when found would necessarily be probabilistic and not deterministic.

It is interesting to observe how one dogma was advanced to replace another Deterministic mechanism held that chance was merely the name of ignorance, that all was ruled by iron laws and iron linkages; that once these were fully known, statistics would no more be needed to explain the universe than to help a man ascertain how much money he has in his pocket. Indeterministic mechanism (as developed by the late Richard von Mises, and supported by the proponents of the usual interpretation of the quantum theory) held that all determinate laws are nothing more than "approximate and purely passive reflections of the probabilistic relationships associated with the laws of chance"; and that individual processes and events in the atomic domain are "completely lawless." The second dogma is even more unconvincing than the first. Mechanism of the first kind has no experimental basis, as a philosophic assumption, however, it is not at odds with the scientific spirit. Mechanism of the second kind also has no experimental basis, but as a philosophy it lies somewhere between a *credo quia absurdum* and a firm belief in industrious angels.

The quantum theory, says Bohm, was the first example in physics of "an essentially statistical theory." It did not assume that very small things obey the laws of classical mechanics, to which statistical considerations are applied for practical reasons Instead, it restricted itself entirely to statistical predictions, "without even raising the question as to what might be the laws of the individual systems that entered into the statistical aggregates treated in the theory"

And now physics took the final step in breaking with the past. Heisenberg's indeterminacy principle can be interpreted as a flat denial of causality in the atomic domain It does not

merely state that the causal links at this level are beyond man's power of detection; it clearly implies that the links do not exist. This was Heisenberg's own inference from his principle, an inference to which the majority of physicists subscribed. As to indeterminacy, three points are worth mentioning. The first is that Heisenberg's hand was strengthened by a theorem of the late John von Neumann, published in 1932. This theorem appeared to furnish a mathematical proof that it is impossible to conceive of a distribution of motions of "hidden" parameters that would account for the behavior of an individual system at the atomic level; which is to say that, even if information about a system could be got without disturbing it by measurement, precise predictions about its future could not be made. The second point is that the usual interpretation of the quantum theory forsook the concept of continuity of motion, as well as causality. (This, by the way, offered a roundabout solution of Zeno's puzzles.) The third point is that Niels Bohr introduced his principle of complementarity to preserve the logic of physics from ruin. The indeterminacy principle had ostensibly ruled out precisely definable conceptual models, Bohr proposed as a substitute the use of complementary pairs of imprecisely defined concepts. position and momentum, wave and particle, and so on.

That indeterminacy is at the heart of things is a view for which a number of distinguished physicists, including Albert Einstein and Max Planck, felt no sympathy De Broglie and Bohm share this skepticism and are in fact convinced that there are serious flaws in the reasoning underlying the prevailing conclusions. Ernst Cassirer, in his excellent book *Determinism and Indeterminism in Modern Physics*, rejected the idea that indeterminacy dooms causality; Bohm goes a good deal farther.

It may be, he says, that while the quantum theory, and with it the indeterminacy principle, are valid as high-degree approximations in a certain domain, "they both cease to have relevance in new domains below that in which the current

theory is applicable." Accordingly, one must try to construct a new model incorporating a "sub-quantum mechanical level." If, with the help of such a model, all the phenomena can be explained that quantum mechanics explains, and, in addition, phenomena can be explained that quantum mechanics is unable to explain, a momentous break-through will have been achieved. It is to this hypothetical structure that he has turned his mind.

His main argument runs something like this. Assume a lower basement of the physical world, not yet discovered, assume, further, that hitherto "hidden variables" are at work in this basement. We may then conjecture that the statistical character of the quantum theory arises from random fluctuations of new kinds of entities existing at the lower level. Indeterminacy will in that case be a necessary attribute of phenomena at the quantum-mechanical level, simply because the motion of the entities that can be defined at that level alone are determined by factors (hidden variables) that cannot be so defined.

Does the indeterminacy principle, as such, rule out the possibility of a sub-quantum-mechanical level as merely an "empty metaphysical speculation"? No, says Bohm; for the principle has "nothing whatever to say about the precision that might be obtained in measurements that utilize physical processes taking place at a lower level." Is there any reason to believe in the existence of such processes? Bohm suggests they may be found in the domain of very high energies and of very short distances. This is the very domain in which quantum mechanics has exhibited serious shortcomings as a tool of investigation, thus leading to a "crisis" in microscopic physics. What of Von Neumann's theorem, which can be interpreted to mean that a lower level is theoretically impossible? Here the refutation is directed to what Bohm regards as a defective assumption, namely, that in specifying the state of a system, one cannot dispense with the aid of "observables" that satisfy

certain rules of the quantum theory. From this Von Neumann went on to prove that no possible set of hidden variables would help describe the system more precisely than the current formulation of the quantum theory. But the assumption, according to Bohm, begs the question; for if a sub-quantum-mechanical level exists, it is not unreasonable to suppose that the entire scheme of "indispensable" observables is inappropriate to this level and must be replaced by something very different. And with the observables go the infirmities peculiar to the quantum theory.

Imagine the following model. Connected with each "fundamental" particle of physics is "a body existing in a small region of space." The body can be conceived as a mathematical point. Inseparably associated with the body is a wave, assumed to be an oscillation in a new kind of field. The field is represented by Schrödinger's Ψ function, which now suddenly comes to life and, instead of being a mere symbol for the calculation of probabilities, represents something as real as the electromagnetic and gravitational fields. Between the Ψ field and the body there is interaction: the field exerts a "new kind" of quantum-mechanical force on the body, which is noticeable at the atomic level but not above it; and the body exerts a smaller but definite influence on the field. The nature of the field force is undefined, except that its tendency is to pull the body into regions where the value of the field is largest. There is, however, a resistance to this tendency, consisting of random motions of the body (analogous to Brownian motions). A possible source of these motions is random fluctuations in the field itself. (Electromagnetic fields, for example, undergo similar irregular oscillations.) One may suppose that the fluctuations are associated with properties of the field at a *sub-quantum-mechanical level*, or arise from interaction with entities existing at this lower level. On this hypothesis, there are two forces at work; the fluctuations that cause the body to wander at random over the whole space accessible to it; and

the quantum-force that pulls the body to where the field is most intense The result is a "mean distribution in a statistical ensemble of bodies," corresponding to Max Born's probability distribution. But notice that instead of accepting the distribution, as does Born, as an absolute and inexplicable property of matter, one can interpret it as the effect of sub-quantum-mechanical-level random motions.

Bohm claims that the model yields results consistent with all the essential results of quantum theory Take the business of wave-particle duality. A famous example from quantum theory shows that when electrons pass through a pair of slits and fall upon a screen, an interference pattern is formed, as well as a series of discrete dots Moreover, the closing of one of the slits appears mysteriously to influence even the particles that pass through the other. The cause of this anomaly is a forbidden subject in the usual interpretation. But the new model yields an explanation. The interference pattern is produced by the waves associated with the electron. The small body connected with the electron undergoes random motion and follows an irregular path. But a large number of these bodies passing through the slit system produce a statistical pattern of dots at the screen, whose density is proportional to the field intensity. The "quantum-force," in other words, accounts for the concentration, and the random motions (of lower-level origin) for the irregularity, of the array of particle images. And the enigmatic closing effect is assumed to mean that closing one slit influences the "quantum-force" acting on the particle as it moves between the slit system and the screen.

Bohm considers certain of the criticisms of this model related to problems of electron spin, the theory of relativity, and the basic implausibility of the postulated interaction of wave and particle He gives an account of the modifications that have been introduced to meet the criticisms. In particular he describes the dovetailing of the model with quantum field

theory, and the support that the latter offers to the central hypothesis In all he says, Bohm is appropriately tentative. His weapon against dogmatism is open-mindedness. But, as he points out, it is not enough to expose the weaknesses of current theories, a fresh theory is needed to disturb complacent slumber. If he should succeed in rousing his colleagues, he can expect a formidable assault on his views. Sleepers do not like to be awakened. There is no doubt he can take care of himself.

A final word on his philosophic opinions. Bohm's basic notion is that nature is "qualitatively infinite." This means that the qualities that man has encountered in experience thus far in no sense limit or even foreshadow what he can expect to encounter as he continues to probe, to vary his methods, to flex his imagination. One detects in Bohm's views the strands of many older philosophies — from those of the pre-Socratics to Henri Bergson. The more creative physicists have in recent years cultivated philosophy. They are usually disinclined to admit to this weakness, having in mind David Hume's abjuration to commit to the flames all works of metaphysics as mere sophistry and illusion But there is no escape, even if it be only to embrace antiphilosophic philosophies. For the physicist has come to realize that if he throws philosophy in the fire, his own subject goes along with it. In this century the professional philosophers have let the physicists get away with murder. It is a safe bet that no other group of scientists could have passed off and gained acceptance for such extraordinary principles as complementarity, nor succeeded in elevating indeterminacy to a universal law. Bohm's challenging book perhaps marks the beginning of a retreat from high-flown obscurantism and a return to common sense in science. I use "common sense" as William Kingdon Clifford used it: science without priestly pretensions or dogmas

DETERMINISM AND INDETERMINISM

"In asking what we mean by this [cause] we have entered upon an appalling task. The word represented by 'cause' has sixty-four meanings in Plato and forty-eight in Aristotle. These were men who liked to know as near as might be what they meant, but how many meanings it has had in the writings of the myriads of people who have not tried to know what they mean by it will, I hope, never be counted." —From *On the Aims and Instruments of Scientific Thought*, by William Kingdon Clifford

THE "appalling task" has not grown lighter. Clifford's words were spoken to the members of the British Association in 1872; now, eighty-nine years later, neither scientists nor philosophers are in closer agreement

among themselves as to the meaning of cause. Is it a hypothesis? A principle? A law? An indispensable crutch of thought? A mere fashion of speaking? How is causality related to determinism? Has modern physics, in undermining the latter notion, subverted the former? The word "cause," said Bertrand Russell, is so inextricably bound up with misleading associations "as to make its complete extrusion from the philosophical vocabulary desirable" A drastic measure, and even if it were justified, one could not expect it to be adopted overnight. Meanwhile thoughtful men continue to revolve the question, for it is held to be crucial not only by philosophers and psychologists but also by those who work at the extreme boundaries of physical science — the theorists concerned with the behavior of very small things and those concerned with the structure of the universe as a whole

The late Ernst Cassirer reflected on the subject for many years. His philosophic interests were wide and varied. He gained distinction by his writings on Leibniz, Kant, epistemology, symbolic forms, the role of myth in political theory. His best known work, *Substance and Function*, published in 1910, dealt with the philosophy of the exact sciences, and it is to this department, in which he had been thoroughly trained and to which the whole style of his thinking was inclined, that he returned in *Determinism and Indeterminism in Modern Physics*, first published in Sweden in 1936 (It was in that country that he found asylum from the new German order; in 1941 he came to the United States and taught successively at Yale and Columbia. He died in 1945) It appears now in an excellent English translation by O T Benfey of Earlham College, Indiana, with a preface by Prof Henry Margenau of Yale *

One might suppose the essay to be out of date Physical

* Ernst Cassirer, *Determinism and Indeterminism in Modern Physics*, New Haven, 1956

science has moved rapidly in the last two decades, and while the problem of this inquiry has agitated thought since antiquity, it has not been as shaken up in the preceding twenty-five centuries as in the first half of ours But as Margenau points out, Cassirer's views have not been passed by. For some years we have been living off scientific capital. It consists of the grand theories of Max Planck and Einstein, of the brilliant insights of the 1920s, among them Schrodinger's equation, the uncertainty principle and quantum mechanics. The spectacular advances of nuclear fission, newly discovered particles, new phenomena and facts, are to a large extent the fruits of earlier speculations, a "vast proliferation of the methodological resources contained in the creation of the quantum theory."

Cassirer followed and fully understood the revolution in physics; moreover, his appraisal of its implications was ahead of the day. Some contemporary commentators wrung their hands in despair, some attempted to cover up the cracks in the old foundation with a mortar of words It was common opinion among physicists that the uncertainty principle imposed fringe limits on very refined measurements, injected certain uncontrollable errors into experiment, but did not force a profound re-evaluation of the meaning of reality. In some quarters the discomfiture of physics was an occasion for jubilation, for with the supposed downfall of determinism free will was restored, and the human spirit no longer had to be regarded as a trolley running in predestinate grooves. Cassirer shared none of these moods, subscribed to none of these opinions. Too much fuss, he felt, was being raised over a rather narrow interpretation of causality, and too little attention given to the conceptual changes that the uncertainty principle required It made no sense to try to save the classical models by adding curlicues. Such concessions merely invite other concessions It was no use pretending that everything in physics was as tidy as before except in certain special regions where the broom would not quite fit into the corners. Nothing short of a reform

of the concepts of "physical system" and "physical state" was called for This would show the directions that physics should take, the way to distinguish between meaningful and meaningless questions, the limits inherent in its methods; at the same time it would demonstrate that causal descriptions, as most philosophers have thought of them, can be retained. To Cassirer's mind the new theories of physics promised not chaos but a renaissance.

Cassirer's book surveys the evolution of the notion of cause. He begins with a discussion of the "Laplacean Spirit," which has played an important if not a decisive role in the controversies about causality. Laplace's famous dictum, which appears in his introduction to the *Théorie analytique des probabilités*, asserts that an "all-embracing spirit," which knew all about the universe at a given instant, could by mathematical analysis discover everything that had happened in the past and everything that would happen in the future. For Laplace this was "an effective metaphor" serving to contrast the concepts of probability and certainty. But the underlying theme was gradually transformed into a broad principle of far-reaching significance in the evolution of physical thought

It was not a new theme. It was in fact the "pregnant summary" of that world view from which sprang the great philosophical systems of the seventeenth century, the systems of classical rationalism.

> That everything is brought forth through an established destiny [wrote Gottfried Wilhelm Leibniz] is just as certain as that three times three is nine For destiny consists in this, that everything is interconnected as in a chain and will as infallibly happen before it happens, as it infallibly happened when it happened Mathematics . . can elucidate such things very nicely, for everything in nature is, as it were, laid off in number, measure and weight or force. If, for example, one sphere meets another sphere in free space and if

their sizes and their paths and directions before collision are known, we can then foretell and calculate how they will rebound and what course they will take after the impact From this one sees then that everything proceeds mathematically — that is, infallibly — in the whole wide world, so that if someone could have a sufficient insight into the inner parts of things, and in addition had remembrance and intelligence enough to consider all the circumstances and to take them into account, he would be a prophet and would see the future in the present as in a mirror

The clever fellow with the synoptic eye had not yet been born, nor was he likely to be Still, he embodied an ideal for science as well as philosophy One might say that if all men were virtuous there would be eternal peace, and though one recognized that all men were not virtuous, and would never be, still the cause of peace would be furthered by encouraging virtue. Similarly, one accepted the view that the universe is a machine, and if its workings could be grasped completely, past and future would be open; and though one recognized that a complete understanding of the universe is impossible, by extending and improving observation one could hope to learn the exact laws of phenomena, the principles by which everything is caused and determined.

It must not be supposed that this formula satisfied the majority of philosophers. Among those who attacked it, especially its treatment of causality, were David Hume and Immanuel Kant Hume's skepticism led him not only to reject a substantial material world, but to question causality as a universal principle of physics. Our knowledge of the outside world, he said, consists entirely of sensations We see a moving billiard ball collide with another at rest; the second ball is set into motion, we conclude that the motion of the second ball was *caused* by the first In truth we know nothing of the actual forces at work; all we know is that there is a regularity in the behavior of our cognitive powers The causal idea emerges

from the fact that imagination and understanding "cannot escape the constraint of association and the force of habit"

Kant also rejected the notion that cause is a simple relation between things But he departed from Hume in refusing to deprive the causal notion of any other than a psychological base. The mind is orderly, to be sure; but we must not assume that this orderliness prevails only inside the head. There is a constancy in "outer" occurrences, a lawfulness in nature, to which the orderliness of "inner" occurrences is related. "If," said Kant, "cinnabar were sometimes red, sometimes black, sometimes light, sometimes heavy . . . my empirical imagination would never find opportunity when representing red color to bring to mind heavy cinnabar."

The criticisms of Hume and Kant shed a good deal of light on the notions of cause and determinism Clarification on these matters was a high service to the methodology of physics. What philosophers say is not invariably interesting or essential to physicists. Galileo's and Newton's discoveries, Boyle's and Coulomb's laws and Maxwell's equations needed no metaphysical midwife to be born But the more elaborate the structure of physics, the more numerous its observations, statements, laws and theories, the deeper the search for unifying principles. This attempt to interpret larger and larger chunks of the world compels physicists to become philosophers and invites philosophers into physics In the nineteenth century this coalescence of what are in many respects quite distinct ways of thinking is plainly visible.

Field theories of electricity and magnetism forced a radical re-evaluation of the older substance-theory of matter Statistics introduced into science a new method and a new instrument of description. Thermodynamics led to an important transformation in the world view of physics "in the formal as well as in the material sense" It was no longer possible to rest on a simple "contact" theory of causation There were philosophers who had rejected this notion long ago; now physicists had to

abandon it. Nature was not to be entirely explained in terms of hard objects bumping into each other. The existence of hard objects was doubtful, and even if they existed they appeared to bump into each other from a distance. The concept of continuity was in danger, the jurisdiction of dynamic laws was curtailed; the causal principle itself became the subject of irreverent debate.

Ernst Mach put his finger on an important point, related to the views of Hume and Kant. However one may define the causal principle, he said, it is certainly not a natural law in the usual sense of the words. There is no cause and effect in nature as such "for nature is present only once, and those same events to which we refer when we say that under the same circumstances the same consequences occur do not exist in nature but only in our schematic reproduction of it." Helmholtz expressed himself along similar lines. The framework of physical thought is the principle of orderliness according to law in phenomena. This is the "first product of the conceptual grasp of nature"; cause can be understood and justified only in this sense. Ordinary language uses the notion of cause in a confused way for antecedent or condition: if A regularly precedes B, then A is cause; and likewise, if B never occurs unless A occurs. But orderliness is a much broader and more general concept, and though we cannot be certain a priori that it pervades every corner of the universe, it is an indispensible regulative principle of thought, the only guide to inquiry. If every atom differed from every other, if no regularity were perceivable, "our intellectual activity would necessarily come to rest." The investigator must have faith in a kindlier nature (God, said Einstein, is not malicious). He must give heed, according to Helmholtz, to only one counsel: "Trust the inadequate and act on it; then it will become a fact."

We may ask how statistical laws fit into this philosophical view. In classical physics a distinction was made between dynamic and statistical laws. It was a Leibnizian distinction:

the two modes of description were contrasted as "determined" and "undetermined." The behavior of a falling body, described by the laws of motion, was determined; the behavior of a gas, described by the laws of statistical mechanics, was undetermined. What did this distinction mean? For one thing, of course, it implied that some laws were "exact," while others were mere approximations. The fact that observations of instances of dynamic laws never yielded exact results in the mathematical sense was not felt to be a blemish. The apple that fell on Newton's head obeyed his laws exactly; if experimental evidence as to its path and rate of fall exhibited minor variations, this was the experimenter's fault and not due to imperfections in the dynamic laws of motion Statistical laws, on the other hand, were a makeshift, the best that the physicist confronted with horrendous aggregates could achieve. This did not mean that the individual molecules of a gas do not obey the laws of classical mechanics; it meant that in dealing with a horde of them it was feasible only to treat them statistically

There was, however, an even more significant aspect to the distinction between "determined" and "undetermined" descriptions. The formulas of Leibniz and Laplace made predictability the criterion of causality. If events are causally connected in a chain, they are determined, since they are determined, they are, at least theoretically, predictable. The laws of motion made possible the prediction of the path of a moving body; in statistical laws, however, the linkages were vague, and one could only prophesy what was probable or likely. But unless it were assumed that *all* phenomena are governed by dynamic laws (though the difficulties of observation made it necessary in some cases to describe what happened statistically), there would in certain parts of nature be a failure of the causal principle. This could not be permitted. Therefore it followed that statistical laws could not be regarded as a complementary method of description, equally as valid as dy-

namic laws, but only as an ingenious and somewhat inferior substitute for them

Helmholtz saw more deeply into the problem. His definition of causality was not tied to predictability. He did not belittle the importance of prediction in pure science, in technical mastery of nature, in everyday life. Yet it seemed sheer anthropomorphism to insist that unpredictable events lay outside the causal relation It might well be there were phenomena that would forever elude exact description, which could be encompassed only by statistical law, but this could not be taken to mean that such phenomena stand above the orderliness of the universe. Max Planck, writing on causality fifty years later, was even more explicit. No doubt, he said, an event is to be regarded as causally determined if it can be predicted with certainty. But this simple definition is inadequate. For although predictability is an infallible criterion for the presence of a causal nexus, we must not infer that predictability is *equivalent* to causality. He pointed out that "even in classical physics it is not possible in a single instance really to predict a physical event accurately." Thus, if predictability is adopted as the strict criterion for causality, we are confronted with the fiasco of being forever unable to verify causality in a single concrete instance.

From this dilemma there is no escape unless we are prepared to define causality as a proposition concerning cognitions, not things and events. In Cassirer's words: "we must think of causality as a guide-line which leads us from cognition to cognition and thus only indirectly from event to event, a proposition which allows us to reduce individual statements to general and universal ones and to represent the former by the latter Understood in this sense, every genuine causal proposition, every natural law, contains not so much a prediction of future events as a promise of future cognitions."

Nothing that has happened in twentieth-century physics,

says Cassirer, weakens this interpretation of causality. More than half his book is devoted to it.

Though it effected fundamental transformations of the concepts of time and space, the theory of relativity could be assimilated into the classical mode of thought; not so the quantum theory. It exploded the notion of continuity, it created a special body of laws for small things, inapplicable to large things; it dethroned determinacy and made randomness king; it made philosophers take to their beds and physicists flee to shelter. The quantum theory, as Planck aptly remarked, is a "dangerous foreign explosive which has caused a gaping rift throughout the entire structure [of classical physics]."

We start with Planck's assumption, the result of an attempt to explain on thermodynamic principles electrodynamic phenomena and the laws of emission and absorption of light and heat radiations. He introduced the hypothesis of the elementary quantum of action, and the assumption "that the interchange of energy between oscillators takes place only in integral multiples of a definite quantity ε." At this point a sharp break was made with the basic tenet of classical theory, that the energy of a wave spreads continuously in space. Einstein introduced the concept of the light quantum; Niels Bohr carried the theory further and made it the basis of behavior of his model of the atom. The tentative assumption became a theory, the theory a principle; "totally different and apparently heterogeneous groups of phenomena" were brought together under it. A new world picture came into focus

But the climax was still to come. It arose in the development of the specialized mathematical method for handling the theory — quantum mechanics The quantum theory envisaged light possessing a dual nature: in some respects it behaved like a wave, in others like a particle. This dualism explained brilliantly many features of the atom, but also gave rise to inconsistencies. In the 1920s, beginning with the work of Louis de Broglie, reforms were instituted to eliminate these inconsisten-

cies. The suggestion was made that matter, like light, is both particle and wave, and quantum mechanics was invented as a tool to handle the broadened theory. Erwin Schrodinger took the approach of wave mechanics, Werner Heisenberg that of matrix mechanics. The mathematical differences between these methods do not here concern us; it need only be observed that elements of both theories were combined by P. A. M Dirac into a new mathematical form, which is the basis of modern quantum mechanics

Now, quantum mechanics is a statistical discipline. It presents no exact description of an individual particle and makes no exact prediction of its behavior. However, it can make very accurate predictions as to large aggregates of particles, and can show certain correspondences between quantum and classical mechanics For example, Heisenberg conceived a matrix that corresponds to the momentum or energy of electrons, and combined the matrices according to laws "in the same way the corresponding quantities in classical mechanics are combined by the equations of motion." Quantum mechanics thus has been able to incorporate the laws that were the foundation of classical mechanics.

And yet, as must be evident, the methods of quantum mechanics represent a profound change in outlook, a change that was crystallized by Heisenberg's principle of indeterminacy, enunciated in 1927 All statements in physics, he said, are relative to the means of observation used This limitation can be disregarded when one experiments with things of ordinary size, but it is decisive in the realm of the very small, just as a grain of sand will not clog the gears of a cement mixer but becomes disastrous in the gears of a watch. Since we are dependent on instruments, there is a limit "not only to our experimental technique but also to the formulation of physical concepts." For a concept not to be "empty or ambiguous," there must be a way of validating it by experiment.

Suppose we speak of the position of an electron The elec-

tron is not in heaven, nor is the concept of "position" an ideal We must indicate how position is to be determined. Imagine illuminating the electron under an ultramicroscope. We may accept the fact that the shorter the wave length of the light, the more precise will be the determination of position. Unfortunately, however, the shorter the wave length, the more massive the "Compton effect," according to which the light hits the electron and changes its momentum. Therefore it is "basically impossible to measure simultaneously the position and velocity of an electron with any desired accuracy." If we increase the accuracy of one measurement, we decrease the accuracy of the other. "If we designate the uncertainty in the measurement of position as Δx and that in the measurement of momentum as Δmv, then the product of these quantities can never be reduced below a certain value which is of the order of magnitude of the elementary quantum of action."

What are the implications of the uncertainty principle? Does it constitute a denial of causality? Heisenberg said yes. Since there are limits to the accuracy of measurement, there are limits to the predictability of the path of a particle. In his words· "In the precise formulation of the causal law. 'If we have exact knowledge of the present, we can determine the future' not the consequence but the antecedent is wrong. As a matter of principle, we cannot come to know the present in all its determinative factors. . Since all experiments are subject to the laws of quantum mechanics (and thus to the equation $\Delta x \Delta mv \geqq h$) the invalidity of the causal law is definitely established by quantum mechanics."

Many physicists share this opinion Some, including Einstein, profess to see in the statistical nature of quantum mechanics a "transitional stage," a "halfway scheme" that needs to be, and perhaps can be supplemented to encompass individual events. Cassirer took a different view. He felt that quantum mechanics is an "ultimate sort of discipline," not perfect, yet representing the finest-meshed net we can hope to

throw about physical reality. But he vigorously rejected the idea that acceptance of the uncertainty principle entails the abandonment of causality. Heisenberg's demonstration is leveled, in Cassirer's opinion, against an interpretation of causality that is subject "to grave theoretical faults, even without considering the uncertainty relations." Taking Helmholtz's refined formulation of causality as independent of predictability, he reasoned that uncertainty is not fatal to the causal principle. Indeed, quantum mechanics itself could not exist without making use of "pure and typical causal principles," namely, the classical laws of conservation of energy and momentum.

We must not ask of the notion of cause more than it can give, and we must not misapply it. Planck once pointed out that whether a physical quantity is "observable in principle" or whether a given question is meaningful in physics are not matters to be decided *a priori*. It depends entirely on the theory we adopt, for the theory shapes our instruments, our methods, our interpretations. We are not simply cameras or mirrors. It may be we can still save the notion of a line of demarcation between the observer and the thing observed; but, if so, at the line itself there is an uncertainty, an uncontrollable ripple, one might say, produced by the interaction of the seer and the seen. The new physics disenchants us as to the firmness and fixedness of substance. "We no longer have absolute, completely determined entities, from which we can immediately read off the laws and to which we can attach them as their attributes." The content of our empirical knowledge consists of no more than the "totality of observations which we group together in definite orders . . . and which we can represent by theoretical laws." Quantum mechanics does not deal with things whose laws we seek to discover; instead, from observation we constitute the things. Atomic physics deals "with the nature and structure not of atoms but of the events which we perceive when observing the atom."

It is against this background that one must view the sur-

vival of the causal principle It can be united with diverse conceptual schemes, but each amalgamation must be effected with care; causality is not a shoehorn that fits every shoe. Cassirer reminds us that causality has had many trials in the history of physics. It was thought to be endangered, for example, when physical thought relinquished the notion of spatial contiguity as the essential condition of cause and effect. When Newton introduced "action at a distance," there was widespread fear that the attempts to explain nature would collapse because of the "occult" qualities ascribed to gravitation. But the causal principle endured; and the exertions to preserve it have deepened our insight.

We now understand that there are in physics, as in other spheres of thought, unaskable, which is to say, meaningless, questions. (e.g , What is the location of an electron when it jumps from one orbit in the atom to another? Is the orbit of its destination already determined at the instant of departure? What happens to radiation if the process is interrupted before the emission of one quantum is completed?) Many intuitively obvious notions have turned out to be untenable, such as that a material corpuscle has an individual identity. What all this means is that some situations "are not empirically definable for us." Nature is much queerer than we can suppose. It does not mean, however, that nature is capricious or that causality is dead. "What quantum mechanics does," said Dirac, "is to try to formulate the underlying laws in such a way that one can determine from them without ambiguity what will happen under any given experimental conditions. It would be useless and meaningless to go more deeply into the relations between waves and particles than is required for this purpose." This is in fact all that the causal principle requires. So long as observable events can be described with precision in mathematical language, the postulate of the "comprehensibility of nature," which the causal principle contains, is fulfilled.

There can be no talk of a final verdict De Broglie and

David Bohm have attempted what is called a "causal interpretation of the quantum theory", the Harvard physicist R. P. Feynman has proposed a theory of quantum electrodynamics in which time flows "backwards", and Max Born and the late Hans Reichenbach have offered new approaches But it is my impression that most physicists and philosophers are today a little weary of the causality scandal, at least they seem to feel that until another break-through is made, further discussion is not apt to be very fruitful. Cassirer's interpretation now enjoys, as Margenau remarks, greater popularity than when it was first propounded. I am surprised to find that he overlooks entirely the analysis of causality made by William Kingdon Clifford in the 1870s — even more forward-looking than Helmholtz's. And there are certainly weaknesses and unresolved points in the present treatise, examples of jiggery-pokery and paradoxing, which critics will have no difficulty sticking their knives and needles into. But I have no hesitation in recommending this work of a sensitive, sure thinker Cassirer's study is spacious, subtle and insightful. He has laid out in clear perspective one of the most complex and vexing questions of thought

REASON AND CHANCE IN SCIENTIFIC DISCOVERY

THE WORLD rewards discovery. The first man to climb a mountain or discover a planet, a cure or a natural law is a hero. It is not always certain, to be sure, that the discoverer made the discovery. In the realm of ideas especially, the true inventors are apt to be unknown. Everything of importance, Alfred North Whitehead observed, has been said before by somebody who did not discover it. But the hunger for heroes is as great as the hunger for scapegoats; and as some innocent men are hanged lest murder go unpunished, some undeserving men are rewarded lest discovery remain anonymous.

Scientific discovery is a subject of lively interest. Almost everyone is curious about the events leading up to a new drug or mechanical contrivance. Who thought of it? What gave him

the idea? And so on. The circumstances are embroidered and dramatized, they grow into legends. "Suddenly Edison perceived . . ." "Pasteur happened to glance at the cage and all at once he realized . . ." Lately this harmless subject has attracted the notice of politicians. They pursue it more heavily. How, they demand to know, are inventions made? What shall we feed our children to make more Einsteins? Lincoln suggested his generals might profit from drinking the same whiskey as Grant, statesmen will subsidize any diet that promises a crop of Bohrs.

Are there special factors that stimulate invention? Various eminent scientists have divulged their working secrets. One must "think aside," said Claude Bernard. Creativity, said the chemist J. Teeple, is promoted by two warm baths in succession. Others have suggested black coffee, the study of dreams, long walks, a vegetable diet. The pattern is not altogether clear. We must look elsewhere.

It is not generally appreciated that science is a creative activity closely resembling other creative activities. For some reason science is thought to be a special case. No systematic effort is made to discover Rembrandt's formula; no one supposes that the origins of Mozart's inventions can be laid bare. How does their case differ from Newton's or Fermat's? Cultural historians examine the general conditions of creativity — social circumstances, contemporary thought and so on — but they are not concerned with minute analyses of invention. (John Livingston Lowes's masterly detective story about the genesis of Coleridge's poems "The Ancient Mariner" and "Kubla Khan" is almost unique.) It is rightly assumed to be too difficult to trace the intricate weave of creative endeavor in the arts. We readily accept the fact that we cannot explain the genesis of Beethoven's Fifth Symphony, is it easier to explain the genesis of Kepler's laws?

There is a common notion that scientific discovery is sudden, like stumbling upon a treasure. The story of Archimedes

running naked from the baths shouting "Eureka!" is the archetype of discovery legends The truth is, scientific discoveries are never sudden Ideas have ancestors, ideas come in families. The culmination of a family of ideas is, of course, easily identified. Here is Gregor Mendel's paper of such and such date, here is the first edition of *Madame Bovary.* But what led to this result? How many generations of thought? What traditions? What errors and false starts? What part was played by chance, reason, experience? We are scarcely better able to answer these questions for the laws of genetics than for Flaubert's masterpiece

Still, there is a strong urge to try. René Taton's little book, published in Paris in 1955 and later translated (at times quite awkwardly) into English, is the most recent attempt along these lines.* It has the merit of being a modest work There have, he points out, been many studies concerned with the origins, conditions and character of scientific discovery The authors of these studies have striven for general conclusions, but Taton considers this "dangerous territory." Instead, he has restricted himself to "a description of the different realms of scientific discovery, its principal factors and its essential aspects, with examples drawn from the various fields." As an unpretentious catalogue, with some interesting entries, his book is useful It helps us to understand how subtle and many-sided is the process of discovery and how inadequate are the pronouncements purporting to schematize it.

Of the different forms of scientific creativity, mathematical invention has had perhaps the most serious attention French scientists, in particular, have concentrated on the subject In 1905 in *L'Intermédiaire des Mathématiciens* the question was raised: Do "mathematical dreams" promote the solution of problems "vaguely studied" in the waking state? The replies were not enlightening. Most of the correspondents had enjoyed

* René Taton, *Reason and Chance in Scientific Discovery,* New York, 1957

neither algebraic nor geometric dreams; the few who were so fortunate emphasized that a solution appeared at the very moment of waking A much more ambitious enquiry was undertaken by *L'Enseignement mathématique*. Elaborate questionnaires were sent out, and the answers were carefully analyzed by a group of mathematicians and psychologists. Unfortunately the majority of first-rate mathematicians who received questionnaires were unwilling to take the time to reply in detail, and the bulk of the answers came from less gifted research workers Still, it would be interesting to know what they said, although Taton doesn't tell us.

In 1908 Henri Poincaré gave his famous lecture "L'Invention mathématique." This essay, read to the General Institute of Psychology of Paris, is so well known that I scarcely feel the need for an extended comment Poincaré speaks of the nature of mathematical aptitude. It cannot, in his view, be reduced to a fine memory or extraordinary powers of concentration Mathematicians, he says, are rarely good calculators or strong chess players. He confesses that he himself is incapable of doing a sum without making a mistake; and over the chess board, after examining the various possible consequences of several moves, he would end by making the very first move that had occurred to him, forgetting that its obvious dangers had led him to reject it and to enter upon his calculations In place of memory, the mathematician relies upon a certain "intuition." With this to preside over his thoughts, to carry him along, he need not be concerned over mislaying bits and pieces of the argument. They will reappear when needed, and meanwhile the forward march of the demonstration will be guided by the "intuition of a mathematical order which enables [him] to guess the hidden harmonies and relations."

There follows his definition of mathematical discovery: "What, in fact, is mathematical discovery? It does not consist in making new combinations with mathematical entities already known That can be done by anyone and the combina-

tions that could be so formed would be infinite in number and the greater part of them would be absolutely devoid of interest. Discovery consists precisely in not constructing useless combinations but in constructing those that are useful, which are an infinitely small minority Discovery is discernment, selection."

This is a celebrated definition, but I see no reason to celebrate it It is not trenchant; it does not light up the dark It says that discovery is hard, originality rare, and a clever man can tell a good thing when he sees it

Nor does the rest of the essay — though it is a vivid and wonderful fragment of autobiography — carry us much farther along. We have Poincaré's dramatic account of how he discovered the Fuchsian functions ("As I put my foot on the step, the idea came to me", "As I was walking on the cliff, the idea came to me," etc), which ascribes inspiration to the working of the unconscious. After days of apparently unfruitful work, and periods of rest, "the unconscious arranges the results of previous periods of work of which the conscious mind is no longer aware." Under the influence of "some aesthetic sensibility" the break-through is made, thereafter, "the mind must implement the inspiration, deduce and order its immediate consequences, arrange a proof, and above all verify the results " Does this explanation get to the heart of anything?

Other mathematicians have even less to reveal It has always seemed to me that Jacques Hadamard's much-praised *Essay on the Psychology of Invention in the Mathematical Field* is a tedious book, filled with platitudes and irrelevancies Error, he tells us, plays a part in some discoveries He also says that there are different kinds of mathematical aptitude, that there are intuitive and logical minds, that precision, "mental order" and "mental pictures" are useful, that some mathematicians look for applications of their theories or are spurred by physical problems, while others are indifferent in this regard.

There is no discernible pattern in the history of mathematical invention, at least none shown by Hadamard.

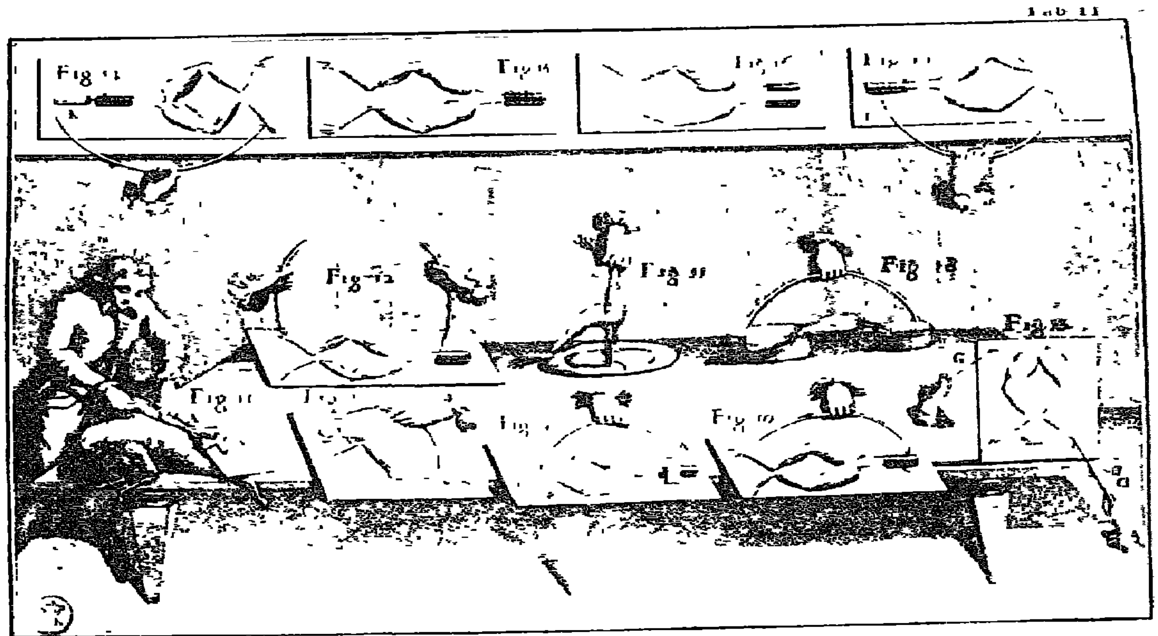
Suppose we take another tack. Is it easier to identify the conditions of discovery in the experimental sciences than in mathematics or other theoretical discourses? Claude Bernard described the stages in the making of a scientific discovery: the scientist discovers a fact; an idea connected with this fact suggests itself; this leads to further experiments, new phenomena appear, and so forth. Bernard was a great biologist, but this pronouncement is insipid.

It cannot be denied that there have been many systematic discoveries. In such cases it has often happened that the problem itself was plain, that no sudden illuminations were required to indicate a fruitful path of inquiry. The right instruments, ingenious method, thorough analysis, systematic exploitation of previous work — each contributed to the successful result. An excellent example is the discovery of the planets Uranus, Neptune and Pluto.

Five planets visible without instruments were known since antiquity. The invention of the telescope in the seventeenth century immediately enlarged the picture of the solar system. Galileo identified the satellites of Jupiter, and a few decades later Huygens discovered Titan, the largest satellite of Saturn. More than a century passed, however, before the list of planets was augmented. In 1781, with the help of a powerful new telescope that he had constructed, William Herschel methodically swept the different regions of the sky. Near the constellation of Gemini he noticed what he first supposed to be a comet. But on the basis of calculations by Laplace, Bochart de Saron, Joseph de Lalande and others, Herschel came to realize that he had found a new planet whose orbit lay beyond Saturn's. The path of this planet — now called Uranus — proved to be very hard to predict. Despite repeated observations and considerable improvement in computational meth-

ods, prediction did not agree with reality. Alexis Bouvard therefore advanced the hypothesis that a still unknown planet perturbed the motion of Uranus. Other astronomers were skeptical: it seemed indecent to keep jiggling and rearranging the order of the universe. But in time the hypothesis was accepted.

The next step was to try to confirm it. Several attempts were made, but they involved such complex calculations that the interested astronomers gave up before making substantial headway. In 1841, however, John Couch Adams, a twenty-two-year-old student of St. John's College, Cambridge, tackled and solved this enormously difficult problem. On the basis of refined observations of Uranus, he was able to make a much closer estimate than had yet been achieved of the mass, position and trajectory of the hypothetical planet. Eager with his news, he called upon the director of Greenwich Observatory. There ensued a tragicomedy. It was not permitted to disturb the director, Sir George Airy, at his dinner, so Adams was obliged to leave his card and a summary for the great man to peruse at his leisure. When Airy got around to the task, he was not impressed with the result and did little to follow up. Meanwhile, a young French astronomer, Urbain Leverrier, had — quite independently of Adams — described the location of the new trans-Uranian planet. The data Leverrier had to rely on were highly inaccurate. He had to construct the orbit of the as yet unseen planet from its effect on the motion of Uranus, and this effect was of an order of magnitude "never greater than that of the errors of observation." Yet such was his virtuosity — and boldness — in carrying out this involved and delicate calculation that he was able to send a remarkably accurate set of directions for finding the planet to the German astronomer Johann Galle. Galle received the letter at his observatory in Berlin on December 23, 1846; that very evening he discovered the planet we now call Neptune only fifty-two seconds of arc away from the position Leverrier



One of the plates from Galvani's work on animal electricity, De Viribus Electricitatis, *Utinae, 1792, plate II The different pictures illustrate some of Galvani's explanations of the effects of discharges from electric condensers (Leyden jars) on the nerves of frogs and other animals Although Galvani failed to interpret the phenomenon correctly, his work enabled Volta to make the major discovery of the electric cell (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

had suggested. "The planet of which you have given the position," Galle wrote him, "really exists."

In announcing his discovery to the Academy of Sciences, Leverrier expressed the hope that continued observation of Neptune would lead to the discovery of another planet more distant from the sun, and this in turn would afford a basis for further discoveries. This expectation had partial confirmation The American astronomers Percival Lowell and E. C Pickering, building on the work of Adams and Leverrier, and with the help of powerful and sensitive modern instruments (notably the blink microscope), succeeded in forecasting the position of Pluto. Thus a sequence of plainly linked discoveries stretches from the seventeenth century to the present day. Each has its special features, yet common to all is patient and methodical research. There are no flashes of genius, no sudden inspirations, but the discoveries are on that account neither less dramatic nor less important

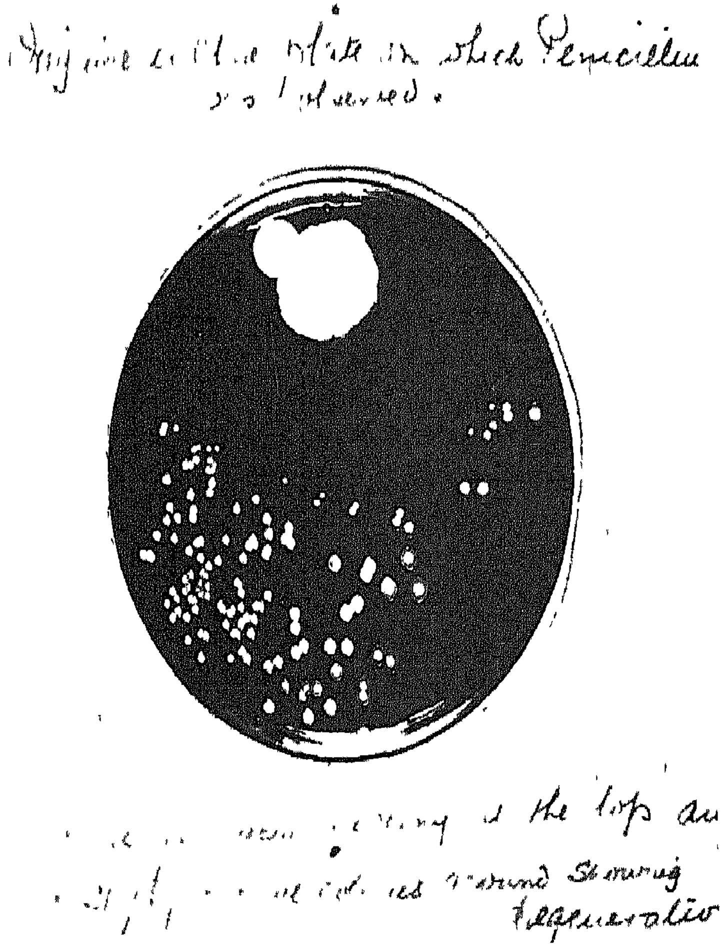
Chance "happeneth to all," but rarely with profit. Luigi Galvani observed the twitching of a frog's leg when an electric spark was produced in the neighborhood of his specimen. In this curiously indirect fashion was discovered the electric current But Galvani, though he repeated the experiment in different ways, interpreted it incorrectly, and it was Alessandro Volta who gave an explanation that led to his invention in 1800 of the voltaic battery. Galvani, in other words, had the scientific imagination not to disregard what he saw, though he could not fathom its meaning; and Volta, a gifted physicist, followed up the observation and transformed it into scientific knowledge.

Another accidental discovery was made by the French mathematician Étienne Malus, who, while looking from his house at the sunlit windows of the Luxembourg Palace through a double-refracting crystal of Iceland spar, observed to his surprise that when he turned the crystal about its axis, each of

the two images would vanish in turn He realized that the phenomenon was somehow connected with the reflection of light by the windows, and from this inference deduced the theory of polarization by reflection. (The phenomenon was not fully explained until some years later, when Augustin Fresnel and Thomas Young broached their theory of the transverse nature of light waves) Taton points out that Malus's fortuitous observation "could not have fallen on a mind better prepared to draw the consequences." Undoubtedly the phenomenon had been observed before, but it took a physicist interested in geometrical optics to appreciate its significance.

Alexander Fleming's discovery of penicillin makes an intriguing story. One day in September 1928, while studying mutation in some colonies of staphylococci, he noticed that a Petri dish had been contaminated by a microorganism from the air outside This was not an uncommon accident, but Fleming was unwilling to dismiss it. On examining the contaminated dish in greater detail, he found that a fungus had attacked the staphylococci and had made a large region of them transparent. He concluded at once that an antibacterial substance produced by the fungi had destroyed the staphylococci Now, it is important to recall that fifty years earlier John Tyndall, Louis Pasteur and Jules Joubert had made similar observations, but their discoveries (e.g , the air, Tyndall wrote to Huxley, contains bacteria germs "in myriads"), while contributing to the foundations of modern bacteriology, lay relatively unattended for years Fleming's great advance consisted of a brilliant demonstration of the selective properties of the substance secreted by the fungus and of its action on different species of bacteria

These results were published in a classic paper, which appeared only eight months after his initial observations The reception it got was restrained; physicians are not a conspicuously imaginative breed. It is true that Fleming himself did not fully realize the power of the substance he had discovered

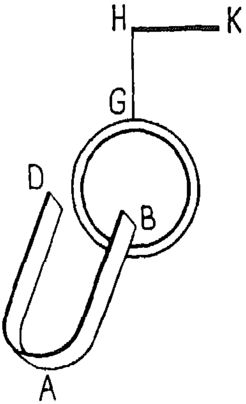


The original plate containing the culture in which Sir Alexander Fleming discovered the antibiotic action of penicillin A large colony of Penicillium *can be seen in the upper part of the preparation The surrounding colonies of staphylococci show obvious signs of degeneration (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

and its potentially revolutionary consequences. It took several years of concentrated laboratory work by various bacteriologists and biochemists to master the difficulties of preparing even small quantities of a pure and stable substance incorporating the active principle of penicillin. Finally, as a by-product of the outbreak of the Second World War, the developmental phase was brought to a successful climax. Urgent medical needs led to a massive assault by teams of United States and British scientists and technicians on the problems of large-scale industrial manufacture of the new antibiotic.

For the student of scientific discovery, these circumstances comprise a most illuminating case history. Consider how many elements had to be brought together a number of precursor experiments by physicists and chemists; an accident caused by inadequate precautions in the laboratory; a talented and perceptive biologist who insisted on worrying an apparently unimportant phenomenon until he had shaken loose its meaning; a follow-up multidisciplinary program of research, the support of industry and government; lavish public expenditures. All these elements went into the complex process of "the discovery of penicillin."

Some discoveries are forgotten for many years (Gregor Mendel's famous researches in heredity are the most obvious example), some are narrowly missed. The little less, as Browning wrote, is "worlds away." Henri Poincaré and Hendrik Lorentz, among others, "approached" the theory of relativity but lacked, in Taton's words, "the courage to make their thoughts explicit." Louis de Broglie ascribes Poincaré's failure to the fact he was a pure mathematician with a "somewhat skeptical attitude towards physical theories." In his view such theories were not "true" but merely "convenient." He was therefore loath to plump for this or that physical model, since any number of others logically equivalent to it were

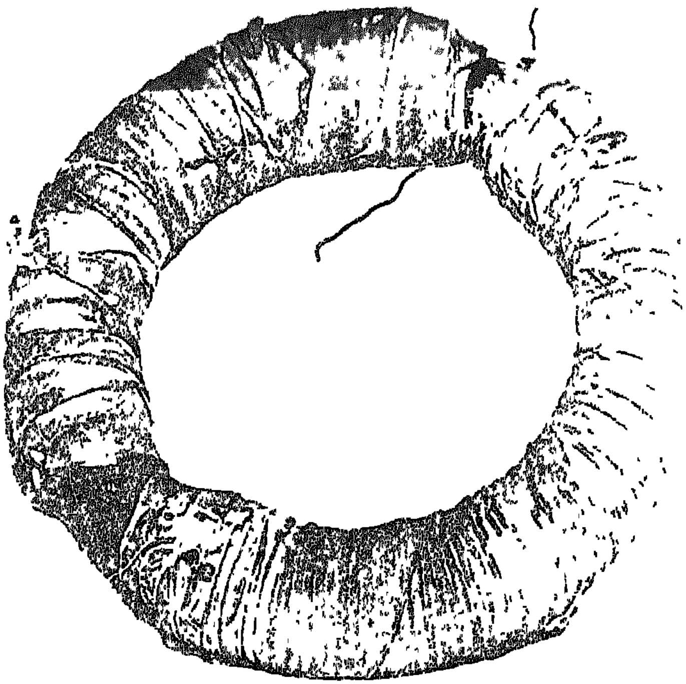


Sketch of apparatus with which Ampère "missed" the discovery of induction (From Correspondance du Grand Ampère, *Volume Two, page 761)*

equally valid. Einstein's great achievement is, of course, in no way diminished by these circumstances

Blaise Pascal in his studies of the roulette problem invented a method which opened the way for Leibnitz's invention of the infinitesimal calculus, but Pascal himself regarded his method as no more than an aid to calculation. He had fame enough

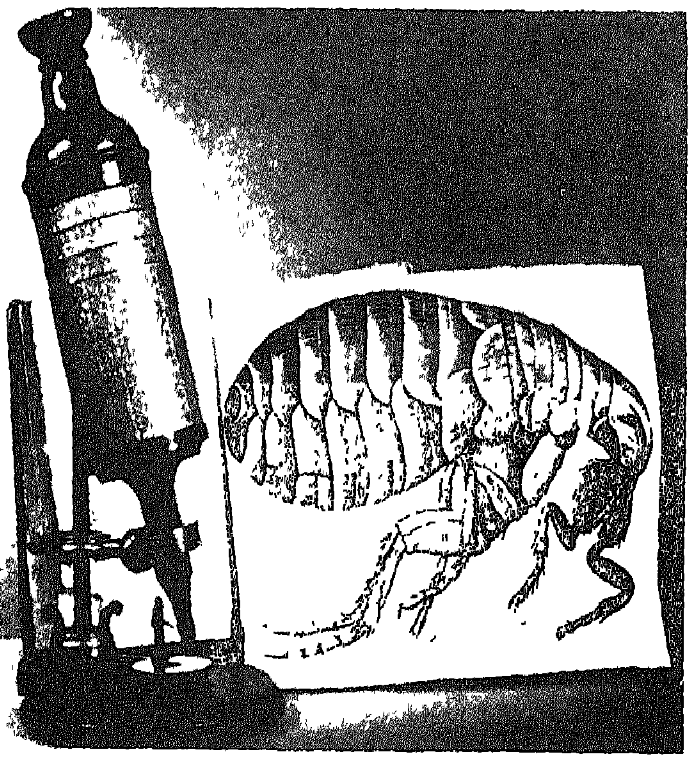
We come now to André Marie Ampère's strange failure to discover induction. Hans Christian Oersted's famous experiments in 1819 had shown the magnetic effects of an electric current Physicists at once began to search for a reciprocal phenomenon — the electrical effects of a magnet. The first attempts to demonstrate induction failed, for they were based on the mistaken notion that if a magnet were merely placed close to a wire, something interesting would happen A magnet at rest relative to a conductor produces no current; indeed, if this were not so, the principle of conservation of energy would fail. It remained for Michael Faraday a decade later to show that, for a current to flow, magnet and wire have to be in relative motion; the accepted explanation is that the current depends on the cutting of the magnetic lines of force



Soft iron ring, used by Faraday in his discovery of Electromagnetic Induction on August 29, 1831 One of the two wires surrounding the core is connected to a battery, the other to a simple galvanometer consisting of a copper wire running over a magnetized needle On making the primary circuit, the needle is sharply deflected to return to its original position after some oscillations The needle is also deflected when the circuit is broken. The deflections are due to the fact that a current is induced in the secondary winding whenever there is a change of current in the primary circuit Despite its primitive nature, this apparatus led to a discovery the importance of which can hardly be overestimated (From René Taton, Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*



Detail in a plate by Francesco Stelluti (1577–1640), from the Apiarum *of Federico Cesi (1585–1630) This work contains the oldest-known drawings seen through a microscope (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

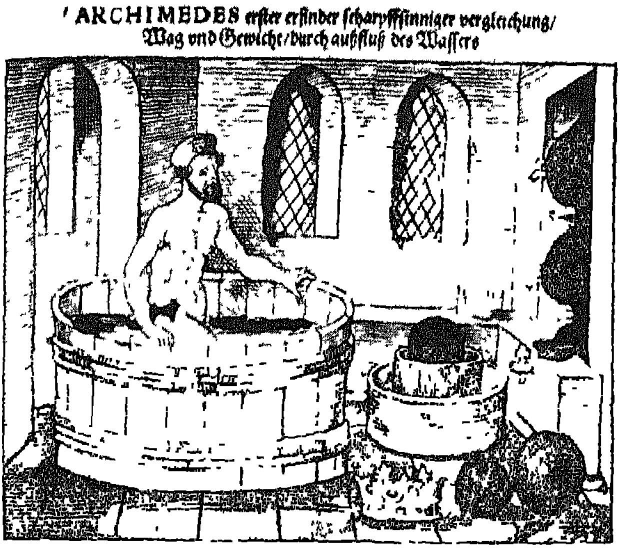


Model of Robert Hooke's microscope in front of his Micrographia *(London, 1655), opened at plate XXXIV, a drawing of the flea The body of Hooke's microscope was made up of four cardboard tubes fitting into one another. The objective, a biconvex lens of very small focal length, was held in an externally threaded wooden holder by means of a very small diaphragm The apparatus was focused by turning the thread in a ring attached to the support. The eyepiece, consisting of a planoconvex and a small biconvex lens, was mounted on another wooden holder, fitting over the first of the cardboard tubes Magnification was of the order of X 30*

The Micrographia *is a beautiful folio, containing 60 microscopic and three telescopic drawings The drawing of the flea is very clear, and the caption reads "The strength and beauty of this small creature, had it no other relation at all to man, would deserve a description" (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

Meanwhile, in the course of other experiments with a different purpose, various instances of induction came into view, but no one recognized them. One of these experiments was performed by Ampère and his friend Auguste de la Rive. A ring made of a thin strip of copper was suspended by a silk thread over a coil of wire wound parallel to the ring. The ring was then placed in the field of a powerful permanent magnet. When a current was set up in the coil, the ring was displaced, when the current was shut off, the ring returned to its original position. What did this mean? The copper ring was a conductor, the turning on and off of the current in the coil produced a magnetic flux, which induced a current in the ring, causing it to move in its magnetic field. This was no surprise to Ampère, who had already demonstrated the attractions and repulsions produced by magnetic forces between adjacent wires carrying currents in opposite directions. But while he recognized what he called the "production of currents by influence" (i.e., induction), the essential idea of relative motion as a necessary condition eluded his understanding. He simply inferred that since the ring remained in a displaced position while the current flowed in the primary circuit (the coil), the induced current in the ring kept flowing during the same period; and when the primary current ceased, the ring went back to its original position because the induced current ceased. Because of this erroneous inference Ampère missed the discovery of electromagnetic induction.

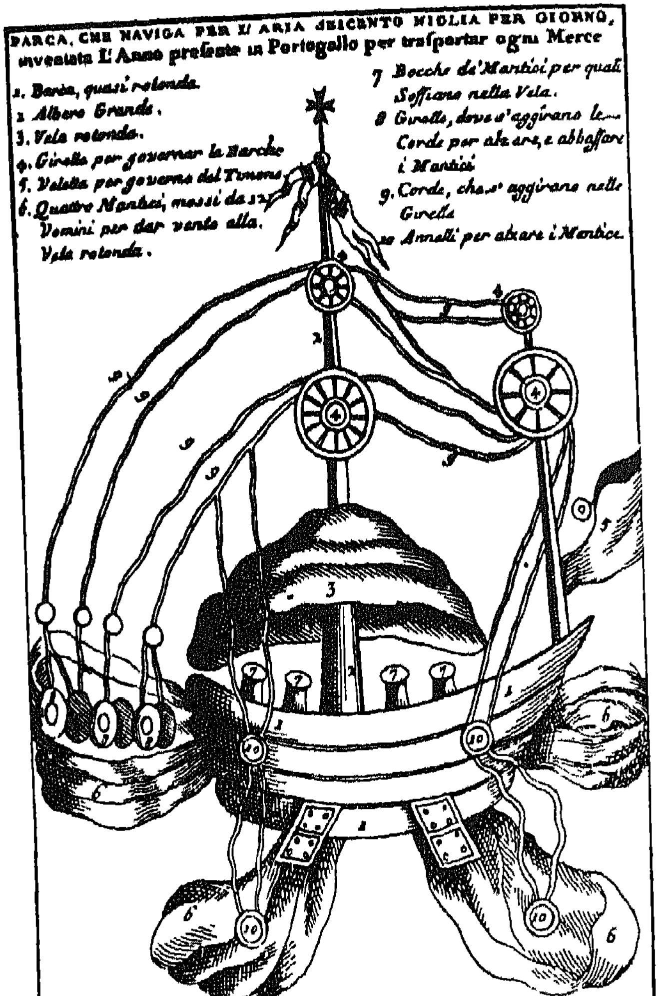
When Faraday announced his own achievement, Ampère reproached himself for having failed to draw the logical consequences of his work. Having, with De la Rive, been the first to obtain a current by induction, he neglected to exploit this epochal feat. Why? His explanation is only partially convincing. "I assure you," he wrote Faraday in 1833, "that at the time I never once tried to find out in which sense a current is produced by induction. I had but one aim in making these experiments, and by taking a look at what I published at the



A sixteenth-century etching, illustrating Plutarch's account of Archimedes' discovery of the law of the upthrust of liquids Near Archimedes' bathtub can be seen Hieron's famous crown, and also other objects used in hydrostatics (spheres of different diameters, tanks with taps at different levels, etc). This etching is from Der furnembsten notwendigsten der gantzen Architektur angehorigen mathematischen und mechanischen Kunst, *W H. Ryff, Nuremburg, 1547. (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

time, where I described the apparatus that I used, you will see that I was only concerned with solving the question whether electric currents are due to magnetic attraction and repulsion present before magnetization in the molecules of iron, steel and two other metals, in a state which does not allow them to exercise any action outside, or whether they are produced at the moment of magnetization by the influence of neighboring currents."

That Faraday succeeded where not only Ampère but many others failed is a typical puzzle of scientific discovery Taton does not pretend to pierce it



Fantastic design of a "flying boat," attributed to the Portuguese inventor Lourenço de Gusmão This rare Italian etching, dating from about 1710, is taken from La Machine Volante de Gusmão, d'après une figure comique, *by J Duhem* (Thales, *volume three, 1936, pages 55–67) "A boat, travelling through the air at 600 miles per day, invented this year in Portugal for transporting any kind of merchandise whatsoever (1)Boat, almost round, (2)*

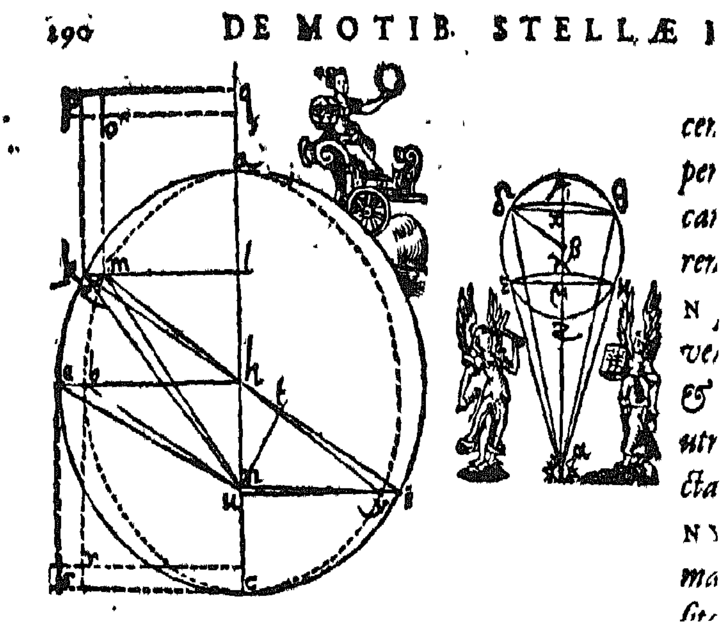


Figure from Kepler's Astronomia nova de motibus Stellae Martis, *Prague, 1609, page 290, where he gives his proof of the ellipticity of the trajectory of Mars The very clear and convincing drawings are surrounded by allegorical figures (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

Top-mast, (3) Round sail, (4) Pulleys for controlling boat, (5) Small sail controlling rudder, (6) Four bellows for blowing into round sail, operated by ten men, (7) Vents through which the bellows blow air, (8) Pulleys with halyards for raising and lowering the bellows, (9) Halyards, (10) Rings for raising bellows" (From René Taton, Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

The serious student's outlook on the subject has undoubtedly become more mature The realization is growing that science, like other creative work, is strongly influenced by social, economic and political circumstances, that the general style of contemporary thought in religion, philosophy and other spheres profoundly affects scientific thought. Indeed, it may be said that these notions are already commonplace But the nature of the relationships is only dimly perceived and requires much study. It is also increasingly recognized that the acquisition of knowledge is a co-operative task. This does not mean, I should emphasize, that the best research has to be expensive or that progress in tackling complex problems is assured when everyone gets into the act. It is still possible to make important discoveries in the head, and even to make them in one head.

Some years ago Lord Rutherford concluded a lecture on "The Development of the Theory of Atomic Structure" with these words:

> I have tried to give you a general idea of the way in which we started to investigate these matters forty years ago, and of the way in which the ideas have developed stage by stage I have also tried to show you that it is not in the nature of things for any one man to make a sudden violent discovery, science goes step by step, and every man depends on the work of his predecessors When you hear of a sudden unexpected discovery — a bolt from the blue as it were — you can always be sure that it has grown up by the influence of one man on another, and it is this mutual influence which makes the enormous possibility of scientific advance Scientists are not dependent on the ideas of a single man, but on the combined wisdom of thousands of men, all thinking the same problem, and each doing his little bit to add to the great structure of knowledge which is gradually being erected.

PART 3

1

BLACKSTONE FOR THE PROLETARIAT

ANDREI VYSHINSKY'S *The Law of the Soviet State** is a large, serious tome of such diverse content that it bears some resemblance to Mrs. Murphy's famous chowder, even to the unmistakable presence of a pair of toiler's overalls. Having diligently read through its 700 pages, I cannot in my attitude be accused of flippant superficiality; nor do I wish to be understood as implying by my comparison that there is not much of use and solid value to be found in Vyshinsky's wide-angle survey. With a group of anonymous collaborators he has assembled an extraordinarily variegated, highly seasoned book that will satisfy and/or irri-

* Andrei Vyshinsky, *The Law of the Soviet State*, New York, 1948

tate the reader, depending on what he expects to find in a volume bearing this title.

The Law of the Soviet State is the standard reference text for Soviet students of law and government. It is also, as Professor John N Hazard points out in his excellent introduction, a "militant handbook" for Soviet officials, a point to which I shall return. Vyshinsky's contribution is apparently much greater than that of the average editor to a work of this kind. This is understandable on considering that the Soviet Union is a place where consequences are apt to follow from what one publishes Vyshinsky's active participation is indicated by the energy, aggressiveness, vehemence and invective that characterize much of the writing. His reputation as a diplomat who speaks his mind even when other diplomats are present, and as a prosecutor who approaches almost every issue as though it was a criminal to be exposed rather than a problem to be elucidated, is fully sustained.

The setting in which the book was written demands some notice It appeared in 1938, two years after the adoption of the new Soviet constitution This long-awaited event seemed to promise, Hazard writes, an end to many temporary, discriminatory, revolutionary controls and the beginning of an "age of greater tolerance" in the social and political sphere. But in the period 1936–1938 conditions in Europe deteriorated rapidly; the Second World War seemed inevitable, and Soviet policy, both foreign and domestic, bent to the storm. Nothing (certainly no doctrinal preconceptions) could be permitted to impede the U.S.S.R.'s preparations for the approaching conflict. Several of the freedoms promised by the Stalin constitution never came alive (it is idle to speculate whether they might have been put into effect had there been no military threat), and programs designed to bring nearer the goal of communism (when the state, its machinery having become superfluous, would "wither away") were discarded.

For this utopian doctrine of gradual atrophy, Vyshinsky, I

gather, never had much use. For one thing, Lenin had made it clear that "Marxism provided no precise blueprint for the future government of revolutionary Russia." Step-by-step experimentation would be required, he thought, to evolve the forms best suited to existing conditions and forces. Furthermore, Vyshinsky felt that the immensely difficult and precarious task of achieving stability while in rapid motion, of gaining the benefits of permanence while in transition, of establishing a viable order without extinguishing the precious spirit of revolution, could only be carried through by a variety of traditional "legal means," wielded by the proletarian dictatorship: this, in turn, presupposed a strong central state rather than a weakling confederation working toward its own dissolution. That opinion underlies Vyshinsky's entire conception of jurisprudence, and influences the treatment of every major problem raised in his book.

Vyshinsky's survey scans the genesis and meaning of the constitution, the social organization of the U.S.S.R., its economic and administrative system, its body of public law, its courts and legislative units, the rights and obligations of individual citizens and of member republics. It contains a mass of economic data, a wholly inadequate description of the role of the Communist Party, and very little by way of substantive detail as to how the machinery of state actually works as compared with how it is supposed to work.

I cannot hope in this space to explain — even if I were qualified to do so — the ponderous, complex issues of economic, political and legal theory raised in Vyshinsky's analysis and rationalization of developments in the structure of the Soviet state. A few examples will serve to illustrate his didactic method and may furnish glimpses of Soviet law and thought.

1. The great socialist principle, "From each according to his capacity, to each according to his toil," is, as Vyshinsky points out, "unjust" from the viewpoint of communism. Com-

munist doctrine, in its purest form, would require instead, "From each according to his capacity, to each according to his need." But this is frankly recognized as unattainable because "it is impossible (without falling into utopianism) to suppose that, after overthrowing capitalism, people will learn at one stroke to work for society *without rules of law of any sort*, and the abolition of capitalism *does not at a stroke give* economic promises of *such change*" (His italics) This is a typical instance of Vyshinsky's practical approach to matters involving Marxist-Leninist theories He who works eats, he who doesn't doesn't, he (or she) who works exceptionally well as a riveter, chess player, geneticist (or child bearer) is entitled to "rewards, prizes and exemptions" Nothing in this doctrine, I take it, to alarm General Motors

2. Bourgeois democracies move under the principle of the "separation of powers," thus preventing abuses that might result from vesting too much authority in a single person or branch of government The U.S S R., says Vyshinsky, does not need this bourgeois principle of checks and balances·

> From top to bottom the Soviet social order is penetrated by the single general spirit of the oneness of the authority of the toilers The program of the All-Union Communist Party (of Bolsheviks) rejects the bourgeois principle of separation of powers The unity of the authority of the toilers, embodied in the highest organs of that authority, expresses their democratic nature and the sovereignty of the Soviet people

On the other hand this should not lead to the belief that there is in fact no separation of powers in the U S S.R administrative machinery, for according to the very next paragraph.

> In the U S S R , authority has its beginning in the genuine popular sovereignty personified by the Supreme Soviet of the U S.S R This

is not incompatible with limiting the jurisdiction of authority as between separate organs *Such limitation flows out of the extraordinarily complex functions of the Soviet state machinery governing both people and economy* (My italics)

This explanation, if I understand it correctly, might be paraphrased as follows: In bourgeois countries automobiles are made with brakes In the U.S.S.R. this device is rejected as a deliberate attempt to exploit the drivers. Soviet automobiles have no brakes. This does not mean that the Soviets have no way of stopping their cars Indeed, every car stops itself due to its complex machinery and the friction between the several parts.

3. "Soviet democracy and the Soviet state are a million times more democratic than the most democratic bourgeois republic " (I can think of no other nation, except the United States, capable of saying foolish things so earnestly) The fact is borne out by the Stalin constitution, which assures "the right to labor; the right to rest; the right to material security in old age; . the right to education, freedom of conscience; truly democratic freedoms of speech, of assembly, of the press, and of meetings; and the right to be united in social organizations "

Occasionally, a few restraints are necessary Thus. "In our state, naturally, there is and can be no place for freedom of speech, press and so on, for the foes of socialism " The granting of freedoms of any kind to those unworthy of freedom — presumably those engaged in un-Russian activities — must be classified as a "counter-revolutionary crime." Freedom of assembly, of meetings, parades, demonstrations and so on "are the property of all the citizens in the U S S R , fully guaranteed by the state *upon the single condition that they be utilized in accord with the interests of the toilers and to the end of strengthening the socialist order* " (My italics)

The right to unite in social organizations is absolute, but the

Soviet state "naturally does not include freedom of political parties . . . inasmuch as this freedom, in the conditions prevailing in the U.S.S.R., where the toilers have complete faith in the Communist Party, is necessary only for agents of fascism and foreign reconnaissance whose purpose is to take all freedoms away from the U.S.S.R. and to put the yoke of capitalism upon them once more."

The secret police in Russia has a long and unsavory history. Fortunately the new constitution guarantees the citizen the inviolability of his person against invasions by the Soviet FBI. Thus, by example, "No one may familiarize himself with a citizen's personal correspondence, with one exception only: in case this is necessary to disclose crime and detect a criminal."

4. Frequently in the midst of a serious juridical exposition Vyshinsky launches into a stirring panegyric on strangely peripheral topics: the beauties of Moscow, Soviet boundaries, which are "sharply guarded by our heroic border troops . . . [and] four mighty Soviet fleets"; Marx, Lenin and Stalin, the Soviet coat of arms; and so on. For instance: "On the coat of arms of capitalist states birds of prey and beasts — eagles, hawks and lions — are most widely depicted, characterizing the rapacious policy of the states' dominant class." The proletarian dictatorship has for its coat of arms the familiar emblem of toil, the hammer and sickle; underneath are the words, "Proletarians of all countries, unite!" Above is the star of the Red Army — "a menacing reminder."

As characteristic as these examples may be, they give a false impression of the whole book, an impression valid certainly on only one level. For it is important to remember that *The Law of the Soviet State* is written on several levels, with several audiences in view. This accounts, I believe, for many of its puzzling, contradictory features: ideas concealed within ideas; crude arguments and subtle ones; bluster and sobriety; honesty and exaggeration, Slavic realism and Teutonic metaphysics, sensible exposition interlarded with boisterous idio-

cies Vyshinsky's book starts out as a straightforward textbook on constitutional law. The descriptions of the legislative system, of the various commissariats, of the function of the courts, of the formation of the constitution are orthodox and informative (The style of presentation is, to be sure, incredible. Hugh W. Babb, the translator, seems to have struggled manfully with his immense pile of prose, but sentence after sentence resembles a Chekhov or Gogol caricature of the literary style of a Russian bureaucrat)

Second, it is a revolutionary handbook, a guidebook and a practical memorial whereby men may be instructed and at the same time warm themselves, in De Tocqueville's words, at the fire of their fathers' passions Third, it is a hagiography, a tribute to various saints. Marx, Engels, Lenin, Stalin Fourth, it is a polemic against sundry "wreckers," "bandits" and "gangsters" (Trotsky, Bukharin, etc) Fifth, it is a declaration of piety and zealous conformity by its authors (Vyshinsky and collaborators). Sixth, it is a show for foreigners, an exhibition of the imposing structure and legal system of the U S S R , a refutation of the "slanders of enemies "

Finally, the book shows evidence of being in conflict with itself on major doctrinal issues. *Destruam et aedificabo* ("I shall destroy and I shall build") were the words appearing on one of Proudhon's books. We may, in a sense, regard this not only as Marx's motto (as Isaiah Berlin points out) but as the motto — and the dilemma — of Vyshinsky as well. How, side by side, to promote obedience and to encourage rebellion, to destroy tradition and yet to build with the aid of its forms? These problems beset the teacher, and baffle him, no less than they baffle and beset the politician.

Vyshinsky's treatise is invaluable for ignorant foreigners like us who live behind the Iron Curtain — for the curtain, of course, has two sides and we are as much behind one as the Russians are behind the other. Each of several chapters contains more information about the Soviet system than is to be

found in any year's ration of foreign dispatches, or in the detailed, authoritative treatises on Russia written by those who left there in the days of Kerensky, or in the great collection of confessions, reminiscences and apologias by reformed Marxists, unreformed Czarists, renegades, police spies, informers and other disinterested observers who have jumped, crawled, run, flown, swum and burrowed to freedom. Vyshinsky makes the Soviet state out to be believable and the framers of its laws neither imbeciles, maniacs nor beasts. Undoubtedly they differ from our own politicians, though not as much as you might think. Reading this book is not conducive either to hating or loving the Russians. Neither emotion is desirable, much less required. It should, however, help to a saner understanding of how the Russians differ from us politically. This is required, absolutely, for policy makers as well as plain men.

PATTERNS OF PANIC

THE WORD "panic" is derived from the name of a disagreeable deity of ancient times who watched over shepherds. Besides a pair of horns, a flat nose, and the legs and feet of a goat, Pan possessed a furious temper, which when roused made even the gods flee. It is not held that Pan actually inflicted physical violence on his victims; it served his purpose either to demoralize them by brutish outbursts or, more subtly, to infect them with uneasiness and vague apprehensions

Panic is defined as unreasoning fear, a sudden seizure of terror, usually out of proportion to the cause. For the individual it may mean headlong flight, running amok, or some

less aggressive hasty action; in the group, it becomes a "collective explosion," as Dr. Meerloo* describes it, and often culminates in mob fury, riot, lynching, stampede.

Panic, however, need not be overt, it is a complex reaction assuming many different and even obscure forms. One person may be routed by noise or the fearful reality of battle, another by the sight of fire, blood, pigeons, snakes, drunkenness, yet another may succumb to a shadow, a fantasy, perplexity, "melancholy," "rapture," or some purely inner conflict, the frustration of expectation also arouses such strong fear and anxiety that actual danger may be preferred to the anticipation of it The ability to endure anxiety and uncertainty is highly variable; some persons placed under stress crack up immediately, others can carry the burden for long periods; others again — the phenomenon of post-battle shell shock is familiar — surrender to terror when every obvious cause for alarm has been removed

There is latent panic in all of us. Man is especially vulnerable because his natural biological defenses are poor. Compare him in this respect with a crocodile, an eagle, a lion or a clam. Primitive man, says Meerloo, "lived in a chronic panic, a chronic alert, a chronic mobilization for flight" This universal on the subject of Pleistocene psychoses sounds to me a little glib. We can, however, accept with confidence his assertion that man is not adjusted to his environment as are animals (even our immediate ancestors were masterful climbers, an essential defense in the struggle of life), and that he must substitute for fang and claw tools and superior reasoning power. Obviously in striving for mastery over nature his intelligence has served him well; less well — though even in this domain it has not altogether failed him — in liberation from the congeries of irrational fears. In panic man's best weapon is aban-

* Joost A M Meerloo, *Patterns of Panic*, New York, 1950

doned, and he is left the more naked, as he is the more civilized, to face danger, real or imagined, with nothing better than his vestigial talents for flight

Dr Meerloo's book is less concerned with "solo-panic" than with collective psychological disturbances affecting even the largest social groups. This is a growing problem, and while there is abundant historical precedent for the anxiety of our own period, one may doubt whether group panic has ever before carried so great a threat to the survival of society Mass hysteria was common enough during the Middle Ages, as witness the Children's Crusades, the epidemics of St. Vitus's dance and other collective furies. Modern civilization "does not defend man against mental contagion and reactions of panic" On the contrary, advances in travel and communication, among others, have increased man's sensitivity, multiplied the carriers of mental contagion and augmented their effectiveness, and reduced the likelihood that a mental epidemic would exhaust itself in one locality before it had the chance to spread to others Any knave or half-wit with access to a microphone can, in a few seconds, stampede half the world. It has been done and it will be done again.

"Knowing panic is, by and large, conquering and preventing panic." The forms and the causes of social panic are worth reviewing, even briefly, to help with our perspective of where we are and which way we may be going Wild flight, rioting, vandalism are the most familiar manifestations; there are endless examples. the great Indian Mutiny, the Brooklyn Bridge disaster, the capsizing of the *General Slocum*, the massacre at Caporetto during the First World War, the collapse of the French Army in 1940 Panic also has its silent forms: in an overcrowded London air-raid shelter, in the spring of 1943, the lights went out as the result of a bomb explosion nearby "There was a sudden upheaval of tremendous fear in the pitch dark; no yelling or crying was heard. When first aid arrived

nearly 200 of the 600 people were dead. Post-mortems revealed no significant anatomical changes in the victims." They had, it is supposed, literally died of fright.

Panic also has its ludicrous, pathetic and tragic aspects. Since itching has an "especially disorganizing influence on the human psyche," DDT helped morale considerably in the last war. In Quito, Ecuador, where Orson Welles's invasion-of-Mars radio fantasy was rebroadcast, the New York-New Jersey panic was repeated, except that fleeing street mobs were so enraged on learning of the hoax that they wrecked Ecuador's principal newspaper building. "On July 14, 1943, a British pilot bailed out over Holland. A Netherlander on a motorcycle was in the vicinity of the parachute landing and offered the pilot his help. The pilot, however, said that his instructions were not to endanger the Netherlanders but that he would like to be conveyed by motor to the nearest German post. The Hollander took him there. The British officer entered, followed by his escort, and the Germans were so frightened that they surrendered. When they discovered their mistake they started to scold vehemently." Inmates of the German extermination camps immersed themselves in and clung to "petty daily routines" to avoid thinking of the final horror. Whenever a group of Jews was sent to the furnaces, the same kind of scenes took place. "In the midst of panic and hysterical crying [I quote from the Dutch author De Graaff] there were people who remained eating their breakfast. Another explained, 'I cannot go now, my laundry is not dry. I have to take care of it.' A nurse stuck to her task and read all the thermometers over and over. A tailor remained sewing the coat of a German officer. They all wanted to deceive Fate by concentrating on little duties."

There is no simple relation, in the psychopathology of panic, between cause and effect. Panic is as irrational in its dynamics as in its cause, or at least must appear so, in the majority of cases, to all but the most skilled and sensitive

observers The Indian Mutiny started on a rumor, wholly false, that the cartridge cases, which the troops had to tear with their teeth so as to release the charge of powder for the muzzle loaders, were coated with either pig or cow grease: the first, a defilement of the Moslem troops; the second, of the Hindus. A melange of rumors, both spontaneous and carefully sowed by the enemy, contributed more heavily than dive bombers and blitz tactics to the collapse of the French Army in 1940. At Caporetto, when a huge Italian army fell apart in the face of much smaller enemy forces, it was ostensibly because the Italians had no gas masks. (The Austrians, to be sure, had no gas) A feeling of betrayal or abandonment by its leaders may lead a whole nation to panic (the Dutch, for example, when the Queen and other government officials fled after the Nazi invasion in 1940), and almost the entire world was stricken with anxiety and depression after the death of President Roosevelt

Economic and financial panics may be precipitated by sudden fears occasioned by the collapse of a bank, investment house, mining company or the like; their incubation period, however, is usually extensive, the embryo deriving nourishment from political or social unrest. Our economic relations, as Meerloo reminds us, are largely based on "mutual distrust and tremendous competition." An economic engine that must continually accelerate ("ever increasing prosperity") so as not to stall makes demands that few human nervous systems are able indefinitely to support "On one side there is a mood of immense expectancy, of waiting for the golden eggs of the economic system, with its old frontier romanticism, its dream of wealth, but at the same time there is that hidden mental uneasiness about keeping up the tension, until the sudden breach in self-confidence takes place. Unlimited competition stimulates inner fears People become suspicious because they project their own hesitations onto all kinds of social manifestations After a boom the country may become more suspicious."

Meerloo points out also that *any* significant social or economic change gives rise to insecurity and panic. A new pattern of living, the abandonment of accepted ways, however discredited, means an alteration of habit, a venture into the unfamiliar; for the majority of men and women this is a precarious step. In part, at least, this explains the effectiveness of name-calling against measures and advocates of reform.

The more serious panics — in respect of scope and duration — are, as I mentioned above, those longest in the making. A mob quick to violence is also likely to be quick to disband But long-persisting irritants — biological, social, economic — may produce something akin to chronic disease, punctuated perhaps by acute flare-ups. Illiteracy, superstition, bigotry, magic religious attitudes also play a considerable part in increasing the receptiveness to panic and in maintaining the panic state

A valuable section of Meerloo's study is devoted to an account of the causes, course and consequences of contemporary panic. One observes a deeply involved and often contradictory pattern the true nature of which is only dimly apprehended; it may be that many of our fears are justified, that certain critical elements of the pattern have not emerged or are under control, that we have reached the crest of national anxiety and that the excesses that have occurred will act as purgatives and restore health. Nonetheless it is clear that the situation is dangerous, for, even adopting the optimistic view that we have passed the crisis and are convalescing, there is the ever-present possibility of a setback

The American people have long been exposed to social and political conditions making for insecurity. The great depression; two great wars; the deep, unhealed social scars left by the incomplete surgery of the New Deal; economic conflicts; sectional and racial tensions; the tug of war between isolationist and nonisolationist tendencies; artificially stimulated xenophobia and the fear of mysterious new weapons (rays, discs, bombs, germs), ours as well as the enemy's; a sense of

"atomic" guilt for having used the weapon and for building it now: these are among the principal old and new causes of unrest.

No less striking and characteristic are the contradictions of high opinion and policy we are asked to reconcile. It is said that we are prosperous and spiraling upward to new levels of opportunity and abundance; it is also said that unemployment is rising and a new depression may be around the corner. We are militarily the greatest power on earth; also, our Air Force is inadequate, our Navy obsolescent, our atomic monopoly broken, our atomic secrets dissipated and stolen. Our foreign policy is the only course that promises success in the struggle against communism; also, China is lost to us, in France, Italy and Belgium there is deep unrest, Korea, Greece, Persia, the Philippines and Indo-China are in various phases of disintegration, and the Marshall Plan seems to be approaching its goal no more rapidly than did Tantalus. We are internally secure, the Communists are a feckless minority and the FBI has its eye on every spy; also, the government, the labor unions, the education system, the entertainment industry are seething with subversion, the Communists are not only a formidable menace, of themselves, but are abetted by fellow travelers, liberals, dupes, socialists and Fair Dealers. We are well protected by the oceans against Russian attack, and, since intercontinental rockets are not a reality,* we need not fear atomic attack, also, another Pearl Harbor is imminent, our civil defense is in a parlous state and we should at once start dispersing our cities. We are firm in our adherence to the Bill of Rights, to our traditional freedoms (including the principle that guilt is personal), also, to meet the present menace we must be prepared to recognize and to punish such offenses as "near-treason," disloyalty, heretical sympathies and sympathetic association. We are dedicated to peace and to the dignity of man, also, it may be necessary to wage catastrophic

* This was written in the Golden Days of 1950 J R N

war, risking the destruction of man, to preserve that dignity.

I do not mean to imply that all the dangers warned of are unreal, that there are in fact no antithetical situations, and no honest dilemmas. I mean to emphasize that there is abundant confusion, partly justified, partly the result of irresponsibility or deliberate design, that confusion breeds insecurity, that insecurity long continued is the precursor of panic. We are not yet, of course, so unstrung that panic rules in its grossest forms. But there is ample evidence of widespread agitation, of apathy, of mutual suspicion, of crumbling morale, of a creeping barrage of anxiety and fear, leaving behind it the ruins of some of our most cherished rights.

The blame for this state of things is often laid on the McCarthys, the Mundts, the yellow press and like creatures Secretary Acheson has recently denounced the attacks upon him and his policies as "vicious madness" This is true, but it is also too simple. There is never a shortage of oafs in any trade; second murderers are readily hired. But what Acheson apparently fails to realize is that the attacks upon him are dangerous not because they are launched, but because they are seriously attended; that they are listened to because unrest and anxiety have greatly increased the receptiveness to reckless charges; that certain policies, opinions and alarms propagated by himself and by others are in part responsible for the assaults of which he and others are the victims. The attempt to scare Americans out of their wits by the bogeyman and great-conspiracy principle of history having been quite successful, it is now hard to know how to give reassurance. "Total diplomacy" does not, I think, leap to mind as the ideal method. A government that repeatedly alerts its citizens to the danger of being swallowed by a monster from without or destroyed by a Trojan horse from within, and that formulates its entire foreign policy and much of its domestic program in terms of security, military preparedness and the winning of a cold and, if need be, a hot war, is in effect staging a race between a na-

tional nervous breakdown and an overwhelming popular demand for war — any war that offers the welcome substitute of dread reality for dread suspense.

The logic of human psychology, the logic of panic in particular, makes it inevitable that widespread anxiety should lead to widespread guilt It has become a new virtue to suspect our fellow citizen, to project on him all the evils that are printed in the modern slogans about spies and traitors. Feeling guilty, we hope to purge guilt, to regain self-confidence by persecuting and punishing others. Feeling guilty and afraid, normal things become strange and hostile; the known becomes the unknown, the capacity for judgment vanishes Whatever, under such circumstances, gives substance to shadow affords relief "We may be 'traitors' or 'fascists,' 'spies' or 'Marxists'; the very accusation makes us guilty of a hideous crime, of being a mirror of another man's hatred and evil thinking" Thus it comes about that behind every false rumor "we find the deepest collective wishes of the community." It is this complex situation which the Secretary of State sought so flatly to dismiss.

Today we are at the point where fear of ourselves, of impending war, of world revolution, of unknown changes and forces, has reached alarming proportions. It is hard to see in this Salem-like atmosphere how reason is to reassert itself, how self-confidence and mutual trust are to be re-established, how men are to learn to measure and meet their awful real problems with maturity and courage.

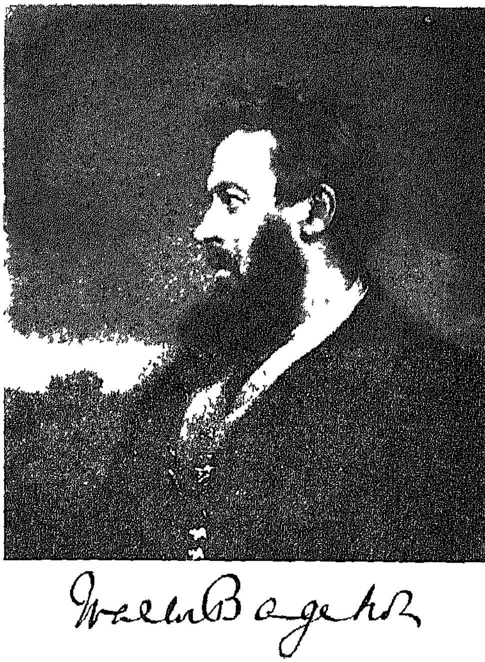
"The intellect, the judgment are in abeyance. Life is running turbid and full; and it is no marvel that reason, after vainly supposing that it ruled the world, should abdicate as gracefully as possible when the world is so obviously the sport of cruder powers — vested interests, tribal passions, stock sentiments, and chance majorities. Having no responsibility laid upon it, reason has become irresponsible" Thus, George Santayana in 1913 — an ominous year

PHYSICS AND POLITICS

DISCRIMINATING READERS will be grateful to Jacques Barzun and once more to Alfred Knopf for rescuing from undeserved obscurity this small treasure-house of social insight, political sagacity and learning. Walter Bagehot's *Physics and Politics** is among the nineteenth-century writings that provided both the methods of analytic approach and the systems of ideas to form the underpinning of contemporary social sciences

It is a study of the evolution of political communities in light of the biological and anthropological discoveries of Darwin, Wallace, Tylor, Lubbock and others, it maps the significance for human history (as Max Lerner has said) "of such forces as custom and revolt, innovation and imitation, conflict and discussion"; it carries forward its often irresistible dialectic in a style of the utmost clarity marked by periods of

* Walter Bagehot, *Physics and Politics*, with an introduction by Jacques Barzun, New York, 1948



Walter Bagehot.

irony and high eloquence. It is, in short, a work informed by the best of Victorian faith and thought, and adorned with its best literary manners. That is not to say it is without peculiarities and shortcomings, as will appear

By "physics" Bagehot meant the whole of natural science, man's understanding and control over matter and energy; by "politics" he meant the social sciences, man's understanding and control over the relations among men Mainly he was concerned with two questions: How may the principles of natural selection and inheritance be applied to political society? What are the political prerequisites of power? Thus, the astonishingly timely title of the book is misleading, if from it one should infer that Bagehot examines the kind of political problems arising from technological advances symbolized in our day by U235 He was, to be sure, dealing, as Barzun says, with power politics — of which he had an uncanny compre-

hension — but one of the unfortunate gaps in his treatment of social change is the failure to consider, except by superficial reference, the social relations and function of science and technology. Perhaps that is asking too much: at any rate, he brings to his subject the growing resources of nineteenth-century science, and, what is equally important, the fighting creed of rationalism expressed in Huxley's stern admonition ". . . be prepared to give up every preconceived notion, follow humbly wherever and to whatever abyss nature leads, or you shall learn nothing."

In a half-dozen brilliant essays Bagehot traces the transformation of society from the "preliminary age" when polity was unknown, to the "age of discussion" when polity, good and bad, came to grow on every tree. For a starting point he takes the period of "such men as neither knew nature, which is the clockwork of material civilization, nor possessed a polity which is a kind of clockwork to moral civilization." It was the age of Dryden's dream: "when wild in woods the noble savage ran." Men were free, but freedom then was a nasty, brutish affair that meant being at the mercy of all when of mercy there was none. Such notions as existed of law and polity were at best "uncertain, wavering, and unfit to be depended upon", the bases of social order and morality were unformed, men could not imagine the meaning of a nation because they could not think of themselves as being *alike*, much less perceive the advantage of common action for a common purpose.

As if it were necessary first to retreat, to get a running start, so to speak, in order to ascend the "steep gradient" to civilization, these early creatures, although at the apex of the Linnaean chart, were less amenable to organization, more fierce in their individualism, than animals of a lower order, among which co-operation for a joint cause, impelled by instinct if not by reason, is not uncommon. So it must have been, Bagehot thinks, before the value of obedience and of a "comprehensive rule binding men together" was recognized

Before freedom as modernly conceived could be attained, says Bagehot, men had to pass through a period of surrender of will, of submission, to an elite enforcing custom, privilege, tradition, superstition and ritual. It was a period Bagehot might well look upon with profound distaste, yet, like Hobbes, he saw in it the beginnings of all that is good and valuable in modern society

Before distinctions of race could be swept aside, men had first to know pride of race; before they could regain the halcyon day spoken of in Genesis when the whole earth was "of one language and one speech," their language had first to be confounded and it had to be said that "whoever speaks two languages is a rascal"; before they could innovate and break the "cake of custom," they had to learn to imitate and to bake the cake of custom, before being inspired to revolt against addiction to pattern, they had to grow weary of the pattern they had made, before men would discard armed conflict as the means of settling disputes, conflict had to serve its uses as an agent of natural selection. These were the bitter, monotonous trials that prepared the age of discussion And if, like the men of the Constituent Assembly in 1789, we look upon that long past as no more than a "blunder — a complex error to be got rid of as soon as might be" — we fail to see, as they failed to see, that "that error had made themselves." For liberty itself is descended of tyranny. "Later are the ages of freedom, first are the ages of servitude."

How did men pass from the first stage of civilization into the second stage — "out of the stage where permanence is most wanted into that where variability is most wanted"? (Note how often Bagehot draws upon the language of biology to explain the processes of social evolution) The old proverb speaks only of the first step, but in the making of nations it is the second step that counts "What is most evident is not the difficulty of getting a fixed law, but getting out of a fixed law " The "arrested civilizations" — of the Far East, say —

illustrate the point precisely: having taken the first step but not the second, they look, says Bagehot, "as if they had paused when there was no reason for pausing — when a mere observer from without would say they were likely not to pause."

"That which doth assign unto everything the kind, that which doth moderate the force and power, that which doth appoint the form and measure of working, the same we term a law." And it is from law, as so defined by Hooker, that nations derive the permanence on which their existence, in peace or war, depends. But there must be something more than a bond to tie men together, more than a yoke upon all men and all actions. Perhaps it would be more accurate to say there must be something less. For whatever binds a society must not constrict its variability and its adaptability to new circumstances. The social organism, like the biological organism, must have freedom to move and breathe and change As there is need for men who will impose authority and uphold the existing order, so there is need for others who will question authority and strive restlessly for reform. Progress is "in the prophets", while the force of legality must hold the nation together, it must not go so far as "to kill out all varieties and destroy nature's perpetual tendency to change"; even rebellion and discord have their uses.

In preserving this variability and in contributing to "nation-making," many contradictory factors play a part Progress itself emerges only from the interplay of opposites and the very conditions of progress are those that tend to arrest it. It is "fixed law and usage" that makes a nation, yet the fixity of law and usage keeps it stationary In the formative stage, nations need the advantages of isolation both as a protection against disruptive forces from without and to gain the time needed to establish the framework of rule and authority within. Yet without communication, traffic and commerce with other nations, no nation can long survive. War is needed because it "nourishes the 'preliminary' virtues" Yet endless

wars must lead inevitably to utter ruin, and thus defeat even the purposes they may serve as operators on behalf of natural selection.

At last then, with the "head of the sage" helping the "arm of the soldier," a few peoples arrive at the age of discussion Along the journey through time nations, empires, entire civilizations have risen and disappeared, leaving behind only myths, relics and crumbled walls The age of discussion is "the age of choice" Athens was the first of the free states in history where sovereignty was divided, where men might, at least within limits, discuss issues of principle and decide upon a course of action based upon the outcome of their discussions. The fate of Socrates merely proved that toleration, as the idea is now defined — or at least as it was defined in Bagehot's time — had not yet won full acceptance. But the dialogues of Plato and the works of other Greek philosophers express the character of men who were free to reflect and probe, to inquire about all things, to believe that which is sustained by reason and to reject that which reason rejects

"In societies customarily tyrannical, uncongenial minds become first cowed, then melancholy, then out of health, and at last die." And there are, as we well know, even shorter ways with dissenters. But in the age of discussion, or at least in the ideal image of such an age, there is a safe haven for dissenters: for it is an age of intellectual as well as political liberty, of free thought, of "advancing sciences" The desire of man to better his condition (Macaulay's phrase), which may be considered the source of progress, finds in such an age the necessary and sufficient prerequisites for its development. Originality is encouraged, fixity contemned; the trust in status is supplanted by faith in the dreams of the young and the wise; rational discussion dissolves the "sacred charm of use and wont", the need for bigotry wanes, and thus its power "The progress of *man* requires the cooperation of *men*" And this is only possible in an age of discussion, an age of trade, traffic,

communication, science, toleration, freedom and peace Still, the very notion of co-operation was "produced by one of the strongest yokes . and the most terrible tyrannies ever known among men — the authority of 'customary law.' "

One of the best features of this study is Bagehot's recital of the social and political problems besetting communities in their incessant struggle for existence. He seems to believe, however, that many of these are problems of the past; that having progressed, man is not likely to retrogress; that having entered the age of discussion, the forward nations of the Western world need not apprehend the reappearance of dark forces peculiar to earlier ages Though he had the specific misgivings of one who knows he has "truncated" a problem because it cannot be solved in whole, and those generally of a critic and philosopher, of an intelligence both practical and subtle, he was not altogether uncommitted to the nineteenth century's faith in the ultimate perfectibility of society through the agency of reason. This century, I venture to say, has not vindicated that faith

Take, for example, Bagehot's picture of the savage: "His life is twisted into a thousand curious habits; his reason is darkened by a thousand strange prejudices; his feelings are frightened by a thousand cruel superstitions " Is modern man so cleansed of these "monstrous images," so free of delusions and hallucinations, so impervious to the influence of fanatics, demagogues and mountebanks, so untouched by dogmas of race and nationalism, so discerning of falsehood and propaganda, so cured of violence and barbarism, that he may regard the folkways of savages with condescension and indifference? " 'These people,' says Captain Palmer of the Fiji, 'are very conservative A chief was one day going over a mountain path followed by a long string of his people, when he happened to stumble and fall; all the rest of the people immediately did the same except one man, who was set upon by the rest to know whether he considered himself better than the chief.' " Are we

so emancipated, so independent in daily habits, in social and economic practices, in our political behavior, that the anecdote cannot be regarded as a timely fable? "The ultimate question," says Carlyle, "between every two human beings is, 'Can I kill thee, or canst thou kill me?' " Is this a question merely for primitive man? Do not whole continents yet press for an answer?

It would be improper to take Bagehot to task for his errors of prophecy except in so far as his analysis of the process of social evolution suffers from an uncritical assimilation of Darwinian principles and analogies into his interpretation of social phenomena Altogether, his was a balanced and wonderfully open mind. He had an extraordinary grasp of the perplexities of politics and was well aware of the vast difference between public and private virtues, the absurdity (as Barzun says) of trying to personify groups, classes and nations "as if they were solid entities with one will and one mind," the thinness of man's crust of reasonableness, the fact that government by discussion has from its origins been a "plant of singular delicacy," of the elusiveness of cause and the instability of effect in the political affairs of mankind

Where he fails most conspicuously is in his disregard of the effect of economic forces on social movement and in his underestimation, as Lerner has pointed out, of the "democratic masses as a creative political force." He had no sympathy, Woodrow Wilson said of him, "with the voiceless body of the people, with the 'mass of unknown men.' " Thus, typically, he thought the English the most advanced people politically because of their "dull, fixed" habits of acting all one way (and then only slowly), and the French retarded politically because "a great deal too clever [and volatile] to be free." "Stupidity" he considered an essential prerequisite of political freedom. *Physics and Politics*, it might be said finally, is a penetrating examination of the law of civilization but an imperfect appreciation of the law of decay.

WAR OR PEACE

Where there is an ear for reasoned argument, these books will do a service.* They are quite different books by quite different men, but they share a common concern. the continued existence of the human species. A sociologist examines the forces thrusting the world toward war; a chemist assesses the effects of radioactive fall-out, a group of scientists and engineers surveys the feasibility of an inspection system for disarmament; a physician pleads for an end to the nuclear-arms race. The tone of each book is also quite different one sounds like a trumpet, one is cautious and analytical, one is restrained but remorseless, one is eloquent but gentle. All, however, reflect a deep awareness of man's peril the probable annihilation of the human race in the event of another war.

* C Wright Mills, *The Causes of World War Three*, New York, 1958, Linus Pauling, *No More War!*, New York, 1958, *Inspection for Disarmament*, edited by Seymour Melman, New York, 1958, Albert Schweitzer, *Peace or Atomic War*, New York, 1958

One may differ with Mills's analysis of the causes of the next war, but it cannot be denied that he is a man of courage and of conscience. He knows what he wants to say, knows how to say it, and says it. He has written an angry essay. It is none the worse for that, a torch must burn to give light. He confronts three main questions· Do men make history and, so, wars? Are we drifting blindly into the final catastrophe, or are certain decisions and policies thrusting us toward it? Assuming it lies within our power to avert war, what ought we to do?

Take the first question. It is often said that certain great events such as wars are inevitable. Men are trapped by circumstances, fate makes the decisions. This ancient idea, gradually transformed into the belief that the Deity has fixed a Great Plan that determines every sparrow's fall, is, among thinking men at least, obsolete Nature is hard but not malicious; the stars are indifferent. Resistless forces, it may be admitted, shape the universe, but man can see and judge and know and create and decide for himself His freedom is bounded, but within its small sphere it is sovereign The "thinking reed," though the weakest, is yet the strongest thing in nature. There is, however, another conception of fate that is not obsolete. It is in fact, Mills says, indispensable for adequate reflection on human affairs. According to this conception, history is "the summary and unintended result of innumerable decisions of innumerable men" The men do not form an identifiable class, the decisions are not in themselves consequential enough for the results to have been foreseen. Like crowds of particles the decisions collide, coalesce and add up to the blind result — the historical event, which, as it were, is autonomous. This is the fate Karl Marx had in mind when he wrote in *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*, "Men make their own history, but they do not make it just as they please."

Thus understood, fate is not, in Mills's words, a universal

constant It depends upon social structure and especially upon the concentration of power. Fate is a name we give to power so diffused and fragmented that we cannot discern the mechanics of its use, it is a name like probability, which baptizes our ignorance. But in a society where power is visibly concentrated, history is not drift or fate. It is the sum of the vital decisions made by the groups of men that hold power. What they do — or fail to do — makes history; what others do is of little account: they are the "utensils" of history makers and the "objects" of history making.

Given this diagnosis, we shall with Mills take it for granted that a handful of "high and mighty" of the Soviet Union makes history; but what about the United States? Mills's familiar thesis, already set forth in *The Power Elite*, is here reaffirmed. In our country history is made, he says, by a small group of men. "the high military, the corporation executives, the political directorate." This is the top level The middle level is composed of "a drifting set of stalemated forces," and at the bottom is a passive, increasingly powerless "mass society" The power elite makes the decisions even though the formal democratic machinery has been relegated to the middle groups. The "great public" votes and even elects, but to what purpose? Of the men it elects only a few help make decisions and then only when they are admitted to the elite.

Mills now warms to his argument. The power elite (in Russia as well as the United States) is possessed by the "military metaphysic" that the constant threat of violence and the maintenance of a "balance of fright" are the essentials to a condition of peace. Many of the elite also believe that a war economy is the indispensable underpinning of economic prosperity They are committed therefore to the arms race, which may in itself be the immediate cause of World War III. Political apathy of "publics" and moral insensibility of "masses" in both communist and capitalist worlds allow the economic and military causes of war to operate. Leading intellectual, scien-

tific and religious circles are either confused and permissive, or join in the cold war. Few intellectuals put pressure on the elite to change its policies; fewer still set forth alternatives. In framing this indictment, Mills is careful to say that the thrust to war is not an elite "plot," either here or in Russia. The elite of each country has its "war parties" and its "peace parties", and both elites have what Mills calls "crackpot realists." They are men so rigidly focused on the next step "that they become creatures of whatever the next step brings", they are also men who cling rigidly to general principles and who "join a high-flying moral rhetoric with an opportunist crawling among a great scatter of unfocused fears and demands." Practical next steps and great, round, hortatory principles, but no program: this is the main content, in Mills's view, of today's struggles of "politics"

Steadily we move toward the abyss What is to be done? Mills's appeal is addressed mainly to intellectuals They must stop fighting the cold war. They must make contact with their opposite numbers "among those now officially defined as our enemy." ("With them, we ought to make our own separate peace.") They must help educate one another They must also remedy the default of religion and help awaken the public conscience, for religion itself is "morally dead" in the United States, and ministers of God, who are responsible for the moral cultivation of conscience, "with moral nimbleness blunt conscience, covering it up with peace of mind." Scientists should honor publicly those, like the eighteen German physicists, who have made their declarations for peace and against working on the new weaponry Scientists "should attempt to deepen the split among themselves and to debate it" They should denounce secrecy. They should refuse to become members of a "Science Machine" under military authority. They should refuse to make weapons and boycott all research projects directly or indirectly relevant to the military. These are among the steps that Mills says would begin the practice

of a professional code, and perhaps the creation of that code as a historical force The scientist by adopting it would reject "fate"; for he would thereby declare his resolve to take at least his own fate into his own hands.

Mills's book is primarily a polemic and a sermon It is, as intended, provoking as well as provocative. Patriotic groups will not clasp his thesis to their bosom, and many disinterested students of society and power will differ strongly with his analysis of the causes of war. No open-minded person, however, will mistake this for the work of a hack or pitchman for the official lines of either side. Mills is his own man

Linus Pauling, though gentler, is also his own man. His book is a powerful statement of the case for nuclear disarmament.

That war is today an insane method of solving disputes is a truth so obvious that it is hard to prove Men are apt to acknowledge it, as they acknowledge their mortality, and then go about their business. But the proposition that we all have to die someday is not the same as that we all have to die the same day. Until now it had always been assumed that though men were mortal, man would endure. This assumption, as Pauling shows, has become questionable.

Five chapters of his book discuss fallout. They give one of the clearest summaries of the problem I have seen. While there is considerable disagreement as to what constitute "safe" limits of radiation with respect both to somatic and genetic injury, no responsible scientist doubts that wide "margins of uncertainty" (these words are from the UN report on radiation) surround all estimates. Before the subject became a hot military and political potato, it was accepted that even small amounts of radiation produce mutations, and that almost all mutant genes are bad But because quantitative estimates of population exposure and of effects are so wide-ranging, it is easy for those who for official reasons wish to minimize the danger to becloud and confuse the issues. It cannot be foretold

whose genes will be altered nor in what way, so let's all stop worrying and keep our fissionables dry.

The physicist Edward Teller, who has sought and gained wide publicity for his views, is Pauling's prime example of a public misinformer. Teller regards radiation from nuclear tests as a negligible threat to world health. World-wide fallout is, in his cogent phrase, "as dangerous as being an ounce overweight." So far as possible genetic damage is concerned, Teller has stated that "radiation in small doses need not necessarily be harmful — indeed may conceivably be helpful." This puts fallout in roughly the same category as Lydia Pinkham's remedy. His views on radiation are, of course, essential to his general political position. He is convinced that the bigger the bombs, the better the chance for peace. If the next war kills everyone, the world will again be peaceful, but this is not, I think, what Teller has in mind. He pins his hopes to "clean" bombs, which would leave survivors. Continued tests are needed, he says, to develop such bombs, and the tests themselves are harmless. Another reason he gives for not suspending tests is that atomic explosions can be concealed; we could never be sure, therefore, that an international agreement prohibiting tests would not be secretly violated by the Soviets. Because of his eminence as father of the H-bomb, Teller's opinions have carried considerable weight. Lately their prestige has waned, Pauling's arguments having contributed to this result.

The statement that fallout is as dangerous as being an ounce overweight Pauling characterizes as "ludicrous." It is based, he says, on a gross statistical blunder and represents a 1,500-fold underestimate of the hazard. One of Teller's points is that the people of Tibet, though exposed to much more intense cosmic radiation than people who live at lower altitudes, are as healthy as we are (or, at any rate, used to be). Pauling replies that the Tibetan exposure to increased amounts of cosmic radiation should produce an increase in the incidence

of seriously defective children from 2 per cent — the average United States figure — to 2.3 per cent. But since there are no medical statistics for Tibet, Teller's statement is simply out of the blue. (He advanced it in a magazine article in order, as he admitted in a television debate with Pauling, merely to "quiet excessive fears.") Another of Teller's assertions is that the radiation danger to the average person is ten times as great from luminous-dial wrist watches as from fallout. Pauling demolishes this statistic. Teller, it may be felt, is better at bombs than at arithmetic.

Pauling gives other examples of official misstatements. An Atomic Energy Commission official wrote an article in 1955, which stated that "the total fallout to date from all tests would have to be multiplied by a million to produce visible, deleterious effects except in areas close to the explosion itself." He was later asked by a chairman of a Congressional subcommittee if he remembered how much radioactivity had fallen on the city of Troy, New York, following a test held in Nevada a few days before. The official, according to Pauling, estimated the amount as "something under 0.10 roentgen" and finally settled on 0.01 roentgen. The physicist Ralph Lapp, who was present at the hearing, pointed out that a million times 0.01 roentgen is 10,000 roentgens. Whereupon one of the senators observed that this amount would have the "visible and deleterious" effect of killing everybody in the region.

A commissioner of the AEC* said in 1955 that "the fallout dosage rate as of January 1 of this year could be increased 15,000 times without hazard." This is not as cheery as the million-fold figure, but cheery enough. Pauling is less reassuring. He notes that ten hours after the detonation of a small fission bomb at the Nevada test site, the level of gamma radiation at St. George, Utah was 0.004 roentgen per hour, which is at the rate of 0.1 roentgen a day. Multiplied by 15,000, this

* Willard Libby

gives an exposure of 1,500 roentgens — a dose that will produce death within a few days from radiation sickness.

Pauling's own estimates of the effects of fallout are somber He predicts an annual death rate of 8,000 if tests were to continue at the 1952–1958 rate Moreover, 15,000 seriously defective children will be born each year in the world, whose defects must be attributed to the tests (this number does not include embryonic and neonatal deaths and stillbirths). It is possible, he admits, that his estimates are ten times too large or too small. Perhaps, then, only 1,500 children will have to be sacrificed annually to the maintenance of peace; on the other hand, if the figures are too small, 150,000 children may be required Even if no more tests are carried out, a lethal legacy of carbon already released into the atmosphere will be handed on for thousands of years. According to Pauling's calculations, based to a large extent on data provided by the AEC, the quantities of this long-lived isotope discharged in the period 1952 to 1958 will ultimately produce about 1 million seriously defective children and about 2 million embryonic and neonatal deaths, "and will cause many millions of people to suffer from minor hereditary defects" Our generation will be remembered.

When in April of 1958 Pauling first called attention to the menace of bomb-produced carbon 14, he was sharply criticized by three geneticists in a letter to *The New York Times* for making "erroneous" and "exaggerated" statements, which "only add to the public's confusion and do not contribute to the solution of the problem." Commissioner Libby of the AEC dismissed Pauling's warning by saying that the effect of carbon 14 from nuclear tests "is equivalent to an increase in altitude of a few inches." But the ridicule backfired when the AEC's Division of Biology and Medicine issued a document, "The Biological Hazard to Man of Carbon 14 from Nuclear Weapons," whose conclusions agree quite closely with Pauling's. This document was unaccompanied by a press release, and no

enterprising reporter nosed it out. Lapp brought it to public attention in a letter to *The New York Times.*

Like Mills, Pauling makes a general appeal for peace and for international agreements on the cessation of bomb tests and on disarmament. His words are a *cri de coeur*, sustained by moral authority and reason But there is little evidence that such pleas, uttered by those who know most about the dangers involved in a nuclear war, have persuaded leaders of states of the necessity of making radical changes in their policies. The argument is often heard that those responsible for the safety of the state are in a hopeless dilemma, for even if they are sincere in wanting peace and favor disarmament, it is impossible to frame enforceable disarmament agreements If no inspection system is workable, as Teller and others have claimed, what is the practical value of test bans and treaties to outlaw weapons?

There are at least two replies to this argument. One is that of the noted German physicist, the late Max von Laue. Suppose, he said, "I live in a big apartment house and burglars attack me; I am allowed to defend myself and, if need be, I may even shoot, but under no circumstances may I blow up the house. It is true that to do so would be an effective defense against burglars, but the resulting evil would be much greater than any I could suffer. But what if the burglars have explosives to destroy the whole house? Then I would leave them with the responsibility for the evil, and would not contribute anything to it "

The other reply is less noble, but it is no less to the point in countering the untruthful and misleading statements that have made men skeptical about the possibility of enforcing disarmament It is given in the Melman book, a co-operative study made at Columbia University, which provides a searching examination of inspection techniques. One of the contributors, the Columbia physicist Jay Orear, effectively refutes the claim that atomic tests can be "bootlegged." He demon-

states that a comparatively small number of monitoring stations uniformly distributed throughout the Soviet Union and within the United States, using the combined techniques for picking up acoustic waves, seismic waves, electromagnetic radiation and radioactivity, would constitute an adequate inspection system for test suspension This, together with a provision that UN inspectors be invited to all large chemical explosions, should make it possible, Orear says, to detect all nuclear tests unless they are of such ultra low yield as to be in the class of World War II blockbusters. Substantially this view was adopted by the United States and USSR at the Geneva Conference of Experts held in 1958.

Some twenty papers, together with an excellent general report by Melman, make up the Columbia report They deal with inspection of several major classes of activities: the production of heavy weapons of a conventional type such as tanks, artillery and trucks; ship and submarine building; aircraft, missile and fissionable material manufacture, the preparation of biological warfare weapons. Anyone who has thought about the problem quickly realizes that inspection of heavy weapons and naval vessel manufacture is relatively easy The sheer mass of metal that must be moved and processed, the size of the plants and yards, the large labor force required, all facilitate controls One cannot hide a whale in the back yard. Inspectors with access to major factories can ensure against large-scale evasions: the Columbia group estimates that 5,000 to 10,000 inspectors are needed for 493 ordnance and accessories plants in the United States. This number seems high, especially in view of the multiple approach recommended for every inspection assignment; but at least it represents a feasible operation, which would not interfere with normal industrial activity. Monitoring the development of biological weapons presents greater difficulties. Because their dependability as mass killers is uncertain, biological weapons are unlikely to be the first choice of countries with large stores of atom bombs;

but small countries with limited laboratory and manufacturing facilities may, it is suggested, avail themselves of what is called the "poor man's atom bomb" — dispensers of virulent material. "Continuous and close attention" should therefore be given these weapons.

These, however, are essentially secondary matters The main worry is inspection of the production of fissionables and missiles In addition to Orear's analysis of clandestine bomb testing, the book contains reports on the possibility of using established radiation protection services in an inspection scheme embracing the manufacture of nuclear explosives, on the possible "theft" of fissionable materials, on problems of inspection of missile components, propellants and guidance systems, on the "amenability of the air-borne propulsion systems industry to production inspection."

The contributors weave a pretty tight net It is hard to imagine how any militarily significant evasion of a disarmament agreement could slip unnoticed through the inspection system here envisaged The analysis is based entirely on publicly available information; no attempt was made to gain access to "secrets" In Melman's opinion this self-imposed limitation has given the report a "conservative bias"; that is, "more access and more knowledge might have revealed more strategic control points for inspection" and thus made possible the elimination of many points now regarded as essential.

The basic assumption is that between 200 and 400 large missiles could be used "to devastate effectively" any one of the larger land areas of the earth. A useful inspection system must cope with possible efforts to produce these weapons in clandestine ways and also with the problem of hidden inventories of arms produced before the inspection system was instituted. In Congressional hearings some years ago J. R. Oppenheimer and other witnesses made the point that enough fissionable material to devastate a city the size of New York could be toted around in a violin case. The purpose of this

testimony was to point up both the danger of atomic weapons and the desperate necessity for nations getting together to prohibit their manufacture and use. But this somewhat overheated illustration had unfortunate results. Those who accepted it at face value became convinced that no inspection system would work, that disarmament was altogether unfeasible and that the only prudent course for the United States was to amass an enormous stockpile of weapons. The Columbia report presents a more rational perspective. The contributors do not minimize the dangers, nor do they claim that any inspection system, however searching, is without loopholes, but the report offers convincing evidence that a comprehensive scheme can probably be framed, which would make secret rearmament so extraordinarily difficult "as to be virtually impossible." An inspection system is, after all, an alarm system. It is intended to give timely warning not of minor infractions but of illegal activities on a substantial scale, for these alone carry the threat of a decisive surprise attack.

The multiple-inspection approach recommended by the Columbia group includes among others aerial reconnaissance (useful to detect the production rather than the existence of missiles), analysis and auditing of government budgets; monitoring stations, checks on the whereabouts and activities of engineers and scientists, surveillance of plants producing airframes, chemicals and fissionables, inventory validation. The contributors have tried hard to foresee how ingenious men might contrive to fool the inspectors. This carries the analysis pretty far When serious consideration is given, for example, to testing — in connection with inventory validation — the alteration of records and the age of papers and inks, the reader begins to feel as if Dick Tracy had taken over. But these are minor aberrations, more than counterbalanced by a knowledgeable and sensible treatment of the various aspects of a tricky business.

It is no small thing to question, as this book does, the validity of the ruling notion of deterrence. It is received opinion, not confined to Mills's "elite," that genocidal weapons offer a reasonable guarantee of peace because no nation would deliberately commit suicide. But neither history nor social psychology unequivocally supports this opinion. People do not vote on going to war, and children are never asked. Deterrents may not deter, because the deliberate judgment that is essential to the if-we-kill-them-they'll-kill-us-so-let's-not-kill-them sequence rarely comes into play. Small causes may have large effects; moreover, the dropping of even a single nuclear weapon is manifestly more provocative than slicing off Jenkins's ear or assassinating an archduke. An accident can set a catastrophic nuclear war in motion, and as nuclear weapons are increasingly available and dispersed in more hands, the probabilities of such an accident must necessarily increase. "One aberrant, psychotic person or person gone momentarily out of control," Melman writes, "could explode nuclear weapons at a random place, or over any populated area. A space satellite could be mistaken for a ballistic missile" And when many countries possess nuclear weapons, if a warhead were set off in one city it might be impossible to identify the aggressor and therefore even to threaten retaliation. Thus the major assumption of the mutual-deterrence strategy falls to ground.

The best possible system of inspection techniques has weaknesses. A "foolproof" inspection system is a politician's catchword. The Melman report recognizes this truth and suggests a design to compensate for the inevitable gaps in inspection This design, called "inspection by the people," counts upon the help of plain citizens of every country to enforce international agreements. Secret rearmament requires the participation of a large number of persons, among them there are certain to be some who are not in sympathy with the evasion efforts and who might therefore be expected to report them to the international inspectorate. Such persons must be encouraged and protected. If channels of communication from the

population to the inspecting organization are always kept open, news of clandestine violations — the use of certain machines, the production of materials, the operation of prohibited processes — will almost certainly trickle through. A constant appeal urging the theme that "the international agreement is mankind's shield against mutual extermination and that a violation of this agreement is thereby a crime against humanity" would, in Melman's view, evoke a co-operative response in every country and make untenable the position of any government, or group of officials, found guilty of breaking the law. The help of such brave and good-willed men would be a most powerful adjunct to inspection.

Can it not be said that this is the most important conclusion of the Columbia study? In a sense it links together the different approaches of Mills, Pauling, Schweitzer and others who warn and strive to educate the world before it is too late. For after assessing the causes of war, analyzing the various strategies, designing meticulous disarmament and inspection schemes, one faces the irreducible truth that we can live together or die together. It is too much to expect men all at once to throw away their weapons and embrace. But a beginning must be made, and that beginning depends, as the engineers of the Melman report tell us, on conceding to each other what moral capacity we have, on having faith even in the enemy's awareness of his humanity.

"We cannot," says Schweitzer, "continue in this paralyzing mistrust. If we want to work our way out of the desperate situation in which we find ourselves, another spirit must enter into the people It can only come if the awareness of its necessity suffices to give us strength to believe in its coming. We must presuppose the awareness of this need in all the peoples who have suffered along with us We must approach them in the spirit that we are human beings, all of us, and that we feel ourselves fitted to feel with each other; to think and to will together in the same way . . ."

ATOMIC HARVEST

WHEN a historian withholds important facts likely to influence the judgment of his readers, he commits a fraud, as Bagehot once remarked When a government withholds important facts likely to influence the judgment of its people, it commits a graver fraud. Unfortunately these are offenses unknown to the law, though their harmful effects are incalculable.

A prime example of official juggling — and of its consequences — is brought out in this book by Leonard Bertin, science correspondent of the *London Daily Telegraph.** The

* Leonard Bertin, *Atomic Harvest,* London, 1955.

subject of his account is Britain's atomic-energy industry He describes its growth from small wartime beginnings to the great plants at Harwell, Capenhurst, Windscale and Calder Hall, the scientific and technological labors that made possible the expansion; the military and peaceful benefits that Britain hopes to derive from atomic energy. All this makes a readable and informative report; but the chief interest of the book for me lies in two early chapters, which present a timely recapitulation of a critical episode of recent history: the breakdown of the Anglo-American partnership in atomic energy.

Most of the facts, to be sure, are not new. They can be extracted from the Smyth Report, the official British and Canadian atomic energy statements of August 1945, Robert Sherwood's *Roosevelt and Hopkins*, Winston Churchill's war memoirs, and various papers and documents made public in the last few years. But the material is here for the first time pieced together, and while this is a partisan account, which exaggerates the British contribution in atomic energy, as others have exaggerated the United States contribution, it explains pretty well the nature, the causes and the results of the breach. It is a story worth pondering, more as a guide to the future than as another revelation, so fashionable in our period, of who killed Cock Robin.

To understand the culminating political fiasco it is necessary briefly to review the scientific background.

In January 1939, Otto Hahn and Fritz Strassmann of Berlin announced their discovery that an isotope of barium was produced by the neutron bombardment of uranium A couple of weeks earlier Hahn had imparted this information in a letter to Otto Frisch, who was spending Christmas with his aunt Lise Meitner in Stockholm. Frisch, who was on the staff of the Institute of Theoretical Physics in Copenhagen, passed on the news to Niels Bohr, but not before making a

profound and fateful conjecture. "It looked [Frisch told Bertin] as if the absorption of the neutron had disturbed the delicate balance between the forces of attraction and the forces of repulsion inside the nucleus It was as if the nucleus had first become elongated and then developed a waist before dividing into two more or less equal parts in just the same way that a living cell divides." From an American biologist Frisch learned that the process by which bacteria and other organisms reproduce themselves is called "fission." He gave the same name to the newly discovered nuclear phenomenon.

Bohr brought the news with him to the United States and told his former student John A. Wheeler and others at Princeton about it. The word spread to Fermi and his associates at Columbia Immediately several groups began a search for the massive pulses of ionization to be expected from the flying fragments of uranium. Within a few days the fission theory was experimentally confirmed in four laboratories in the United States, by Frisch in Copenhagen, by Frédéric Joliot (later Joliot-Curie) in Paris. The race was on: physicists in this country and in Europe drove themselves furiously to broaden their knowledge of the subject Sensational stories began to appear in the press. When L A. Turner of Princeton wrote an article on fission in the December 1939 issue of *Reviews of Modern Physics*, he cited and analyzed nearly a hundred papers on the subject published during the preceding twelve months.

The crucial question was whether a chain reaction was possible This turned, as Henry D. Smyth pointed out in his account, on the result of a competition among four processes. escape of neutrons before capture, nonfission capture by uranium, nonfission capture by impurities, fission capture. One of the first groups off the mark were H. von Halban, Lew Kowarski, and Frédéric Joliot in France They made experiments to ascertain the rate of production of neutrons, compar-

ing the absorptive capacity of a uranium compound dissolved in water with that of a solution of a nonuranium salt. Their conclusions were basically correct but overoptimistic — for every neutron that splits a uranium atom, they calculated, between three and four additional ones are produced.

It was generally known by 1940 that to harness atomic energy, two different processes would have to be achieved, depending on whether one wanted power or an explosion. To get atomic power required a chain reaction induced by slow neutrons; to get a bomb required a chain reaction induced by fast neutrons, in separated uranium 235 or plutonium. It was also known that fission neutrons had high speeds, that the neutrons had to be slowed to produce power and to convert U 238 into plutonium, and that various substances — including graphite, heavy water and beryllium — could be used as moderators to slow down fast neutrons. On the basis of this knowledge the French scientists in 1940 made designs of heavy water reactors and graphite reactors to be used as sources of power. Lest anyone suppose that pure scientists are above sordid concerns, Bertin relates — not without relish — that the French team "hurriedly made the first application for patents of chain-reacting piles, not very different in general principle from those now operating in many parts of the world."

I need not devote time to the parallel United States developments during the period, since they have been often and fully described, but the British side of the story, much less widely known, merits some attention.

The importance of the Hahn-Strassmann announcement was, of course, not overlooked in Britain. Within a short time after the news from Germany, Sir George Thomson, son of the famous J. J. and himself a Nobel prize winner in physics, went to the Air Ministry and asked for a ton of uranium oxide. He explained that he needed it to conduct experiments on the possibilities of atomic power and atomic bombs at the Imperial

College of Science and Technology in London where he was teaching. The Air Ministry supplied the material and he began to work, but the first results were disappointing. He concluded that unless large supplies of heavy water were made available, a chain reaction in uranium oxide could not be realized. To the end of the war, fortunately (as Sir George pointed out to Bertin), the "most distinguished physicists in Germany thought the same."

But the most distinguished physicists *in* Germany were by no means the most distinguished physicists of Germany. Albert Einstein, Hans Bethe and Leo Szilard were in the United States, Lise Meitner was in Sweden, Otto Frisch was in Copenhagen, Sir Frederick Simon and R. E. Peierls were in Britain. These and other refugees — including Fermi from Italy — were to cost the master races dear. Like the Egyptians, they soon had cause to ask: "Why have we done this, that we have let Israel go from serving us?" In March, 1940, word came to Thomson from Peierls and Frisch (who had moved to Britain from Denmark) that a bomb made of uranium 235 was probably feasible. A committee was promptly set up under Thomson to go into the matter. The cover name selected for the group was *Maud*, by which choice hangs an amusing tale.

When the Germans overran Denmark, Bohr sent Frisch a telegram, the last part of which said, "Tell Cockcroft and Maud Ray Kent." Neither Cockcroft nor Frisch knew a "Maud Ray Kent" and concluded the words were an anagram for "Radium taken," intended to warn that the Germans had confiscated the Danish stocks of this valuable and significant commodity. At any rate it was the telegram that suggested the name for the committee. Years later, however, Thomson mentioned the fact to Bohr, who was astounded. It turned out that he knew a lady named Maud Ray who lived in Kent, he had wanted word sent to her that he was safe and well. Nor was this the whole of the comedy. For among civil servants who re-

garded themselves as being in the know, the name *Maud* was interpreted as a block of initials representing "Military Application of Uranium Detonation." These ingenious conjectures remind one of some of the hypotheses of cosmology.

Among the problems tackled by the Maud committee were the separation of light from heavy uranium, the physics of neutron capture and fission, the critical mass of U 235 needed to provide an explosion, and various related chemical matters. Peierls, Simon, James Chadwick, Norman Feather and the Swiss, Egon Bretscher, led these studies, which made promising headway.

Meanwhile a daring plan was conceived by that extraordinarily gallant and intrepid agent, the late Earl of Suffolk. As scientific attaché in Paris, he had compiled a list of 150 French scientists and technicians who were to be smuggled to Britain if France fell. When the Germans tore through the Maginot Line, the plan was put into execution, with Suffolk in charge. Halban, Kowarski and Joliot were on the list, but Joliot preferred to stay in France. In the confusion after the capture of Paris, only 40 of the men Suffolk had selected reached Bordeaux. There they were taken aboard a small British collier, the *Broompark*, for the hazardous voyage across the channel. Besides Halban, Kowarski and other scientists, the cargo included several million dollars worth of industrial diamonds, and thirty-six gallons of heavy water, comprising most of the then existing stock in the world. Suffolk, who numbered carpentry among his array of talents, built a raft, and the heavy water and diamonds were lashed on top. A "solemn agreement" was made that if the ship was mined or bombed, the survivors were to cut loose the raft and try to make port, but in the event of a torpedoing, in which case the Germans would have seen the raft, it was to remain tied to the *Broompark* when it sank. The *Broompark* arrived safely in Falmouth, although a neighboring ship exploded on a mine. The Earl of Suffolk,

afterward killed in attempting to disarm a German bomb, had brought off another brilliant coup *

Upon landing in England, Halban and Kowarski, putting first things first, entered into preliminary negotiations to "safeguard their rights to any new discoveries" When this was settled, they set up shop in the Cavendish Laboratory at Cambridge and resumed their researches on reactors. According to Bertin they made notable progress, and by late 1940 had proved conclusively the feasibility of a chain-reacting, homogeneous, heavy-water reactor If this claim is to be credited, they anticipated by more than eighteen months experimental demonstrations in the United States that a heterogeneous, graphite-moderated pile would sustain a chain reaction The author says that when the Frenchmen's findings were "reported to the United States . . they were immediately pooh-poohed." They are not mentioned in the Smyth Report, and it may be that even Chadwick's slightly qualified endorsement — he reported that while the claims were a little ebullient, their "general import was quite convincing" — did not suffice to silence our skepticism Bertin seems to feel that nothing less than British and French honor were impugned by our attitude, and he emphasizes the fact — which is true, though the use he makes of it is malicious — that when the United States finally did catch up with Halban and Kowarski, it was the achievement of "foreign-born scientists working in America." This is petty

* Winston Churchill's account of the later exploits of the Earl of Suffolk is worth quoting The Earl enlisted in the deadly game of trepanning and then deactivating time bombs "One squad I remember which may be taken as symbolic of many others It consisted of three people — the Earl of Suffolk, his lady private secretary, and his rather aged chauffeur They called themselves 'the Holy Trinity' Their prowess and continued existence got around among all who knew Thirty four unexploded bombs did they tackle with urbane and smiling efficiency But the thirty fifth claimed its forfeit Up went the Earl of Suffolk in his Holy Trinity But we may be sure that, as for Greatheart, 'all the trumpets sounded for them on the other side'" Winston S Churchill, *The Second World War*, Volume II, *Their Finest Hour*, pages 362 363 New York, 1949

stuff, but it bred resentments that even now are apparently not forgotten.

The British work moved steadily forward, and there were frequent interchanges of information on their progress and ours Members of the British Mission in Washington were invited to attend meetings of the National Defense Research Council subcommittee on uranium, and United States representatives in London attended meetings of Maud. By the summer of 1941 Maud made a high-level report on the possibility of a U 235 bomb and a pile to produce power and plutonium. (Three National Academy reports that appeared in 1941 showed the same trend of opinion, though the British were perhaps a little more confident) Simon prepared a cost estimate for a full-scale gaseous diffusion plant; the figures frightened him and he decided he had better forward his lowest estimate lest the Cabinet itself suffer a chain reaction After hearing the opinions of his advisers, Churchill drafted one of his classic minutes·

Gen Ismay for Chiefs of Staff

> Although personally I am quite content with the existing explosive I feel we must not stand in the way of improvement and I therefore think that action should be taken in the sense proposed by Lord Cherwell and that the Cabinet Minister responsible should be Sir John Anderson I shall be glad to know what the Chiefs of Staff think

The Chiefs recommended a "maximum priority" A decision was taken to build a pilot plant for uranium in Britain and, if possible, a full-scale plant in Canada.

The Department of Scientific and Industrial Research set up a new unit called the Directorate of Tube Alloys This cover name corresponded to our Development of Substitute Materials Project (in the "Manhattan District" of the Corps of Engineers). The group was first to have been called the Directorate of Tank Alloys — because Britain had become

"tank-conscious" as a result of the German blitz in France the year before, but then Anderson hit upon "Tube Alloys" because a diffusion plant would require miles of tubing of a special alloy to resist corrosion. It was a nicely misleading yet reasonable name.

It was one thing to create the administrative machinery, quite another to erect the plant. Britain was heavily committed in manpower and resources, and the war was not going well. Bombing attacks were frequent and the threat of invasion was ever present. A United States proposal, therefore, to "co-ordinate or even jointly conduct" the atomic energy program, contained in a letter from President Roosevelt to Churchill, was altogether welcome The letter was sent October 11, 1941, and it was followed up shortly by a visit from Harold Urey and George Pegram to study the work going on in Britain The day before Pearl Harbor the U S Office of Scientific Research and Development announced to "S-1," its uranium section, that a vigorous program would be undertaken to make a bomb. British scientists were sent to the United States and Canada for consultation, and Vannevar Bush advised a British official, M W Perrin, that he favored the execution of a plan to move the bulk of their research and development to Canadian laboratories. As a result, Halban led a team to Montreal In June 1942, Roosevelt gave the go-ahead to our major industrial project, and on August 13 the Manhattan District was born.

It was generally assumed — or, at any rate, the British assumed — that the co-operation already achieved would be extended, now that our gigantic program was going forward and the major British effort had been transferred to Canada By autumn, however, it was clear that the channels of Anglo-American communication on the subject of the atom, far from growing wider, were becoming constricted British scientists soon discovered that they could learn very little about our progress on either the theoretical or the practical side. Fermi's

group in Chicago kept open a line to the Montreal group, but in general if the British were able to pick up anything at all, it was only out of the corner of some amiable fellow's mouth and not through official channels. In this respect, it should be pointed out, the British were not worse off than most United States scientists on the project, for they were strictly "compartmentalized" No one was told any more than high authority thought he needed for his particular job. This practice led to certain costly blunders but was regarded as essential to security

In due course the breakdown of communications came to the attention of the Prime Minister. It was a painful surprise. From the beginning he had emphasized the necessity of maintaining a full interchange of information. He had discussed the matter with Roosevelt at Hyde Park in June 1942 and had come away with the understanding, as he afterward cabled Harry Hopkins, "that everything was on the basis of fully sharing the results as equal partners." "I have no record, but I shall be much surprised," he added, "if the President's recollection does not square with this."

At Casablanca, in January 1943 Churchill expressed his concern and Hopkins promised to look into the question on his return to Washington. This he failed to do, and on February 16 Churchill cabled, "I should be grateful for some news about this as at present the American War Department is asking us to keep them informed of our experiments while refusing altogether any information about theirs." Hopkins replied, asking that Anderson "send me a full memo by pouch of what he considers is the basis of the present misunderstanding, since I gather the impression that our people feel that no agreement has been breached" A long responding cable sent by Churchill, though he was sick at the time, recited the record of Anglo-American dealings on atomic energy and asserted that "fair play" demanded a restoration of the policy of joint effort. He concluded. "Urgent decisions about our programme

both here and in Canada depend on the extent to which full collaboration between us is restored and I must ask you to let me have a firm decision on United States policy in this matter very soon"

After further remonstrances by Churchill, Hopkins conferred with the President, Secretary of War Stimson, Bush and James B Conant, who was Bush's *alter ego* in OSRD affairs A memo by Bush (quoted in Sherwood's biography) stated that information would be furnished only to individuals "who need it and can use it now in furtherance of the war effort" To step beyond this policy, he said, "would be to furnish information on secret military matters to individuals who wish it either because of general interest or because of its application to non-war or post-war matters." This would "decrease security without advancing the war effort." On the surface this looked a sound position, but the British objection, as reported by Sherwood, was equally sound. Our policy, they said, gave us the excuse to withhold from them all the fruits of joint research, including the possible industrial uses of atomic energy after the war In the event, this is exactly what happened. The security argument prevailed during the war, afterward, Congress, grossly misled by the Executive Department as to the nature of the British contribution and the Anglo-American agreements, passed legislation that forbade the transfer of atomic-energy data to any foreign country.

In the early summer of 1943, Stimson and Churchill discussed the atomic-energy impasse. Stimson took the position that the British pressure to obtain information was economically motivated and that "the Americans could not see the fun of spending billions of dollars to find out things for someone else to use in a competitive post-war world." At least this put the cards on the table. The British were deeply concerned, but further discussion was postponed until the heads of state met at Quebec a month later. There an agreement was reached, "typed out on Citadel notepaper," which provided, among

others, for the setting up of a Combined Policy Committee "to keep all sections of the project under constant review" and for a "complete interchange of information and ideas on all sections of the project between members of the Policy Committee and their immediate technical advisers." The policy of compartmentalization was to be maintained in that exchanges at the working level were to take place only "between those in the two countries engaged in the same sections of the field." Bertin makes the point that this gave United States authorities the excuse to withhold information on production techniques since the British were not engaged in this section of the field. The facts seem at least partially to bear out this contention, for no British scientist or engineer, according to Bertin, "was ever allowed to enter the plant at Oak Ridge and our men were not even told whether the ideas that they had developed [on gaseous diffusion] had worked satisfactorily." Still, it is not altogether clear why, under the terms of the Quebec agreement, the British members of the Combined Policy Committee were denied access to these data — if, indeed, this was the case. (It is worth noting that while the United States representatives on the committee included Bush and Conant, the British representatives were Field Marshal Sir John Dill, and J. J. Llewellin, Minister Resident in Washington for Supply, who possessed no scientific training.)

But the most important provision adopted at Quebec related to the postwar uses of atomic energy. The fourth article stated that "in view of the heavy burden of production falling upon the United States as the result of a wise division of war effort, the British Government recognize that any post-war advantages of an industrial or commercial character shall be dealt with as between the United States and Great Britain *on terms to be specified by the President of the United States to the Prime Minister of Great Britain.* [My italics.] The Prime Minister expressly disclaims any interest in these industrial and commercial aspects beyond what may be considered by the President of the United

States to be fair and just and in harmony with the economic welfare of the world."

Whether or not this was a wise provision; whether or not it demonstrated — as Bertin contends — Churchill's magnanimity, or Roosevelt's shrewdness, whether or not it formed the basis for a workable agreement, which Congress would have approved, in the postwar period, one fact is certain: never was a solemn treaty between heads of state more completely disregarded than this one. The agreement was made in secret and for many years was kept secret. Churchill made it public in April 1954; Congressional leaders had been apprised of it somewhat earlier but not in time to inform their debates and decisions on the atomic-energy legislation adopted in 1946.

As a participant in some of these events, I am able to corroborate Bertin's statement that the McMahon Act was drafted, debated and passed by a Congress completely unaware of the terms of the agreement with the British and Canadians. While serving as counsel to the Senate Special Committee on Atomic Energy, I learned by chance, as did Senator McMahon, that there had been an agreement at Quebec. Repeated attempts to discover its contents were unsuccessful The Senator and I called upon President Truman early in 1946 to see whether he could enlighten us We came away empty-handed. Neither the White House nor the State Department thought it advisable to share their knowledge with a Senate committee (We were not unaccustomed to this attitude The War Department consistently refused to give the Committee essential information on atomic bombs.) Senator McMahon, according to Bertin, "to his great embarrassment, was only shown the text of the Quebec agreement after he had accepted the chairmanship of the Joint Congressional Committee on Atomic Energy" — i.e., in September 1946 David Lilienthal, it is stated, got the information when he was appointed chairman of the AEC. But this assertion is doubtful, since there is evidence that the members of the Acheson-Lilienthal committee, which drafted the

famous control plan, had been told of the Quebec understanding.

It is unnecessary to read sinister motives into the decision of the Executive Branch not to make the legislature privy to the facts. An unblushing mendacity and astonishing high-handedness characterized this policy, but it is clear that disclosure would have loosed a storm on the administration; nor is it likely that Congress would have regarded itself as bound by President Roosevelt's more or less private and altogether vague commitment. Beyond question, Congress had the right to know of it, and the Executive had the duty to impart it. No one can say whether Congress would have acted differently if they had seen the agreement Its provisions would not have been welcome, but at least our representatives would have been able to act with full knowledge, and the public would have been able to judge their action. Disclosure would also have countered the myth, still widely believed, that atomic energy was an exclusively American achievement and possession. Gordon Dean, in his book *Report on the Atom*, described the common misconception as follows "Atomic energy was discovered and first developed in the United States in secret during World War II. Although we are still ahead in the field, the Russians, with the help of traitors, successfully stole enough of our key secrets during the war to develop a program of their own and are now hot on our heels. Our Allies, the British, because some of their scientists came over to help us with our war-time program, also know something of these matters, but are actually running a very poor third." No thoughtful person can fail to wonder to what extent the myth made more difficult the attainment of international control of atomic energy

One asks why the British kept quiet about the Quebec agreement in the face of legislation "which made no distinction between countries like Britain and Canada and our late enemies or those with whom at the time we were engaged in a cold war" The answer is fairly obvious The British des-

perately needed our help and co-operation in the years after the war They were in no position to risk strengthening isolationist sentiment by ventilating a secret treaty. The British did what they had to do. They kept mum and built up their own establishment. And they did pretty well. Except in magnitude, their atomic-energy industry is at least the equal of ours — as to weapons, atomic power and isotopes.

Atomic Harvest is a valuable book. It contains errors of detail, improper emphases, and doubtful inferences. But the key historical account is essentially dependable and always honest. There is no reason to criticize its occasional flashes of anger. This is how the British feel and we may as well know it. Bertin is to be congratulated as a journalist who has done his job in the best traditions of journalism.

PART 4

THE COMMENDABLEST PHRASES

"PROVERBS," observed John Hay, "are invaluable treasures to dunces with good memories." As one who can scarcely ever remember the proverb suitable to the occasion, I am less cut by this unkindness than perhaps I should be. For having just now finished reading the second edition of the splendid *Oxford Dictionary of English Proverbs** I must confess to being imbued with a great new love of proverbs. Not that every proverb here presented is a favorite; nor that every favorite proverb is here presented; nor that one can fail to recognize that most of the proverbs

* *The Oxford Dictionary of English Proverbs*, compiled by William George Smith, second edition revised by Sir Paul Harvey, with an Introduction by Janet Heseltine, Oxford, 1948

included are as dead as a herring, or, as one might say, as "dead as Queen Anne the day after she dy'd." Yet the book makes quite clear what was meant by Florio when he wrote that "Proverbs are the pith, the proprieties, the proofes, the purities, the elegancies, as the commonest so the commendablest phrases of a language"; and I not only join in Samuel Palme's lament but consider his the true explanation of the proverb's downfall: "Wise men make proverbs, but fools repeat 'em."

Janet Heseltine's introduction to the *Dictionary*, without being pedantic, is a learned and readable essay on the rise and fall of this form of literature and speech. An early example of the English proverb found in an eighth-century letter by Wynfrith, the Northumbrian missionary, is the familiar "Delays are dangerous," except that there it reads, in translation, "a coward [sluggard?] often misses glory in some high enterprise, therefore he dies alone."

The homilies and chronicles were full of proverbs taken from the Bible and from the writings of Church Fathers; soon they were enriched by materials of foreign origin extracted from Greek and Roman literature, from French and other Continental fables and romances. The art of rhetoric, so thoroughly cultivated in the Middle Ages, employed the proverb as one of its chief adornments. Proverbs were used to awaken attention in introducing a discourse or sermon, they served to point a moral in an age when men were not content merely to nibble daintily at didactic ethics. Medieval secretaries were well advised to keep on hand lists of proverbs (some of which have been preserved) for the drafting of letters on the formal lines "laid down by the *Ars Dictandi* of the schools."

By the middle of the fourteenth century, proverbs were being widely disseminated through the writings of Gower, Lydgate, Chaucer and their contemporaries. As a scholar who loved "to have at his beddes heed Twenty bookes clad in blak

or reed," and as an observant traveler who enjoyed being with people and carefully noted what they said and did, Chaucer was a master of the growing lexicon of platitudes. In the tale of Melibeus he could exercise, with modifications that reflected his genius as a poet and satirist, the medieval "love of sententiousness," which he shared, and thus he gave his hearers "a moral tale vertuous" with "more of proverbes, than ye han herd bifore."

Printed books gradually took over the role of manuscript or the spoken word, thus proverbs were ingrained even more deeply into literature. From Caxton's press came the *Dictes and Sayings of the Philosophers*, a dreary collection translated from the French, which nevertheless went through three editions in twelve years. Travelers on the Continent brought back Italian, Spanish and French works and, as Miss Heseltine points out, the proverbial wisdom of other peoples was put into "fresh English words" and absorbed, often without a trace of their origin remaining, into the writing and speaking habits of the English.

The stream reached its crest in Elizabethan times. The age was "soaked in proverbs." They were spoken, written and invented by scholars and wits, by the Queen herself and by ordinary men. John Heywood's *Dialogue Conteining Proverbes* and Thomas Wilson's *Arte of Rhetorique* were among the books studied by "every young writer of the day." Drayton wrote an unfortunate sonnet in proverbs; and in 1601 Thomas Jones, M.P., made a speech in Commons on a "Bill to avoid the Double Payment of Debts," composed entirely of proverbs. Though Jones favored passage of the bill, the speech is not to be recommended.

Yet of all these ardent practitioners, it was Shakespeare alone who used the old puns and the new, the dictes, sayings, maxims, aphorisms, adages "old say'd saws" and platitudes with distinction and originality. *Love's Labour's Lost*, Miss Hesel-

tine reminds us, was "crammed with puns, allusions, play upon words, and play upon proverbs, which would all at once be caught up by the audience of the day." In later plays he sometimes parodied prevailing literary fashions, but the proverb, more or less faithfully repeated, remains for him a remarkably effective and evocative instrument. "Constant dropping wears the stone" recurs in his plays in many forms; *Hamlet* has its share of old adages, and not merely those mouthed by Polonius; the jest made "by Lear's poor, shivering fool, when all around him he sees the elements, his master's wits, and his own world dissolving" ("And I'll go to bed at noon?") is the perfect example of Shakespeare's skill in the use of trite sayings for no one but he, writes Miss Heseltine, would have "dared to let a heart break on a proverb"

Ben Jonson had a lesser opinion of the value of proverbs (they were useful chiefly, he thought, to "illuminate a cooper's or a constable's wit," and Mr. Downright in *Every Man in His Humour* has "not so much as a good phrase in his belly, but all old iron and rusty proverbs"), and indeed within a few decades this literary fashion of more than three centuries began to wane By the time Chesterfield was advising his son that recourse to proverbs was proof of "having kept bad and low company," scholars and antiquarians had begun to collect proverbs and use was giving way to lore The decline, to be sure, was neither sudden nor absolute. Old proverbs survived, new ones continued to be invented, and as recently as the nineteenth century they often were to be found in novels and in the writings of Victorian moralists. The literary conventions of our own period, however, as rigidly condemn the use of proverbs — except by way of irony — as earlier conventions required it.

At least three circumstances attendant upon this change of taste may be noted The first, writes Miss Heseltine, is "that the history of the use and disuse of proverbs is a progression

from the concrete to the abstract." The evolution of other literary forms, of all intellectual and speculative expression, for that matter, follows, with many turnings and regressions, the same direction But in so far as the proverb is peculiarly a form of folk expression, it loses contact with its richest source as it departs from everyman's everyday experiences and observations. Though truly, how the cock, the sow, the rat, the louse, the weather, the wench, the lawyer, the dog, the doctor, the liar, the thief, the hypocrite, the horse, the priest and the goose behave is of no less concern to the scientist, philosopher and literary man than it is to the proverb maker

The second point to remark is that proverbs, even if no longer uttered sententiously and with conscious purpose, have found their way into the idiom of the language and are used "insensitively." As the child is father to the man, so the proverb is the parent of contemporary modes of expression. It has played a not inconsiderable part in determining the rhythm, emphasis and timing of our literature and speech, just as it was formerly the surrogate of the ethical principles and precepts defining our culture.

And the third point is that for all the intellectual gains accruing to us by virtue of the trend from the concrete to the abstract, our spoken language is poorer in having lost the habit of the proverb. Only a bore or a senator will remark that Rome was not built in a day, that all is not gold that glitters, that not a stone should be left unturned, that misfortunes never come singly, or that a soft answer turneth away wrath. Yet there is reason to doubt that the manner in which these same sentiments are uttered today — and of course they are uttered, by logical positivists, by statesmen, bankers, newsboys and barbers — conveys the thought (if there be any) equally well The coin of proverbs has been defaced by use and misuse; still the defaced token retains its metal and even the symbol of authority, where its modern counterpart of exchange is

often no more convincing than a mere bookkeeping transaction.

But now let me set down some examples, partially to illustrate what has been said. Observe how the proverb goes flat with refinement.

"An ass endures his burden but not more than his burden" is surely a better image than the insipid "Enough is enough." The banal aphorism about falling between two stools derives from the vigorous "Between two stoles, the ars goth to grwnd."

A favorite, which I was happy to find — "He will not change his old *Mumpsimus* for the new *Sumpsimus*" — is here fully glossed (see page 88 for clarification), and it occurred to me, as I saw it again, that it is the perfect rebuff for the salesman seeking to persuade you of the advantages of the new gyro-synchro-auto-hydro-turbo mesh. "Charity begins at home" is more vapid than Wyclif's "Charite schuld bigyne at hem-self," or even than "Charity and beating begins at home," from Beaumont and Fletcher.

In place of the infinitely dull articles on the problems of marriage, to be found as regular magazine fare, there is the succinct old adage: "When a couple are newly married the first month is honeymoon or smick-smack; the second is hither and thither; the third is thwick-thwack, the fourth the Devil take them that brought thee and I together."

Many proverbs that sound as though they had been recently coined turn out to be centuries old. "The Crocodile," said Lyly in his *Euphues* (1579), "shrowdeth great treason under most pitiful teares." It was Cato who warned, "*Inter os atque offam multa intervenire posse,*" more modernly: "Manye thynges fall betweene ye cuppe and the mouth," or "Much falls between the chalice and the chin," or "There is many a slip," etc. "I am ded as dorenail" was familiar in the thirteenth century, "A dogge hath a day" in the fifteenth; "Tell it not in Gath" was used by Wyclif ("Woleth ze not telle in Geth, ne telle ze in . . . Aschalon"); "In one ear and out the

other" found a place in Chaucer's *Troilus* ("Oon ere it herde, att' other out it wente"); getting a horse to drink when you had got him to water was a problem that had turned into a proverb by 1175, and "to kick the bucket" does not derive, say, from Chicago but rather from Norfolk (England) where the beam from which a slaughtered pig is suspended is called the "bucket" and thus for centuries the phrase has meant "to die."

The famous goose is older than the Borgias, the Piccolominis or the Percys; but of the many versions of her fate none is better than Lyly's: "A man . . . had a goose, which eurie daie laid him a golden egge, hee . . . kild his goose, thinking to haue a mine of golde in her bellie, and finding nothing but dung, . . . wisht his goose aliue."

"Who buies land buies war" is not altogether without its moral for us; nor is "All the weapons of war will not arm fear"; and "Who draweth his sword against his prince must throw away the scabbard" is a more eloquent statement of the problem of "disloyalty" than has fallen from the lips of J. Edgar Hoover. And to President Truman, concerned with the problem of subversion, I commend Bacon's "Lett Princes . . . not be without some person of great Militarye valew . . . for the repressing of seditions. . . . But lett such one. be an assured one, . . . orels the remedy is warse than the disease." "Auoyd your children," warned John Heywood in 1546, "small pitchers have wide eares" — still good by progressive-education standards and by the maxims of Freud.

In these pages I learned for the first time of "Pee and Kue"; of bringing "Pepper to Hindostan," "Salt to Dysart and puddings to Tranent"; of the advantage of inflicting upon an assailant a "Recumbentibus" (guaranteed "to smot in-two both helme and mayle"); of coming to shoe the Pasha's horse and getting instead the beetle's leg, of Tweedledum and Tweedledee (originally used, it would seem, of two rival musicians);

of the "Ring of a Rush," the "Ring of Gyges" and the "Ring of Polycrates"; of time described as "a file that wears and makes no noise", of not trusting "though he were my brother, He that winketh with one eye and looketh with the other"; of how and why "It would vex a dog to see a pudding creep", of the Vicar of Bray and of the impossibility of doing two things at once ("A man cannot whistle and drink at the same time").

Also, it was high time to learn the origins of "No case: abuse the plaintiff's attorney" (c. 1600), or the early version "where greet fyr hath longe time endured . . ther dwellth som vapour of warmness" (Chaucer); or that things were so hectic in the days of James I that it was thought "No newis is better than evill newis"; or that putting a man's nose out of "ioynte" was a figure of speech in 1581, while keeping it "hard to the grindstone" was a practice remarked on in 1532, or that "oisters" were not to be eaten, even in 1577, during the "foure hot moneths of the yeare, that is Maie, Iune, Iulie & August, which are void of the letter R"; or that it rained "dogs and polecats" in 1653; or that Lyly observed (?) the aversion of bulls to red rags, or that the Church was properly tagged for its venality in "No penny, no paternoster" (Tyndale, 1528); or that having "one foot in the grave" (i.e., "Thy graue is open, thy one fote in the pyt") was a common saying in 1509; or that "paying through the nose" meant paying through the nose long before the seventeenth century; or that the celebrated idiots' refrain, "In time of peace prepare for war," stems from Vegetius; or that long before the appearance of Dr. Fishbein's *Home Medical Adviser* (viz., 1500) it was commonly known that "The best physicians are Dr Diet, Dr. Quiet, and Dr Merryman" — obviously an even greater threat to the A.M.A., should the proverb leak out, than socialized medicine; or that Pliny, in Holland's translation, wrote, "When an house is readie to tumble downe, the mice goes out of it before," which Shakespeare in *The Tempest* gave as "A rotten carcass of a

boat . . the very rats Instinctively have quit it"; or that "Rich men are stewards for the poor" (1552) which is just, after all, what the N A M. always says they are, so why raise taxes? ; or that "saving one's bacon" dates from the sixteenth century, or that Chaucer knew of "sixes and sevens" ("sexe and sevene") ; or that the "twinkelynge of an yze" (Wyclif) was a measure of time even before Bulova; or that the "rap" was a counterfeit coin in eighteenth-century Ireland and thus not to give even a rap was to give very little indeed.

A fat, comfortable, impeccably edited volume of inexhaustible richness and variety. In gathering these samples of its contents I can only hope, as did Florio, that what was "a paine to me [will be] a gaine to thee."

A MILLION YEARS FROM NOW

ABOUT twenty years ago William Olaf Stapledon, an imaginative English novelist, published *Last and First Men*, a projected history of mankind from the present to its presumed finish about five trillion years from now. His narrative ended with the earth, inhabited by the eighteenth species of *Homo sapiens* (reckoning ours as the first), about to be destroyed by a solar convulsion. *Last and First Men* is a book not easily forgotten. I returned to it when reading Sir Charles Darwin's volume and found it as engrossing as on first acquaintance.

Compared to Stapledon's story the best science fiction today is vulgar and paltry. Stapledon's book derived its power not from its speculations as to the marvels of superscience, nor even from its graphic descriptions of the cataclysms period-

ically engulfing the physical world, but rather from a remarkable treatment of the evolving nature of man himself. The subject is one that only the ablest writers venturing into this sphere of imagination, E. M. Forster and H. G. Wells among them, have been able to treat on a serious level. Stapledon was concerned primarily with the psychological traits of the successive human species. In his story one civilization after another grows up, flourishes and crumbles against a background of climatic changes, geological catastrophes, world epidemics, global wars, Martian invasions and the like Again and again the human race is all but wiped out; then new species arise, often superior intellectually and physically to the races that have gone before. But the recurrent theme is the comedy of Eden. man is unable to let well enough alone; sooner or later he becomes bored and restless even in Paradise Envy, curiosity, quarrelsomeness, suspicion, brutishness — sometimes dormant but never absent from his nature — reassert themselves and invariably encompass his downfall.

A similar theme runs through Sir Charles Darwin's *The Next Million Years* * Sir Charles, a distinguished physicist and grandson of the founder of the evolution theory, has not written a book of pure fancy and weird conjectures. His "time machine" is as dependable a vehicle as scientific knowledge can contrive. The million-year journey is conducted under the strict auspices of rational thought The journey is no less interesting for this discipline. Reason and imagination are blended to provide a remarkably varied and stimulating itinerary.

It would be rash, as Sir Charles acknowledges, to predict the history of the next ten years But every insurance company knows that long-range predictions are safer. Indeed, it is easier in some ways to say what will happen than what has happened Assuming a moderate consistency in nature, it is possible on

* Charles Galton Darwin, *The Next Million Years*, London, 1952

the basis of present knowledge to make certain fairly reliable forecasts over the next million years.

The classic example of large-scale prediction is Boyle's law of gases We know almost nothing about the behavior of this or that gas molecule enclosed in a container before us, yet it is possible to predict the behavior of the whole ensemble of molecules with precision Sir Charles proposes a Boyle's law of human behavior over the long run To this end he avails himself of the same exquisite and paradoxical tool of prophecy, the theory of probability. To derive Boyle's law it is essential to know something of the internal conditions of the gas (viz, that the molecules constitute a conservative dynamical system, which is to say that the total energy of two colliding molecules is conserved) and of the external conditions, namely, the character of the containing vessel. The analogous law of human behavior, while not determined by statistical mechanics, also rests upon a knowledge of internal and external conditions. For the "wildly varying and violently colliding" gas molecules, Darwin substitutes the more complex human molecules, less varied, perhaps, in their trajectories but no less violent in their collisions. For the container, he takes the earth itself. On this foundation he builds a system of human thermodynamics.

The Next Million Years is not concerned with the trivia of history. The events historians consider important and stirring — wars, crusades, political upheavals, migrations, the crises of civilization, even such phenomena as ice ages — are passed over as of no consequence on this time scale What matters is what will be happening "most of the time" on the endless train of summer afternoons The aim of the book is to "form an estimate of the normal and not the exceptional course of the life of mankind on earth."

For the forecasting historian the crucial question is: who will survive? This must "override all questions as to whether future man will be better or worse than present man, or

whether he will rise to heights we cannot conceive or sink to levels we should despise." A species that dies out has by an inexorable principle demonstrated its unworthiness to live, however admirable or noble it may be by moral standards. "The dead shall not breed" is the dictum of natural selection; not the meek, but the survivors, shall inherit the earth.

In the long run, says the author, population must always press upon resources Malthus's law is not mathematically exact and also must be modified by factors he could not have foreseen Nonetheless it is clear that an unchecked population will outrun its food supplies. Undoubtedly food production can be increased substantially tenfold, say, by bringing more land into cultivation and by improving agricultural methods, a thousandfold, perhaps, by ingenuities beyond present conception, possibly even a millionfold by intensive cultivation of the vegetation of the sea Compare these estimates with reasonable expectations as to birth rates It is plausible to suggest that in a century the world's population will have doubled. Wars are unlikely to arrest this expansion by much or for long. In three and a half centuries the earth's population will have increased by a factor of 10, in 10 centuries by a factor of 1,000, in 20 centuries by a factor of 1,000,000. Even with everyone munching on seaweed, Chlorella, sawdust and similar goodies, there will be barely enough food to keep the world's inhabitants crawling around Yet 2,000 years is an insignificant period on the million-year scale. Even if the rate of population increase has been much overestimated, this hardly affects the argument, for assuming it took 1,000 years instead of 100 to double our numbers, we would still attain a millionfold increase in population within 20,000 years. We may take it as axiomatic that men will multiply, that food supply will not keep pace with their rate of increase and that a margin of the population must consistently be sloughed off by starvation, disease or other natural agents

Sir Charles dismisses as unlikely any prospect that the hu-

man race will balance population and subsistence by deliberate limitation of its own reproduction He sees no real chance that individuals will, in numbers sufficient to make a difference, practice birth control so as not to jeopardize the survival of their great-great-grandchildren. The processes that must win out on the long time-scale are those that are spontaneous and stable. The voluntary limitation of population, on the other hand, is a highly unstable process — the term "stability" roughly signifying that when a dynamic system "gets a little above its average level, by that very fact a force comes into play to pull it back, while if it falls below, a force is evoked to raise it again " Nations cannot be expected to accomplish much more by edict than individuals by voluntary restraint To be effective, the limitation of the birth rate would have to be world-wide, based on a rational collective policy agreed to by all states. One need not comment on the unlikelihood of such a concordat Though the majority of men might accept the policy of limitation on "broad rational grounds," one can safely anticipate a good deal of vehement, indeed fanatical, opposition based on creed. The main difficulty lies in enforcement, not only within the separate nations, but among them as well. A flagrant breach of the pact by a single country must disrupt a system that can maintain itself only by balancing its reciprocal pressures Once the system collapses, only mass murder can restore the man-food equilibrium upon which survival depends.

We are led to a set of fairly simple and perhaps obvious conclusions, conclusions that the author's grandfather well understood. Men need food to survive; they must compete fiercely to get it. There are groups among them possessed of qualities that are likely to confer an advantage in this competition. These groups will determine the future course of history; their descendants will inhabit the earth a million years from now. It is hardly necessary to point out that the qualities

destined to win out in the long run will not necessarily be those we now admire and seek to preserve.

What else can be predicted? The climate of the earth has been roughly the same for a billion years, and there is no reason to expect major changes for many more than a million years to come. A few ice ages might be disagreeable but could scarcely prove decisive. The planets revolve serenely, the sun continues to shine, and it is improbable that this harmony will be disturbed in the period considered. There is a chance, Sir Charles concedes, that a dark star may be moving toward our solar system. A collision would unquestionably do us in even if the earth itself were not hit, but the chance is so small that it need not concern us.

The problem of fuel resources is more serious. Our treasury of fossil fuels, accumulated for us over a period of 500 million years, has already been heavily depleted. At present consumption rates, it will be empty in 5 or 10 centuries. Future man must learn to live on income instead of on capital, and the standard of living is bound to fall. Water power will not fail, but it can contribute only a small part of world energy requirements. Atomic energy, from what is now known, offers no long-term solution. However, the potential supply of heavy hydrogen is in effect unlimited and if we could find a way to make it "burn" slowly, the problem would be permanently solved. There is scant reason to believe that ordinary hydrogen can ever be made to yield nuclear energy; if it could be, that, too, would yield a solution — of a kind. A frustrated *Fuehrer*, or even a well-meaning lunatic bent on preserving the dignity of man, could set fire to the sea and to the earth's hydrogen envelope, with the result that the earth would for more than 10 years shine "as brightly as the sun does now." Such an event "would make the solar system into a very respectable new star," but plants and animals would be missing. Our descendants must look to other energy sources — sunlight, wind, tides,

vegetation, the interior heat of the earth, the cold water at the bottom of the sea — to eke out their needs The expectation is not, in Sir Charles's opinion, altogether satisfactory, and mankind will probably have to learn to get on with a good deal less energy than our age is accustomed to.

Besides fuel, many other shortages will plague our successors Stocks of essential metals will run out — some of them very soon. All sorts of ordinary things today regarded as indispensable, not merely to comfort but to existence, will vanish as the raw materials of which they are made gradually disappear. Substitutes will be found, but not for every object we have come to cherish; nor will the substitutes necessarily be of comparable quality. Plastic eating utensils are a devilish invention but supportable; the prospect of plastic surgical instruments and machine tools is disheartening

The majority of the earth's present inhabitants may be justifiably skeptical of Sir Charles's contention that they are living in a golden age Even the members of Western society may be permitted to doubt that this is the best of times Yet in the material sense, disregarding certain inequalities of distribution, man is better off than ever before and better off than he is likely to be in the long-run future Our period is marked alike by profligacy and invention, on balance we squander more than we discover, and thus over the centuries the estate diminishes.

I observed earlier that Sir Charles shares Stapledon's views as to man's essential qualities In fact his book addresses itself primarily to the problem of "internal conditions": namely, whether man can be expected to change his nature markedly in the next million years For if such changes were to occur, it would follow that several of the major inferences already set forth — notably as to population — would have to be reconsidered. "It was mainly the belief," Sir Charles declares, "that there will be no revolutionary change in human nature that emboldened me to write this essay"

He argues this proposition strongly To begin with, he se-

lects his span of prophecy, a million years, with certain geological and biological data in mind. These data force the conclusion that it takes a million years to make a new species. It matters little, apparently, how many generations occur in that period; some species change more quickly, some more slowly, but this "good rough rule" applies with general force to most of the species we know — rats, insects, buffaloes or men. For a million years, then, we shall have to get along with man as he is now.

It will not be denied, of course, that man has done much to improve himself since the species first appeared. How much more can he do? Sir Charles recites the four revolutions that have taken place in the development of humanity: the use of fire, the invention of agriculture, living in cities, and the scientific revolution. The "central fact" of this latest revolution, which we are still undergoing, "has been the discovery that nature can be controlled and conditions modified intentionally." The principal limits to such modifications — the constants and the bounds, in other words, of "external conditions" — have been discussed. It remains that the potentialities of science and technology stretch far beyond imagination; in this realm of conjecture the ground on which the prophet stands is certain to be treacherous. My feeling is that in these matters generally Sir Charles is too conservative. But I am delighted to report on his speculations on the use of high-speed computers as soothsayers. He sees the possibility of calculators that could improve on the performance of the Delphic oracle, not to say poll takers and military-intelligence experts. It may come about that such machines in a short space of time could "explore the consequences of alternative policies with a completeness that is far beyond anything that the human mind can aspire to achieve directly." Still, this brings us no closer to altering the drives impelling the man behind the machine. One suspects, for example, that a calculator which would reveal the outcome of a projected war would be discredited, if not

banned, by sovereign states So long as men believe what they want to believe, there will be wars.

Granted that no new species, "Homo sapienter," will arise spontaneously, does it lie within our own power to improve the existing breed of men as we have done with cattle and corn? Genetics affords no basis for an optimistic reply. The traits we regard as contributing to social good — tolerance, co-operativeness, rationalism — are "acquired characters" and do not pass through the sieve of inheritance They are handed on by precept and example, not by genes; such, at least, is the authoritative consensus. It is possible to breed for milk-giving qualities in cows, for rust resistance in wheat, for learning capacity in dogs. It may be possible to breed men for pole-vaulting ability, for red beards or for aquiline features. But it is utterly beyond comprehension how permanently to build into the inheritance machinery the traits, say, of kindliness or healthy skepticism. Nor, for that matter, is it clear that such traits would necessarily promote the ability to survive. Changes can be brought about in the germ cells by means of X rays, which induce mutations. Startling effects have been achieved in this way with the long-suffering fruit fly, Drosophila But this is no more than a hit-or-miss method that "simply stirs things up so that an arbitrary change results," usually deleterious. Tampering with the delicate mechanism of chromosomes and genes is like trying to adjust a fine watch by banging it on the floor; the treatment is unlikely to bring about the desired result

The future, then, is fairly bleak. A million years from now the earth will be poorer, shabbier, more crowded than it is today. Its population, having been held in check by starvation, wars and other Malthusian governors, will be perhaps three to five times what it is now. The human species will not look very different. Its physical characteristics will change, of course, but "not to a great extent, since it is not primarily these qualities that preserve humanity in the struggle for life." We may

assert with confidence that men will become "cleverer," for intelligence is a determinative factor in natural selection. Since Sir Charles does not share Socrates's view that wickedness is caused entirely by ignorance, he regards it as uncertain that men will become "morally better" as they become more intelligent In a highly competitive world, moreover, the "sinner has many advantages over the saint," and whatever advantage promotes survival is its own justification and makes its own way.

Science, both pure and applied, will continue to advance. Inquisitive men will strive to know for the sake of knowing; others will build machines and invent practical processes Sir Charles conceives of the invention of drugs to produce a permanent state of contentment (very useful for dictators), to remove the "urgency of sexual desire" and so bring about in humanity "the status of workers in a beehive," and to control the sex of offspring None of these marvels, however, promises to add substantially to the sum of human happiness. Happiness, we are reminded, resides not in a state but in a change of state, eternal bliss is so tedious a prospect that one might prefer, given the choice, everlasting torment Fortunately the dilemma is not thrust upon us Life will continue to fluctuate between pleasure and pain.

The Next Million Years is a readable and honest book, packed with challenging ideas. The author speaks with authority on many matters, always with an attractive diffidence and in good temper. His explanations are clear, so clear that there is no difficulty in knowing where one disagrees with him and why. It is prudent to reject the notion that man is perfectible, but on the other hand it may not be overoptimistic to hope that he is capable of bettering himself before he vanishes from the earth The Mendelian laws do not lock men into a groove of predestination; the science of inheritance, moreover, is not immutable. Man cannot be domesticated, says Sir Charles; he is a wild animal In this wildness is his undoing, but also his glory.

MIND UNDER MATTER

IT MAY BE that the experimental work of J B. Rhine in telepathy, clairvoyance, precognition (prophecy) and psychokinesis (effect of mind on matter) has produced the greatest scientific discovery of all times.* The proposition seems doubtful if it rests on the case made in this book; but if his results are valid, science faces a dilemma, not to say a turn of irony, without parallel in the growth of organized knowledge For Rhine's theories, if true, either demolish the conceptual framework of the physical world, or, more alarmingly, demonstrate grave flaws in the mathematical theory of probability, the cornerstone of modern scientific method The twist of irony arises in the form of a historical coincidence.

* J B. Rhine, *The Reach of the Mind*, New York, 1947

The theory of probability has its origins in a seventeenth-century exchange of letters between Blaise Pascal and the upright parliamentary town councilor, Pierre de Fermat, on a subject assuredly remote from their way of life — an assessment of the correct gambling odds in games of dice. Professor Rhine, with equally lofty motives, now advances his views also on the strength of experiments performed with dice and cards.

Despite the respectable precedent for his methods, I find myself reluctant to follow Dr. Rhine into the beyond.

For almost two decades Rhine and his associates have been running their experiments on "ESP" (extrasensory perception) and "PK" (psychokinesis) at Duke University. During that period he has won disciples and been flattered by imitators, withstood jibes and criticism and defended his views in serious articles as well as semisensational books, of which this is the most recent.

His researches need not be described in detail, but they run something like this: Telepathy and clairvoyance, merged by Rhine into the single classification, extrasensory perception, are investigated with an absurdly simple tool, a deck of 25 cards, each bearing one of five symbols: star, rectangle, cross, circle or wavy lines.

In the telepathy test, after the cards have been shuffled, the experimenter picks up the first and concentrates on its symbol; the subject, from whom all the cards are well concealed, is then asked to identify it. The process is repeated until the pack has been exhausted, this constituting a "run."

The clairvoyance test is similar except that the experimenter does not look at each successive card until *after* the subject has identified its symbol. Presumably, therefore, the experimenter cannot concentrate on the symbols and "send" telepathic messages to help the subject.

It turns out that the errors one must guard against are almost incalculable. In the clairvoyance test, for example, if the experimenter himself is fortunate enough to be *both* a clair-

voyant and a telepath (I trust this is the right word), he can detect the symbols by clairvoyance and transmit them by telepathy. For that matter, since space is no barrier to ESP, any friend of the subject, anywhere in the world, could help him out, assuming the subject requires help on a day when his telepathic reception is good, but his clairvoyancing bad. Rhine has anticipated such contingencies and by different controls overcomes them.

What are the results of the tests? Each symbol is repeated five times in the deck of cards, and the random chance of a correct identification by guessing is therefore one out of five. According to the mathematical theory, the ratio of actual hits to total trial should converge more and more closely to the theoretical probability (one to five) as the number of trials increases. If a subject consistently turns in an average of six or seven correct symbol-identifications per run through a large number of trials, the scientist should suspect and begin to look for factors *other than chance* that may account for the deviation. If a man won repeatedly at poker, one might examine the cards or his sleeve; a pair of perennially happy dice should be inspected to discover whether they are loaded.

Rhine contends that the over-all results of his ESP tests with cards show such significant deviations from the values required by theory that the odds lie from ten thousand to a million against one that the correct identifications are due to chance alone. There must therefore be other forces at work, unsuspected "powers of the mind," which, he concludes without more ado, are the fabled twins, telepathy and clairvoyance.

But these phenomenal aspects of ESP by no means exhaust its powers. The tally of the cards has also persuaded Rhine that ESP penetrates the future as easily as it traverses the ocean His experiments have convinced him that some subjects are as adept at predicting the order of a pack of cards to be arranged (by random shuffling) *at some time in the future* as

others are in identifying symbols on cards already arranged. This function, which Rhine designates as "precognition," supports a pretty case for a naive version of materialistic determinism, which, I had thought, had been quietly interred many decades ago.

Finally, the book describes Rhine's triumph, to wit the discovery of PK This function "of the whole mind" consists of influencing the behavior of matter by resolute concentration — what used to be called, in homelier times, "will power," except that Rhine has here measured its effect on the fall of dice instead of investigating its more usual range of reflexive operations, such as abstention from women, pastry, alcohol, shoplifting, tobacco and cognate evils Among the resemblances between PK and will power detected by Rhine and his associates are those relating to the stimulating effect of rewards. Not only does a PK-er work much better when you give him a reward, but both ESP-ers and PK-ers turn into supermen when offered such inducements as "movie tickets" or "candy." On one lavish occasion, a young ESP-er named Lillian, transmogrified by a 50-cent bribe, "closed her eyes, talked to herself" and then crashed through with a *perfect clairvoyant score*, 25 hits in 25 cards

One ultimate supersensation remains to be imparted, and Rhine is clearly the man to impart it The final chapter, after roaming through Aldous Huxley, espionage via clairvoyance, man's misery and the atomic bomb, arrives at last at the topic of immortality, survival and the plausibility of "intercommunication [of] discarnate personalities." This I take to mean both the small talk of the dead ("Do you miss us, Aunt Clara?") and that dismal repertory of spiritualistic japes which Charles Peirce ascribed somewhat unkindly to the "remarkable stupidity of ghosts." One learns with interest that Dr Rhine has an open mind on the subject and may, if he wraps up ESP, investigate it He will in that event find it nec-

essary to add slates to his present laboratory equipment of cards and dice.

If Rhine hitherto has been a victim of neglect, or worse, this book is hardly likely to relieve his suffering He may be acquitted of the charges of being a fool, a faker, or both, but in these writings he plainly convicts himself of being a credulous purveyor of old wives' tales and superstitious nonsense

Over the years, he has achieved a number of results that cannot be readily explained on the basis of conventional psychology. Certain statisticians and mathematicians have examined some of his experiment scores and found them, from their standpoint, unobjectionable. Now, this is no small achievement, and a patient, modest, persistent development of his methods might conceivably lead to important advances in psychology. But the achievement, and the applause, are too small for Rhine. It befits his temperament to make sensational generalizations and bizarre claims, in order to shock the scientific world to attention He will not permit his experimental results to argue their own case, yet when he assumes the role of advocate, the effect is reminiscent of:

> But the judge said he never had summed up before
> So the snark undertook it instead
> And summed it so well that it came to far more
> Than the witnesses ever had said

The jargon that Rhine and his school contribute to parapsychology endows this already doubtful subject with a suspicious flavor redolent of such disciplines as astrology, chiropractic and phrenology. My favorite example, taking precedence over psychokinesis, the psi capacity and the psychic shuffle, is "telepathic dermographia." This is a term describing an affliction, or, viewed differently, perhaps a talent, possessed by "Madame Kahl of Paris" who had (and for all I know, still has) the "ability to reproduce on her arm or breast, in clear

red outline, a figure or letter of which the experimenter was thinking."

The jargon, of course, seems highly appropriate for someone who suggests, seriously, for scientific purposes, the use of such instruments as "automatic writing . . the Ouija board, or the divining rod." Rhine's justification for the proposal is in itself a revealing gem· "If we are dealing with unconscious processes, why not use unconscious responses to record the key impression and keep the whole process unconscious?" Why not, indeed!

It would be selfish to take leave of this review without a few examples from Rhine's collection of clairvoyant and ectoplasmic chestnuts No fable is too threadbare to be denied admittance to this hospitable book In fact, Rhine is willing not only to suspend disbelief but to drop it altogether

There is the story of the little child who, while out walking, is seized with a vision of her mother lying stricken and helpless on the floor at home, with a "lace-bordered handkerchief" alongside. In a frenzy of alarm the child rushes back only to find the vision confirmed, her mother *and the handkerchief* strewn about as expected. Commenting on this incident, which he extracted from a work named *Phantasms of the Living*, Rhine remarks, with commendable scientific objectivity, that "such non-experimental evidence" should be regarded as "more suggestive than conclusive."

I am also much intrigued by the case of the "world-famous psychiatrist" who, "just as he was about to begin to make a study of a medium located a few miles away," was greeted by a "pistol-like report . . [which] consisted of the splitting of a very old, well-seasoned table top." Now, the psychiatrist was no fool and was not to be so easily deterred; as a scientist, after all, he knew that there are cases on record of wood splitting without a medium being in the neighborhood But what really confused him was that an "old steel-bladed bread knife also went to pieces about the same time, accompanied by a

similar loud explosive report.” “I was frankly puzzled,” writes Rhine, but then adds cogently, “I have a photograph of the knife, which shows the blade clearly broken into four sections.”

As I reflect on this book, I am harassed by a persistent, nontelepathic and nonclairvoyant vision of my own. During the war, among its many research projects, the War Department sponsored Sir Hubert Wilkins, the noted explorer, in a series of experiments involving the transmission of telepathic messages to a colleague situated somewhere in the frozen north. Sir Hubert would enter a little tent pitched in the middle of a large War Department office, taking with him some peanut-butter sandwiches, settle himself and proceed to concentrate.

Whether or not the results were successful I cannot say, but the performance made a great impression on me at the time and had at least one traumatic effect. I have since been unable to hear of telepathy, and was therefore unable to read *The Reach of the Mind*, without thinking of peanut butter. It seems to me only fair to offer this experience to Dr. Rhine.

QUEST FOR THE MIND

THE CLASSIC problem of the relationship between body and mind, the subject of endless speculation in philosophy and extensive investigations in psychology, is here approached from the standpoint of its measurable, electrical aspects.* The fact that the inquiry is scarcely related in any immediate or obvious way to the more pressing problems of our turbulent, paranoiac times does not diminish its scientific importance. It would, I think, be better for the life expectancy of us all if a somewhat larger portion of contemporary scientific effort were equally innocent in purpose.

The nature of mind and its relation to the operations of the

* E D Adrian, *The Physical Background of Perception*, New York, 1947

brain are ancient and honorable objects of thought, but progress in mastering the problems has been insignificant. Almost insurmountable difficulties are encountered in the bare task of defining the basic concepts of mind and consciousness. Philosophers have manfully made the attempt, but their conclusions, even if esthetically persuasive, are of little use to the experimentalist. The use of thought to understand thought, the search by the imagination for its own essence, poses the highest challenge to the flexibility and resources of scientific method.

Our knowledge of the physical nervous system itself has more definite landmarks. Physiologists and anatomists have gathered detailed, accurate information about the brain, and especially about its outer layer, the cerebral cortex, from which hundreds of thousands of nerve fibers wind and twist through the body like the snakes of a delicate Medusa. Brilliant researches by the incomparable Sir Charles Sherrington, among others, have greatly increased our understanding of the integrative action of the nervous system, of the brain's functions as receptor and interpreter of messages from the outside world, as co-ordinator, to a large extent, of the reactions of the body itself.

Some of the more promising advances have resulted from the study of the electrical commerce of the nervous system. It has been established that the myriad nerve fibers in the human frame (and in that of other animals of higher order) are linked in a telegraphic system, over the channels of which messages are carried from any source of stimulus to junction points in appropriate regions of the cortex.

When the sense organs react to light, sound or touch, they initiate electrical waves that travel toward the cerebral cortex, one following another in series, their voltage constant regardless of the intensity of the stimulus, their frequency (i.e., the number of waves per unit of time) varying between 10 to 100 per second as long as the messages are being dispatched. Stim-

uli are distinguished as to source by the routes of their produced impulses and by the particular region of the cortex where they are received; they are interpreted as to content — much of this is still conjecture — by the frequency and total number of the electrical waves.

All nervous communication appears to be of this electrical character. In examining the behavior of the brain, the physiologist must in effect first "tap" its lines of communication. By studying the troughs and peaks of electrical activity in the cortex itself, he gains a one- or two-dimensional insight into what is probably a multidimensional phenomenon. He observes, for example, that the cortex produces *maps* — usually in miniature but sometimes, as in the case of certain optical phenomena, vastly magnified — of the events at the body surface. There is, in other words, an order and a fixed relationship between the points on the body and the points of the cerebral cortex — as phrenologists have so long insisted.

Consider how the mapping operation works in a simple case. When someone steps on my toe, my nervous system informs me of the nuisance by a signal The pressure initiates a sequence of physical and chemical changes, accompanied by electrical currents culminating in a brain map The map itself may resemble the flashing board of a railroad switching tower, giving the changing positions of the trains on the various lines The electrical points of the brain map may actually form a tiny contour of the affected toe area But our ignorance as to what occurs *after* the electrical map appears is profound The brain certainly acts on the information conveyed by the map, but how? While the pressure is on my toe I may react in various ways, pursuing a combination of rational or irrational courses. The nature of the machinery and functions involved — whether I pull my foot away, upbraid the offender, suffer in silence or plot revenge — is obscure. The same is, of course, true in problems of a higher order arising in the trans-

mission and interpretation of (and reaction to) more complex messages, such as the contours of Lana Turner, the content of a page of differential equations, a Schönberg score or the image of a hockey match.

The most valuable projection area of the brain is where the maps corresponding to optical stimuli are formed There stimuli may be magnified enormously, so that a small illuminated point produces an electrical map over a cortical area 10,000 times as large as the area of the stimulus.

Despite these advances in the study of the brain, little is known about the phenomenon of consciousness At what point, if ever, do the electrical patterns of the brain rise into the region of *mind*? One series of discoveries, which may ultimately furnish a guide through the labyrinths of mental behavior, are those relating to the *cortical rhythm*. In 1929, Hans Berger discovered that electrical oscillations take place in the brain even when there is no apparent outer stimulus. If electrodes are attached to the skull of a nonstimulated, "inattentive" person, there is evidence of a steady 7-to-10-a-second rhythm of electrical wave frequencies (the α rhythm). Anything that provokes attention will change the pattern and the number of the oscillations.

Diagrams in Adrian's book show the flickering waves of the rhythm in a drowsy man, the waves suddenly becoming steep when the eyes are opened, and falling again as they close. The disruptive effect of auditory stimuli is also shown. There is reason to believe that the α rhythm is controlled by, or related to, the deeper brain centers where the "hobgoblin" who directs our consciousness has his perch That this is a well-protected shelter is shown by the fact that even widespread injuries to the cerebral cortex, the outer sheath of the brain, do not necessarily produce loss of consciousness.

The electrical activities of the brain have been graphically and poetically described by Sherrington

> A scheme of lines and nodal points, gathered together at one end into a great raveled knot, the brain, and at the other trailing off to a sort of stalk, the spinal cord. Imagine activity in this shown by little points of light. Of these some stationary flash rhythmically, faster or slower.
>
> Others are traveling points streaming in serial lines at various speeds. The rhythmic stationary lights lie at the nodes. The nodes are both goals whither converge, and junctions whence diverge, the lines of traveling lights. Suppose we choose the hour of deep sleep. Then only in some sparse and out-of-the-way places are nodes flashing and trains of light points running. The great knotted headpiece lies for the most part quite dark.
>
> Should we continue to watch the scheme we should observe after a time an impressive change which suddenly accrues. The great topmost sheet of the mass, where hardly a light had twinkled or moved, becomes now a sparkling field of rhythmic flashing points with trains of traveling sparks hurrying hither and thither. It is as if the Milky Way entered upon some cosmic dance. Swiftly the head mass becomes an enchanted loom where millions of flashing shuttles weave a dissolving pattern, always a meaningful pattern though never an abiding one. The brain is waking and with it the mind is returning.

May we expect that further advances of science will permit of a purely mechanical explanation of the brain and of mind and consciousness? We have a reasonable knowledge of the cortex functioning as a screen, but the facts adduced do not confirm a naive belief in the brain as a mere calculating machine. It is known that a tune may be recognized whether its pitch is high or low, that a triangle or letter may be recognized regardless of size or position. This is evidently something that can be "learned" as skilled movements can be learned. (For example, having learned to write with our fingers, we can then practice the art, even if not gracefully, with the toes.)

"These facts — of stimulus equivalence and of the transfer

of learned reactions — are a recognized stumbling block to all simple mechanical hypotheses of habit formation. they cannot be explained purely in terms of particular pathways which have been repeatedly exercised and have therefore acquired a special facility in transmission." It thus becomes impossible to represent the nervous system as a simple series of mapping machines unless an element be added that will discharge the higher function of abstraction. While machines may be constructed, at least in imagination, to react (by recognition) to a large number of set patterns, it is at present even theoretically impossible to design a machine that will go beyond a predetermined program. (If this could be done, I suppose our worst fears that the machine will one day take its place in the revolutionary scheme of things would have been realized.)

The brilliant Kenneth Craik, who before his early and tragic death worked in the Psychological Laboratory at Cambridge, made the ingenious proposal that thinking "depends on the operation of various nervous mechanisms which produce symbolic models of physical reality." Thus the models made in the brain would consist in part of the electrical maps of external reality, in part of symbols representing factors of experience and learning; figuratively, these elements could be shifted about like tiny pieces on a miniature chessboard, or like mathematical symbols during trial-and-error operations, for the purpose of envisaging probable future patterns of outside events and of formulating policies of action. The adaptability and plasticity of the models, the individual's ability both to make correct models and to preserve them in clear focus until their features and their implications were understood, would determine the clarity and effectiveness of his thought processes.

No one could be satisfied with this physical analogy for mental operations. Craik was certainly aware of its limitations. Yet it is an undeniable stimulus to further investigation along what may prove to be fruitful lines

If ever the day comes when the operations of mind are clearly understood, we shall, I fear, still be plagued by the problem raised in Sir E. T. Whittaker's parable:

> The observation of phenomena cannot tell us anything more than that the mathematical equations are correct: the same equations might equally represent the behavior of some other material system. For example, the vibrations of a membrane which has the shape of an ellipse can be calculated by means of a differential equation known as Mathieu's equation: but this same equation is also arrived at when we study the dynamics of a circus performer, who holds an assistant balanced on a pole while he himself stands on a spherical ball rolling on the ground.
>
> If now we imagine an observer who discovers that the future course of a certain phenomenon can be predicted by Mathieu's equation, but who is unable for some reason to perceive the system which generated the phenomenon, then evidently he would be unable to tell whether the system in question is an elliptic membrane or a variety artist.

So far as what is happening in the world today is concerned, I have myself no confusion about the nature of the system. It is all due to a little man trying to keep his balance on a spherical ball. I even know his name.

THE WANDERING ALBATROSS

"And I had done a hellish thing,
And it would work 'em woe
For all averr'd I had killed the bird
That made the breeze to blow
Ah wretch! said they, the bird to slay,
That made the breeze to blow!"

AND NOW a mariner, neither graybeard nor ancient, has come to set things right. In November 1939 the pocket battleship *Graf Spee* had sunk a small merchant ship off Madagascar and then disappeared. Immediately the aircraft carrier *H M. S. Ark Royal* was dispatched to find the raider — though where she had gone, east into the Indian Ocean or west into the trackless immensities of the South Atlantic, was not known The Admiralty ordered the

Ark Royal "to take up a strategic position south of the Cape [of Good Hope] to cover either eventuality, but the seas around remained empty."

Among those who shared this lonely and weary vigil was a naval officer named William Jameson. For days, as the ship patrolled the horse latitudes, the sky was gray, the sea "lifeless and dull," and neither birds nor flying fish nor whales were to be seen. Then, on a fresh November afternoon, a few hours after the carrier had entered the sub-Antarctic zone, a great white form flashed into view. It was a wandering albatross, the largest of living birds. With motionless wings it skimmed the waves, turned into the wind, soared up to forty or fifty feet, banked toward the ship and swooped down at high speed to pass across its wake. For several days the albatross, which by now had picked up companions, followed the ship. On the edge of the roaring forties the sky became overcast, the glass fell and the weather turned wild. Wind velocity rose to sixty miles per hour, thirty-five-foot waves, three hundred to four hundred yards from crest to crest, made the huge ship lurch and plunge continuously. It was all a man on deck could do, in order not to be blasted overboard, to wedge himself into a sheltered corner. But the albatrosses were enjoying themselves. "swooping around at high speed, banking, soaring, diving to within an inch or two of the sea; perfectly at home in their boisterous element and moving, as it seemed, in any direction they wished." Then, as suddenly as they had appeared, the birds vanished.

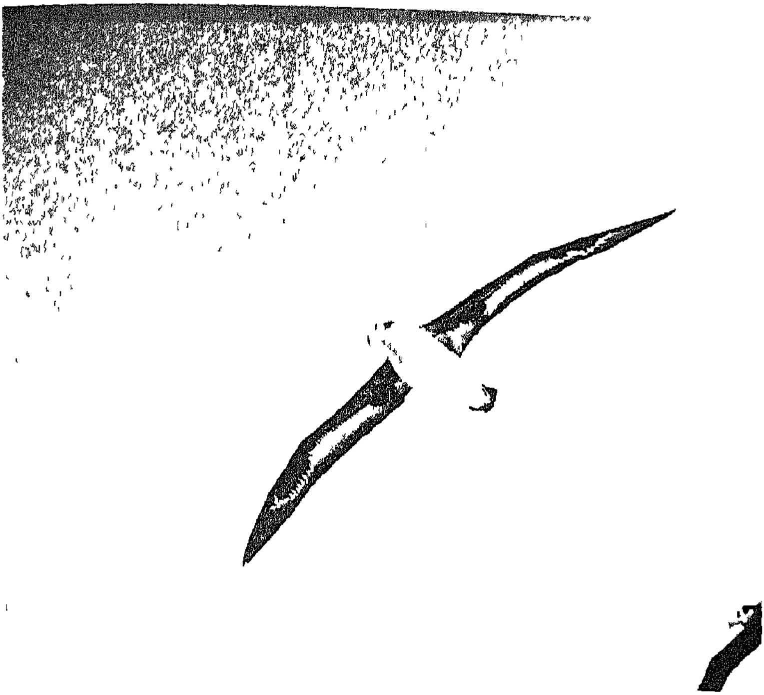
For Jameson the brief encounter with these superbly graceful creatures was a "heart-lifting and unforgettable event." He continued his naval career, became attaché at the British Embassy in Washington, was promoted to rear admiral and knighted. When he retired he wrote a history of the *Ark Royal* (which after valiant service was destroyed by a U-boat in 1941) and then turned to a study of the wandering albatross. He searched the literature and assembled information from

various other sources, and he has now written a delightful little book, which summarizes all that is known about this huge, gentle, fearless creature: its habits and life history, its method of flight, its place in fable and legend.*

The wandering albatross is of the family Diomedeidae, of the order Procellariiformes, which dates from the Miocene epoch (ten to thirty million years ago); fossil traces of an early albatross have been found in rocks dating from this period. Experts disagree on the number of different forms of albatross, but we may accept that there are some fifteen races. Three inhabit the northern hemisphere; the waved albatross is confined to the tropics. Nine species, which include the royal, the sky, the black-browed and the yellow-nosed albatross, have plumage that is mostly white at maturity, and have a range which overlaps that of the two races of wanderers. The wanderer, which is the largest species of albatross, breeds on bleak, stormy, remote islands: South Georgia, Inaccessible, Kerguelen, Gough, and others.

The name "albatross," says the *O. E. D.*, is apparently a modification of "alcatras," applied to the frigate bird, but extended through inaccurate knowledge to a still larger sea-fowl. (*Alcatruz* is the Portuguese word for the bucket of a water-raising wheel used for irrigation; whence *alcatras*, first applied to the pelican, which, the Arabs in Spain believed, used its great beak to carry water to its young in the desert.) The alcatras is black; perhaps to distinguish the white birds, the prefix albi-, albe-, (with etymological reference to Latin *albus* = white) was substituted. Sailors have called the wandering albatross by a variety of names: cape sheep (descriptive of its immense size and color), goney (obviously a reference to the very young birds, which have an innocent and befuddled look), man-of-war bird. In 1766 Linnaeus assigned to the wanderer a more poetic name: *Diomedea exulans*. According

* William Jameson, *The Wandering Albatross*, New York, 1959



Albatross in flight
(Photograph by Karl W Kenyon, from National Audubon Society)

to Sir William, two fables guided the master classifier. An old sailor's legend says that sea captains are condemned in the hereafter to wander eternally above cold and stormy seas as retribution for the cozy quarters in the poop they enjoyed during their lifetime while the crew dwelt in wretchedness. The other fable concerns Diomedes, a Thracian hero, who after the Trojan Wars went to Italy, was ensnared by a magician and had his companions turned into birds resembling swans. *Diomedes* means Zeus-counseled; *exulans* means an exile or banished wanderer. Thus, *Diomedea exulans*.

Early books on natural history were neither very informative about *D exulans* nor accurate It was confused with other

birds, and strange habits were attributed to it — not stranger than the truth, merely wrong. In the late eighteenth century, as sailing ships sought out the "albatross latitudes" (40°-50° S) information about the birds began to come in. Mariners shipwrecked on breeding islands were more interested in eating albatross eggs — which are huge and delectable — than in compiling ornithological records, but now and then a more philosophical castaway controlled his appetite and enlarged scientific knowledge. In our century the expeditions of the *Discovery* and the *Quest*, and such leading ornithologists as Robert Cushman Murphy, Niall Rankin and L. E. Richdale have provided the data from which a good picture of the life cycle of the wandering albatross can be drawn.

On tiny desolate islands, scattered high in the southern latitudes, set in the wildest seas of the world, *Diomedea exulans* builds its nest. A favorite place is South Georgia where the birds, it is believed, have bred for thousands of years. Here, where it is bleak and treeless, where the wind always blows, where the foulest weather is the rule, where the only vegetation is coarse tussock grass, here, where huge sea-elephants and tiny petrels, seal and penguins come to breed and raise their young, the albatrosses gather for a few months to court and mate, to produce their young and raise them to independence.

The nest is built usually in an exposed place near the shore, facing into the wind, preferably on an eminence. The bitter cold and the constant gales do not discommode the albatross, even the nestling's feathers make a perfect coat. The main consideration is to choose a home that is also an airfield, where the birds can land and take off with the least trouble. In the air an albatross is grace itself, but on land it is a clumsy creature. Its toes point forward, it cannot perch, it walks laboriously with a waddling gait and has a hard time getting up enough speed to be airborne, and when it lands it is apt to

pancake or to go over on its nose in a somersault. Nature is not kind.

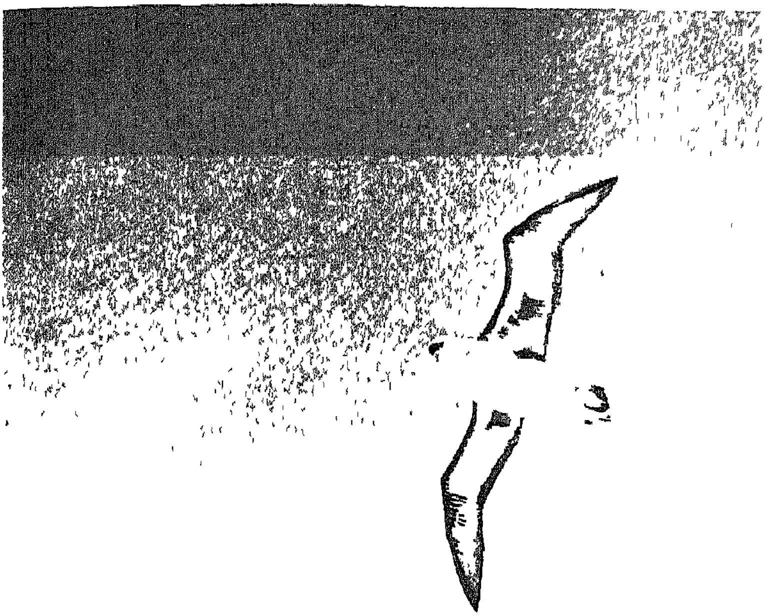
Spaced twenty to fifty yards apart, the nests (made of soil, moss and grass trampled into a peatlike mixture) are shaped like miniature volcanoes. They are about three feet across at the base and are built high enough — one to three feet — to keep the top above the level of the winter snows. A single egg is laid in a shallow bowl hollowed out of the top of the conical structure. Husband and wife build the nest together — an arduous task — and keep it in repair; old nests are used again.

Egg-laying begins in November and December, depending on the island, and by early January (midsummer) eggs are everywhere plentiful. In 1923 four men from the *Quest* gathered 3,500 eggs in three days from the northern end of South Georgia, as an offset to such depredations the birds' food supply has been increased by the waste products of whaling stations, and the albatross population does not seem to have decreased. An albatross egg has a coarse white shell speckled with red spots, weighs around fifteen ounces and holds as much liquid as six hens' eggs. It takes roughly ten weeks for the chick to hatch, during which period male and female alternately sit on the nest. While one partner does brooding duty, the other is at sea getting food. The sitter is patient, fearless and tame; it will fight off piratical antarctic skuas, which are always hungry, but will permit a man to approach, provided he makes no sudden movements. *D. exulans* has a great bill that can inflict serious injury, but if this is firmly grasped, the bird can even be lifted from its nest and stroked. It is fair to conclude, says Jameson, that the wandering albatross is "devoid of aggressiveness." It only attacks what it supposes to be its usual food, but like a Yosemite bear it can be "dangerous without evil intent." (Park bears should not be fed because, as a keeper once told a lady visitor, they don't know where the bun stops and the arm begins.)

The newly hatched albatross weighs eleven to fourteen ounces and is covered with silky pure-white down. The beak (hooked at this stage) and the feet are yellow; the eyes very dark brown. In a week the chick almost doubles its weight, and in three weeks it is as big as a barnyard fowl. When it is a month old, it weighs more than six pounds and can frighten off any skua, so that it can do its own baby-sitting and leave both parents free to forage for it at sea. A new buffish-gray coat of luxuriant down keeps the youngster warm, autumn is now well advanced and there are frequent storms, but the bird is snug. More aggressive than its parents, it will snap at intruders; if this doesn't work, it will vomit its stomach contents, which are mixed with "a very evil smelling oil." This substance deserves a few words.

All birds of the tube-nose family manufacture this stomach oil, which is a gland secretion similar to the oil found in the head of the sperm whale. Its exact purpose is not known. It is, of course, a defense weapon, which can be discharged through the beak or nostrils; petrels are particularly adept in firing a stream of it fairly accurately and over some distance. It may also be a "supplemental food" for the young, since it is rich in vitamins. An intriguing suggestion is that ocean-going birds use it to calm the water in their immediate vicinity when riding out a gale. Jameson says this may sound absurd, but only to those who have not seen the pacifying effects of even a small quantity of oil on a turbulent sea. It is possible that the oil is used for preening, which is very important to creatures that spend so much time in the air. The oil contains alcohol, remains fluid at low temperatures and can easily be transferred from beak to feathers. A leading ornithologist has advanced the idea that the oil is the source of the fledgling's water supply. There may be truth in all theories.

At five months the youngster is still being fed. Although it is now fully grown, it is very fat, covered with down and cannot fly. Yet suddenly it is abandoned. Some time in June the



Another view of an albatross in flight
(Photograph by Karl W Kenyon, from National Audubon Society)

parents fly off to sea, apparently leaving the nest-bound fledgling to fend for itself The ornithologist L. H Matthews, visiting a snow-covered site in South Georgia in August, describes how each nest had "a young albatross the size of a small sheep sitting on it, sitting all alone and waiting, clad in a thick coat of buffish wooly down." A touching picture, almost inexplicable in biological terms, even if one recognizes that the birds can live a long time off their own fat, and that their metabolic processes during the rigorous antarctic winter probably slow down to a point closer to hibernation than can be found in any other creature of the bird world

But this paradox of the life cycle seems at last to have been solved. By piecing together careful and arduous observations made in storms and in winter darkness at different sites on the breeding islands, ornithologists have now concluded that the fat young goneys are not entirely abandoned by their parents. After the initial phase of daily feeding, the interval is increased, at first to two days, then to longer periods. After the parents take to the wing in June, they return periodically to dispense fish and cuttlefish. This practice is continued until the young can fly Two days before they go to sea, they get their last free meal.

The preparation for the youngsters' emancipation is spread over months All through the winter the first coat of feathers has been growing underneath the second coat of down. The goney now looks rather frowzy, with tufts of down adhering to the feathers, but in due time its dress becomes more tidy The sides of the neophyte's face are white, and there is a white bridge across the nose — "like a pair of spectacles." The feathers are a chocolate color; the beak is whitish yellow; the legs and feet, light-gray. A young albatross is "a somber bird," much different from the dazzling creature it will become.

In November it begins to flap its great wings — ten to twelve feet in span — but they are still weak. It waddles around the nest, makes trials standing into the wind, springs off the ground and lurches into the air for a few seconds. André Migot observed on Kerguelen that young birds took a month practicing to fly Hubert Wilkins of the *Quest* party watched the birds painfully clamber up a hillside (resting frequently along the way), and then, "after a prolonged rest, run a few steps downhill and launch themselves into the air for a short flight, followed by a heavy landing which probably sent them tail over beak. Getting up, with an expression of pained surprise, they would repeat the process, always toiling farther up the hill if failing to get properly airborne " When the old birds begin returning in late November, the young exhibit their prowess and begin extending their range For several

months they make trial runs over the open sea. But when the breeding birds leave, the fully fledged youngsters set out on their own, and begin the "purely pelagic existence" that they will follow for several years. Some may not see land again until they return to their birthplace to mate and raise their own chicks; six or seven years may elapse before this happens. "Not for nothing has the bird been named the wandering albatross."

"It has always been a mystery to me . . . on what the albatross can subsist," wrote Darwin in his *Journal of a Naturalist*. The answer is that the wanderer has the huge pastures of the southern ocean on which to "graze." (This apposite descriptive term was used by Anders Sparrman, who accompanied Captain Cook on his voyage around the world in the *Resolution.*) It is a large bird and a surface feeder, but the area in which it can forage is immense: some thirty million square miles, or ten times the area of the United States. The ways of the wandering albatross are solitary. It has its own path, it feeds and flies and rests alone, many miles away from any other of its species. But when a ship appears, the birds are drawn together. In the days of sail the ruffling of the surface water, or refuse thrown overboard, attracted birds from every quarter; the modern ship leaves a propeller wake, and perhaps a trail of grease and oil, that acts like a powerful magnet. The *Tubinares* have a keen sense of smell, and their vision is such that they can see a ship eight to ten miles away. A dozen or more albatrosses may assemble and follow the ship for days. This brings us to the fascinating question: how do they fly?

Their aerial performance is prodigious. Consider: they fly into the wind at high speed; they move up and down in a curiously curved flight path, behind, over, alongside, in front of the ship, now trailing, now overtaking, now diving, now climbing, all the while scarcely flapping their wings; they can keep

up this pace for days, apparently without rest or sleep, following a vessel making twenty knots or more, and they have been known to cover a distance of at least thirty-five hundred miles in twelve days. Neither gravity nor fatigue seems to hamper these Zeus-counseled fowl.

The explanation rests on the fact that the albatross is primarily a glider or living sailplane. Though it is capable of powered flight, the bird's pectoral muscles are of moderate size and quite inadequate to support its sustained aerial feats. In a sailplane the force of gravity provides most of the motive power; the wings must give the required lift with the minimum drag, or resistance to forward motion. The aspect ratio (the ratio between the average width of the wing and its length) and the lift/drag ratio must both be high. In a high-performance sailplane the aspect ratio is around 18 — the same as that of the wandering albatross The lift/drag ratio of such a wing may be as high as 40 to 1, "that is to say, for every forty pounds of lift acting upward at right angles to the wing there is a resistance to forward motion of one pound pulling to the rear."

To build a sailplane with such long and narrow wings, both light and strong, is exceptionally difficult, but the albatross meets these specifications admirably. Its wing bones are hollow and filled with air instead of marrow; in a twenty-pound bird the entire skeleton, including wings of twelve-foot span, weighs well under three pounds The living creatures has other advantages over the man-made device An albatross in flight can control its feathers and joints to change the span of the wings, their camber, sweepback and dihedral angle. The feathers can be closed or opened like a fan, thus enlarging or diminishing their surface, and achieving the optimum lift/drag ratio at any given speed.

A bird (or a sailplane) gliding through the air must overcome drag. This is done by dissipating potential energy. When the bird is high, it must slide "downhill" to pick up speed,

and somewhere along the descent it must find an updraft in the air stream to regain height Currents of this kind occur over the land: on the windward side of hills, in "thermals" where warm air rises from the ground, and in "standing waves" where air passes over a hill, dips down and rebounds. All three types of updraft also occur over the ocean. Air currents rise on the flanks of waves, and rebound on the lee side of the crests. Thermals are found when the water warms cold air above it, causing the air to rise in closely packed counter-rotating cylinders, and even if the columns are blown over by the wind until they lie parallel to the surface, their counter-rotation pushes up a ridge of air along which a bird can glide.* The albatross seeks out such upcurrents and makes use of them Yet together they are too irregular and operate too near the surface to afford the bird the steady and powerful support it needs.

Another source of power, however, is thought to be available. In 1924 P. Idrac of the Paris École Polytechnique carried out a careful field study, which led him to what Jameson describes as the now generally accepted theory of albatross flight. Wind blowing over the sea is slowed down by friction. In Jameson's happy image, if we throw a stack of playing cards onto a table they will spread out in different degree. the bottom cards, in contact with the table, will travel slowly over a short distance; the top cards fastest and farthest, the cards in between at intermediate speeds, each being held back by the friction of the slower-moving cards of the layer immediately underneath. So, roughly, with the winds blowing over water. For example, a wind traveling at 40 mph, 55 feet up, may be traveling at only 20 mph near the surface, and the layers in between will have a spread of intermediate speeds The albatross capitalizes on this circumstance It starts its

* This is well explained by John H Storer in an article in the April 1952 issue of *Scientific American*

dive toward the water, say at 30 mph from 55 feet, the wind as indicated. In still air it will accelerate to 48 mph, but since the air is moving and the bird is gliding downwind, by the time it reaches the slow-moving layers of air near the surface, it will have attained an air speed of 67 mph (i e., 48 mph + 20 mph − 1 mph lost because of increased drag) This is more than enough to enable the albatross to soar back to its original height. Still, it would not enable the bird to follow a ship traveling into the wind, because it has lost considerable ground in its downwind dive. However, when it ascends and turns first across and then into the wind, it is constantly entering faster-moving layers of air, and the arithmetical balance of forces is in the albatross's favor, so that when it has climbed to 55 feet, it is actually moving much faster (perhaps 70 mph) than when it started to dive The dynamics are a little tricky — and grasp of them is made harder by sundry leeways, leewards and windwards; but just as it is possible to sail into the wind, the albatross, making use of variations in windspeed within a shallow layer of air, as well as various eddies and updrafts close to a ship, executes a continuous, crudely S-shaped flight cycle, which enables it to keep up for days with a vessel making twenty knots or more against the wind. It is a feat no man-made sailplane can equal.

How long the albatross remains at sea after leaving the breeding site, how they navigate and find their way back to the tiny home islands, how often they breed. these are questions that are far from settled Observers keep accumulating evidence but it is not decisive The marvelous navigational ability of birds is of particular interest to the military in our happy age On the rare occasion when they can blast one of their clumsy missiles off the ground and keep it flying, they would like to place it within a reasonable vicinity of the "target." What would they not give to have their wobbling, lethal toys emulate the swallow that flies from South Africa to the barn down the road, or *D. exulans* that circumnavigates

the globe half a dozen times and then homes to a nest on Kerguelen. Indeed, what treasure has already been spilled to gain this end. But if, as Jameson says, "the results of these investigations enable a rocket to home as certainly as the swallows of Capistrano, we must pray that the secret continues to elude mankind."

Jameson describes the remarkable rituals of courting and mating. The returning cocks form into groups of four or five, each composing a ring with a hen in the center. Hitherto-silent suitors now begin to utter "harsh, groaning sounds, not unlike the braying of an ass and no more pleasant or musical." The female faces each male in turn, and a dance ensues in which the cock shows what a splendid fellow he is. When the dance is concluded the female, whose deportment is demure, now turns to another bird and the ritual is repeated. Everything is carried off with decorum, "in a bucolic sort of way," and while there is a hideous din and much wing-flapping and neck-stretching, there is no fighting or interfering with the other chap's dance. Occasionally, when a cock's feelings become too much for him, he strolls a short distance from the ring with his head (as Robert Cushman Murphy describes it) "swaying from side to side and hung almost to the ground. The attitude gives [the cock] a diabolical look, and it would be easy to imagine that dark and sinister thoughts were occupying [his] mind." In time, after the female has inspected all the suitors, she makes a choice, whereupon the successful male shepherds his bride-to-be to his nest. "Other females are constantly arriving from the sea and the rejected males, undaunted, waddle off to try their luck elsewhere"

The ritual after pairing is even more elaborate than that of courtship. The birds croak at each other, opening their bills wide, and then nibble at the short feathers of their partners' necks They emit "bubbling" noises, clapper, bring their beaks together and sing screeching duets. Standing on the nest, the male spreads his wings, stretches his neck, points his bill to the

sky, and turns slowly through a full circle, "lifting each great foot in turn high in the air with the measured precision of a guardsman doing a slow march. All the time he lets out a high-pitched pig-like squeak." The female, though "evidently greatly flattered," is still coy, but at last comes a demonstration that is irresistible Stretching his wings to the full, cocking his tail upward, the male "shrieks to the full capacity of his lungs. No female could ignore so fervent a declaration." Mating may now take place, though quite frequently this "ecstatic climax is followed by anticlimax," both birds seeming to tire of the whole performance and sinking exhausted to the ground to rest quietly side by side Then the whole ceremony has to be repeated, mixed in with a little nest-building so as finally to get the show on the road The wandering albatross, "so solitary and aloof for most of its life, is an ardent bird, and courting continues, no less fervently, while the nest is being prepared and even after the egg is laid."

For the benefit of those who demand conjugal felicity even of birds before granting them their blessing, I should point out that there is evidence that wanderers are faithful to their chosen mates. But not in all cases and at best only up to a point. Promiscuity is known among the elders, and occurs even more among the youngsters. And each time an albatross returns to breed, it selects a new mate, the older males "showing the marked preference for sprightly young females which has sometimes been noted in other walks of life"

A final word as to the fable. Jameson has made a careful search of the origins of the fable upon which Coleridge presumably based his "Rime." The results are surprising Birds have, of course, always been a subject of legend and superstitious awe. Eagles, vultures, swallows, geese, magpies, crows, ravens, owls have at various times and places figured as omens, as portents, as aids to augury. Gannets, kingfishers, petrels have had special meaning for seafarers, and many have heard of the famous cock that on April 12, 1782, perched itself on the

poop of Admiral Rodney's flagship and obligingly clapped his wings at every broadside poured into the French *Ville de Paris*. But of the albatross there is no record — neither of superstitions, omens, ceremonies, nor of cheering on the British Navy. If it was once believed that an albatross hovering about a ship brings bad weather, and that to kill it brings bad luck, the belief has left no trace. Moreover, there is ample evidence that sailors had not the slightest compunction about shooting an albatross, or snaring it by means of a tackle. The bird is no treat to the table, because it tastes like a stale, tough and oily fish, but catching it is sport — or what passes for sport. The albatross has also been prized for things that could be made out of it: tobacco pouches out of the webbed feet, pipestems from the hollow wing bones, a "handsome paper clip" out of the beak.

Where, then, did Coleridge get his notion? With the help of John Livingston Lowes's analysis in his famous *Road to Xanadu*, and some Coleridge correspondence, Jameson clears up the mystery — or comes as close to doing it as anyone would wish. I shall leave the reader in suspense; this is but one of several excellent reasons for turning to Sir William's charming natural history.

THE FORESEEABLE FUTURE

How foreseeable is the future? Sir Charles Darwin once took a long look ahead: he leaped over no less than a million years.* Now another eminent British physicist, Sir George Thomson, making a shorter jump, peers into the middle of the next century.† On Sir Charles's scale this is a modest prophecy, but it is not necessarily easier to make. In ten thousand centuries the roundabouts make up for the swings, averages assert themselves and entropy does its dreary work. Darwin could count on the fact that even the best machines run down. A million years from now, the earth, because of the voracious habits of its occupants, will be poorer and shabbier. Its resources will be depleted, its oceans perhaps desiccated. Men may be wiser but not happier; plankton is no diet for joy. Maybe they will have to quit this planet for another.

* *The Next Million Years*, by Charles Galton Darwin.

† Sir George Thomson, *The Foreseeable Future*, Cambridge, 1955.

Sir George's picture of 2050 is less doleful. He is chiefly concerned with the future of technology; in this direction, he says, predictions are possible. The scientific revolution has been churning for more than three centuries, during which enormous advances have been made in man's control over his environment. The rate of progress still seems to be accelerating It is natural to ask how long this pace can continue To be sure, a catastrophe may intervene, a man-made holocaust that would leave the future to rats or insects We shall assume, however, that this will not happen: that either there will be no more big wars or the zeal for self-extermination will flag, once a war is on, before we are all dead On this flighty assumption we can look forward to continued material improvement We cannot say exactly where science and technology will carry us in a hundred years, but something of the future of machines is discernible in outline The trend of social circumstance is more shadowy. "Sociology," says Thomson, "has still to find its Newton, let alone its Planck, and prediction is guesswork." Still, it is hard to resist the temptation to speculate on people's response to technical progress, and this book has something to say about the society of A.D. 2100 as well as the machines.

Science limits technology at the same time it feeds it This fact is not widely understood We expect too much of mechanical ingenuity. Technology has been so successful that men are apt to suppose that everything can be solved, answered, cured, that there are no limits We have a light in the refrigerator, therefore we will fly to the moon, plastic seat covers promise plastic arteries; our theaters are air-conditioned, therefore we can change the world's climate Let us grant that inventors are fertile and may make us immortal. But there are things they cannot do, things prohibited by the nature of nature as we understand it. So at least we are forced to think unless we are prepared to throw modern science out the window.

Sir Edmund Whittaker, I believe, coined the phrase "prin-

ciples of impotence" to describe the scientific rules of what cannot be done. Since these are Thomson's guide lines, they are worth listing. Perhaps the most familiar is Einstein's principle, that no material object and no signal can go faster than the velocity of light. This should not unduly distress either aeronauts or astronauts, nevertheless it sets bounds. The conservation of mass-energy is another limiting principle Of course the fact that this principle is a combination of two others, conservation of mass and conservation of energy, which fifty years ago were thought to be distinct and immutable, is disquieting and suggests that there are no permanent principles of impotence. But as I remarked a moment ago, we shall have to do with the science we have, at least until another Einstein appears. Sir George covers his tracks by saying that while it would be rash to suppose the principles will remain for all time, it would be "still more rash to suppose that they can be modified in any particular way "

That one cannot make an electric charge or a magnetic pole without making an equal one of opposite sign somewhere else, that a particle of atomic size cannot be pinned down exactly as to both velocity and position; that no two electrons can be close to each other both in position and in velocity (Pauli's "exclusion principle," which keeps particles of the same kind out of one another's way): these represent three more principles to be added to the list Finally, there is the second law of thermodynamics, which says that "order always tends to disappear till complete chaos is reached "

The foreseeable future of science, and of its offspring technology is thus bounded — though scarcely cribbed or confined — by the principles of impotence Moreover, it is reasonable to suppose that other such principles may be discovered, valid not only in physics and chemistry, but in biology also. As Sir George points out "Animals and plants have to be able to reproduce and grow as individuals from a relatively very small seed or egg, which yet contains the pattern of the whole.

There must be limitations introduced here. Not every arrangement of bones and nerves and muscles, even though it might make a visible animal, could, one would suppose, grow from an egg — still less be developed by evolution. Perhaps this is why nature never has produced a workable wheel or even a 'caterpillar' track."

Besides principles of impotence, there are other givens or fundamentals that must be taken into account. These define the scope of technology as a whole just as his materials and tools define what the individual craftsman can do. There is not an infinite number of different materials in nature, nor of forms, nor of building blocks. The marvelous profusion of the world is achieved with comparatively simple means. Less than a hundred different kinds of atoms (which themselves have only two or three common constituents), joined together in multitudes and in varied shapes, make the visible universe. A beech tree differs from a grain of sand, which in turn differs from a star, yet at bottom the three are alike and differ only as do mosaics. The fixed properties of the fundamental atomic particles — mass, charge and so on — impose limitations not only upon the particles themselves but also upon the larger bodies built up out of them. Man, for example, cannot grow beyond a certain size without altering shape. Beyond a critical point his bones will not support him; if he were as big as the moon, he would have to be spherical because "no material could make a neck capable of supporting such a head without being crushed." One thing is in man's favor in seeking to control nature. While it is true that he is "despicably weak" compared with elemental forces, the disposition of energy frequently enables him to take advantage of what are called "trigger" actions, "where a small cause produces a disproportionate effect." A boulder perched on a ledge may be pushed off easily, and produce an enormous avalanche. A handful of silver iodide may produce rainfall over a big area. There is a large class of such "metastable" systems, organic

and inorganic, requiring the turn of only a small key to unlock their energy. The right key is, of course, not always easy to find, nor are the consequences always easy to reckon. "A very high degree of understanding," Thomson warns, "is needed by those who would interfere with nature in this way."

Having set forth briefly some of the limitations on technology and told us what will not happen in the next century, Sir George undertakes to predict what can be expected. He discusses the future of energy and power, of materials, of transport and communications, of meteorology, of food, of applied biology, of social studies, and, finally, of mechanical devices for solving problems far more complex than any we are able to tackle at present. What he offers is a brilliantly succinct review of the main questions of contemporary science and technology, together with clues and conjectures as to how they will be answered

Many books and articles have appeared in recent years on future needs and sources of power Until nuclear energy was discovered, the outlook was bleak, Even now there are experts who are skeptical about atomic power Sir George puts matters into perspective and resolves many doubts. He makes several things clear. first, that supplies of fossil fuels, coal in particular, are still very large; second, that we are so wasteful and incompetent in generating power that some of our processes might properly be regarded as no better than burning the house down to roast the pig, third, that the potentialities of solar energy and of combustible materials (such as peat) raised in agriculture require much more serious consideration than has been given them, fourth, and most important, that electricity derived from nuclear reactions, both fission and fusion, will be available in almost any quantities that we want for a very long time This is not to say nuclear power will necessarily be cheap. Technical improvements will bring costs down, but large-scale projects will still be expensive in terms

of capital investment, depreciation and the like. Efficiency will therefore be at a premium

Shipping will "go nuclear" about the time that natural oil gives out. The internal combustion engine is already an anachronism and only waits upon the invention of a satisfactory electrical accumulator to become wholly obsolete. The heat pump, says Sir George, is a device of much promise, especially for the heating of homes It is "really a refrigerator in which instead of creating cold inside the refrigerator by taking the heat away and then discarding the heat, you have the refrigerator out of doors and introduce the heat into the house." With cheap electricity as the power source, it is "the obvious way" of keeping houses warm.

In sum, whatever shortages may arise during the next century, power will not be among them This is less obviously true of materials Our civilization would be quite different if it were deprived of the new materials introduced in the last fifty years· light metals, plastics, steel alloys Thus far we have been fortunate in finding great concentrations of valuable metals, but even the richest lodes are not inexhaustible and it will soon be necessary to search for and exploit the leaner deposits. This demands improved methods of prospecting, of mining at great depths where it is very hot, and of handling enormous masses of material in order to extract very little. Sir George suggests the possibility of deep mining, using the techniques of oil drilling Under the crust of the earth lies molten magma, a pasty primordial mixture of minerals or organic matter. No one knows the extent of such veins of liquid, but if they could be located it is conceivable they could be tapped and brought to the surface.

A more promising source of minerals, perhaps, is the "fluid ore" composing the ocean. Concentrations are very low, but quantities are immense, and the fluid ore is easily handled. A remarkable feat is the ability of certain sea animals to ex-

tract from the water metals forming an essential constituent of their blood. Copper occurs in sea water only to the extent of two parts in ten thousand million, vanadium slightly more. Yet there are fish and other creatures which successfully concentrate these elements in their body fluids. It may be possible, Sir George believes, to breed plants or other organisms that will perform for us the first stage of extraction; then we can take over with our clumsier methods.

Much can be done to increase the strength of materials. Metals, and other materials, fail by shear, that is, by slipping of one layer over another. It had been supposed that if large single crystals could be made and tested, they would show great strength because the slipping characteristic of a large aggregate of small crystals would not occur. But when large crystals were finally made, it was discovered that they were extremely soft and could be sheared and deformed with very small forces. Research disclosed that the cause of this property was "dislocations," structural faults within the crystal. Hardening processes are believed to take advantage of these dislocations; that is, the working of the metal produces "dislocations in different directions which lock against each other" and so block slippage But the dislocations are still there, and the jigsaw arrangement is far less efficient than an array of faultless crystals would be. There is no reason to believe, Thomson says, that these elements of weakness cannot ultimately be eliminated.

Once materials can be manufactured with much higher breaking stresses, a drastic change in structures will result Some machines require thick and heavy members not so much to keep the machines from breaking as to keep them rigid Increased strength of materials without a corresponding increase in stiffness will not help in such cases. But many other structures — buildings, airplane wings, cables of suspension bridges — can tolerate considerable flexibility as long as they don't break Here the new materials, light and strong, should prove invalu-

able. The buildings of the twenty-first century "may be a little like the masts and rigging of a sailing ship, with the spaces between the structural members enclosed with a light 'cladding' of which a considerable fraction will be transparent." Sir George predicts that "the world of the future may be expected to look more aetherial, more like fairyland, than the world of the present or of the past"

Communication has come a long way in the last fifty years, and further improvements are foreseeable, many of us, however will be glad to hear that for various technical reasons it has its limits. The walkie-talkie will undoubtedly proliferate as transitors are improved, thus privacy will suffer additional indecent intrusions Television is another device whose uses will be much extended As an entertainment medium it can scarcely fail to improve, assuming any change, but Sir George is not concerned with this aspect We can anticipate face-to-face "meetings" of groups of people, while each person remains in his own home or office Business, political and even scientific gatherings could be arranged in this way Yet one dares to hope that the need and desire for actual human contacts will not have vanished in a century. Long-distance television presents hard problems that are not likely to get easier. The waves do not bend around the earth, and cable or wave guides are expensive. Perhaps we should recall Thoreau's famous question on learning that Maine and Texas were to be joined by telegraph. "Who knows whether Maine and Texas have anything to communicate?" The fact that people can be brought together without actually physically congregating allows, as Thomson points out, of some degree of communal dispersion. The need for communication contributes to the growth of cities. But if political, commercial, administrative and other transactions could be conducted electromagnetically, a trend might set in toward decentralization.

How fast will our descendants travel? Faster than now but not as fast as some undoubtedly would like. The famous drag/

lift factor bedevils every effort to increase air speed; resistance due to the waves at the bow and the turbulence in the wake cuts into a ship's speed. Atlantic crossings in one and a half hours are foreseeable, as are train speeds of 100 to 150 miles per hour. While these by no means represent upper limits, it must be recognized that much higher speeds, especially for short distances, are simply not worth while. Increased speed means increased cost; the question is whether it is worth assuming the larger cost when there are end delays (at the start and finish of the journey) that are apt to account for half or more of the total elapsed time. Sir George does not foresee everyone hopping around in helicopters. At best they will not be as easy to operate as automobiles, and air space is not unlimited.

An interesting point arises in connection with ocean travel. A fast-moving ship produces waves that offer high resistance. This resistance increases rapidly and can be overcome only by lengthening the ship or by redesigning it so that it lifts itself out of the water and is partly an airplane. A better alternative is "to copy the fishes." They create practically no waves (and neither does a submarine). With nuclear power available, and with the elimination of surface "excrescences" that produce "skin friction," it should be possible to drive submarines at 70 or 80 knots with considerably less horsepower per ton than an Atlantic liner of the present day.

Sir George is pleasantly calm in discussing the prospects of space travel. In due time we shall get to the moon. The problems of getting there, landing, and returning are difficult but can be overcome. A very pretty idea is the possibility of making a fast jet propelled by particles emitted in nuclear fission. Fast electrons escaping from radioactive fission products, while themselves too light to form the material for an efficient rocket-jet, might be used to generate an electric field; this, in turn, could be used "to accelerate heavier charged bodies, either atoms or clusters of atoms, which provide the

actual material of the jet." The peacefully inclined will be interested to read that Thomson characterizes as "absurd" the emphasis Wernher von Braun, the imported German technician working for the U.S. Air Force, lays on the satellite station as an instrument of war. "I cannot see the least prospect of establishing a station that would not be destroyed almost at once by guided missiles from below, which would be far easier to construct than the station itself," says Sir George.

Interstellar travel "is not imminent but we may well be nearer to it in time than we are to Pekin man." The nearest star, Proxima Centauri, is 4.3 light years away. If velocities could be attained equal to half that of light, the journey would become feasible. Because of the relativistic contraction of time, the trip would be shorter from the point of view of the travelers than as measured on the earth. Roughly, 2.6 years might be saved. "This seems a small prize," observes Sir George, "for all the discomfort and risk" of a seventeen-year voyage. Presumably men will not undertake it just to stay young.

There is promise at last of doing something about the weather. In fact we may be able to change it before we can predict it. To illustrate the horrendous difficulties of forecasting, I quote Sir George's estimate that an electronic computer must perform 30 million individual operations to digest the data needed to calculate an hour stage of upper winds over a small section of the Atlantic. Meteorology is not only complex but filled with paradoxes as well. For example, the best opinion holds that an increase in the sun's radiation would not make the earth warmer but instead would lead to an ice age. The argument is that the earth's atmosphere is driven by solar radiation, that an increase of the latter would speed up the winds and so lead to more precipitation which, at the poles, would appear as snow.

Weather is "like a pencil balanced on its point." A slight tremor may make it fall, the problem is to get it to fall in the

direction you want. One can approach the problem with brute force or delicately. With large amounts of energy available from atomic nuclei, one might attempt by flooding or by explosions to break up the Arctic ice or Greenland barrier and so change the climate over large areas. On the other hand an atom-thick layer of material laid on the earth would absorb enough solar radiation to affect the weather, perhaps profoundly. It may not be impossible to spread such a thin blanket over the whole earth (about a million tons of material would be required), but it is far from certain that the results would be desirable. The attempts that have been made, notably by Langmuir in the United States and Bowen in Australia, to produce artificial rainfall by seeding are impressive, but it is still too early, according to Sir George, to be confident of the usefulness of this method The growing of plants in desert areas, thereby altering the absorption of radiation by the ground, has a high chance of modifying climate for the better. It is important to realize, however, that changes in the vegetation of one area may adversely affect the climate of an adjoining area, so that the method has political implications, international as well as domestic In the world of today, and even more of tomorrow, nobody's back yard, it appears, is really his own.

There will be enough food to go around for quite a while, says Sir George Chlorella has possibilities, so have yeasts. He also has much to say on other engrossing topics such as artificial mutations, domestication of animals (it is suggested that we train monkeys to pick our crops), control of population, and the prevention of old age (Immortality, in his opinion, may not be desirable but it is not impossible) On the social consequences of another century of technological progress Thomson's comments are inferior to the rest of his book. We might have been spared his astonishing views on "the future of the stupid" (he seems to favor a return to "domestic service" for those who cannot master the ways of the bright

new world), on education and on the uses of leisure. They are at worst not very creditable and at best neither original nor very interesting. On one point, however, I agree. that (despite the efforts of the noted scholar-publicist, Dr. Rudolph Flesch) there is "far less real evidence on the best method [of teaching reading] than there is on the best sort of potato to grow."

The last chapter of the book, in which Sir George speculates on various aspects of the theory of communication, is fascinating. Very little is known about the working of the brain, but in time we shall know more. The big computers will help us, as will developments in electrophysiology, information theory and so on. Already enough is known to make one realize that the small, intricate fleshy lump in our skulls, "with its ten thousand million working parts and its countless possible interconnections, vastly exceeds anything we are ever likely to be able to make and is [utterly] unlike the unorganized masses we physicists study, which show at best the rather banal wallpaper patterns that crystals display." Suppose we attain a much deeper understanding of brain processes than at present; suppose we glimpse what is involved in the formation of ideas, habits, prejudices, desires and the like. Philosophers and even plain men have long esteemed self-knowledge as one of the greatest goods Will they continue to esteem it if it should reveal the origins of altruism, tolerance, kindliness and other human virtues in terms of electrical circuits? Many things that men value may not survive such analysis It is dangerous enough to understand the secrets of the atom, but suppose we understood — as we understand the operation of an electric washing machine — why we laugh or are patriotic or admire Matisse or embrace religion How long could these values be maintained, once their genesis and nature were expressed as a circuit diagram? Sir George suggests that the possibility of reducing human responses to electromagnetic patterns need not necessarily impoverish life We may learn new scales of values, learn to appreciate the intrinsic pro-

fundity of what seems to us trivial at the same time we perceive the trivial in what seems to us profound "Consider the relation of Jove's thunderbolt to the fluttering of chaff round a piece of rubbed amber, consider how relatively easy we now find the movement of the planets and how hard it still is to understand the workings of a worm"

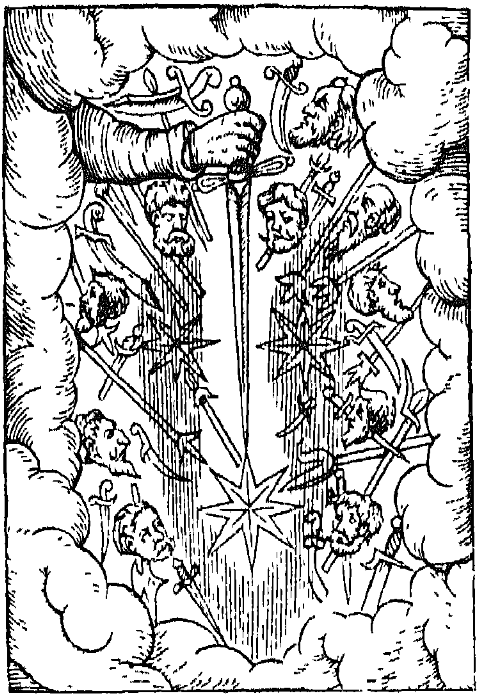
It cannot be said that we are remotely within sight of the relation between brain and what we call mind That there is a simple one to one correlation between states of the brain and of consciousness has been assumed but never proved. Now doubt has been cast on this assumption by research on extra-sensory perception, yielding evidence that Sir George regards as uncomfortably impressive It may be necessary, if the evidence accumulates and stands up, drastically to revise our general scheme of thought "The importance of the subject," says Sir George, "is enormous and much too little work is being done on it." Clearly, the frontiers of the mind lie much beyond us; not only is it possible that we use unsuspected modes of communication, but there are plain indications that "we are far from using our full mental potentialities." There is no permanent reason why only a few men should be bright and the rest mediocre, or worse. Why should the calculating wizard or the musical prodigy so often be an idiot in other respects? Is there no way to train special mental powers so that many will be able to do what can now be done only by few? "Do you not feel with genius that it alone thinks naturally, while the rest of us block our thoughts perversely with irrelevancies?" It is difficult to prophesy how men's brains will be improved, whether by drugs, by feeding in electrical impulses of the right kind, by new methods of education, by psychiatric stratagems employed in earliest youth, by selected mutations. But it will be done, Sir George believes, and since we have come a long way from being ammonites, in the head as well as in the body, we have proof that it can be done. That the brain which can foresee itself has a future that is not foreseeable is the greatest of the promises that lie ahead.

COMETS AND THEIR ORIGINS

"OLD MEN and comets," wrote Swift, "have been reverenced for the same reason, their long beards, and pretences to foretell future events." The Babylonians had a vague notion that comets moved like planets. Anaxagoras and Democritus attributed comets to "the combined splendour of a concourse of planets." Aristotle, a renowned chronicler of old wives' tales about astronomy and meteorology, maintained that comets were exhalations from the earth to the upper atmosphere. This hypothesis was so widely accepted that comets are not classified in Ptolemy's *Almagest* among the heavenly bodies.

But whatever the differences in the explanations of their physical nature, motions and causes, comets were until recent times universally regarded as presages, sometimes of happy

Figure d'vne Comette admirable veue en l'air.



Comet of 1528, after Ambroise Paré **(Les Oeuvres d'Ambroise Pare, *Paris, 1579, figure 341.*) *(From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)***

augury, usually of death and disaster The comet's sudden and mysterious appearance, its flaming flight across the sky, the swiftly changing aspect of its tail, its departure without a trace all inspired awe and fed superstition. When a comet is seen, "ther occurris haistily eftir it sum grit myscheif" (I quote from the *Complaynt of Scotlande*, 1549), Shakespeare (in *Henry VI*) wrote of "Comets importing change of Times and States"; Milton's image in *Paradise Lost* is perhaps the most famous

On the other side,
Incensed with indignation, Satan stood
Unterrified, and like a comet burned,
That fires the length of Ophiuchus huge
In the arctic sky, and from his horrid hair
Shakes pestilence and war

The superstitions have all but vanished, myths about comets have been replaced by more fashionable irrationalisms But the phenomenon itself is as impressive as ever, and as puzzling. The most recent edition of the *Britannica*, for example, reports that as late as 1946 — when the article on comets was written — no plausible explanation of comet formation had been proposed R. A Lyttleton, a Cambridge mathematician, now expounds a new, coherent and testable theory based on what he calls the "New Cosmology "* Sir Arthur Eddington, E. A. Milne, Henry Norris Russell, S Chandrasekhar are among the leaders who contributed to the development of modern cosmological science, Fred Hoyle, Hermann Bondi, and Thomas Gold have been in the forefront of the work on the hypotheses underlying Lyttleton's study. I shall have more to say about this a little further on, but it may serve to a better understanding of the new theory if I first outline briefly Lyttleton's account of the dynamical and physical properties of comets. He has culled the voluminous literature on the subject and presents its main features in exemplary style.

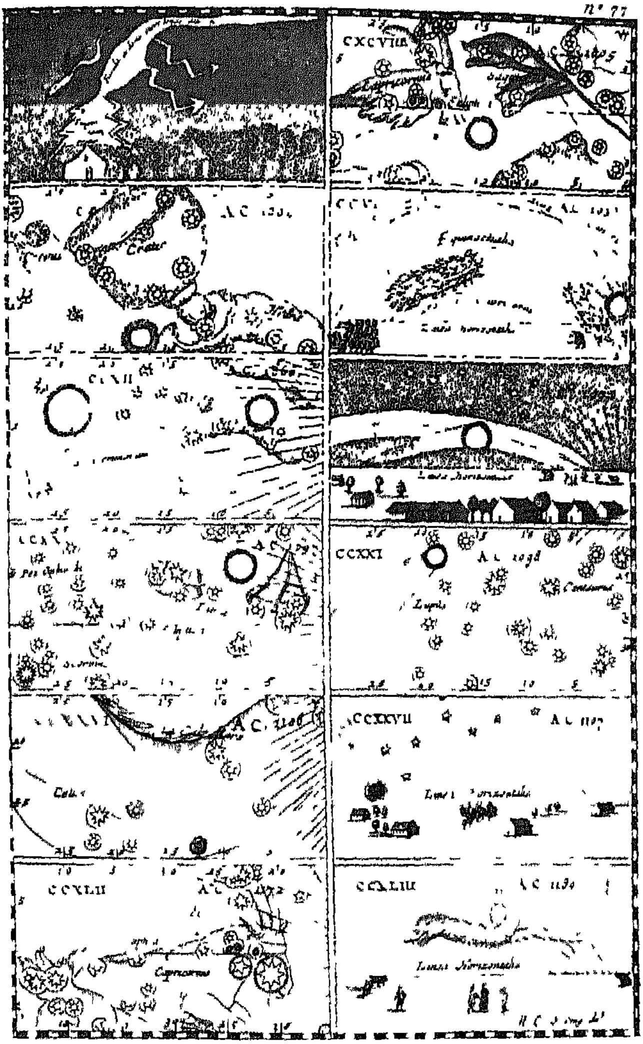
Tycho Brahe was the first to demonstrate what had already been conjectured by that strange combination of genius and muttonhead, Jerome Cardan, namely, that comets are true celestial objects, far more distant than the moon. Tycho suggested that the path of the daylight comet of 1577 was a circle;

* R A Lyttleton, *The Comets and their Origin*, New York, 1953

Kepler, not realizing that comets could return — and were therefore subject to the rules of planetary motion, which he himself had so brilliantly unfolded — concluded that they move in straight lines. The German astronomer Hevelius conjectured their path as parabolic; but it was Edmund Halley who, with the aid of Newton's theory of gravitation, finally solved the problem of cometary orbits. It will not do, of course, to overlook the ideas of the incomparable Robert Hooke. Rarely, if ever, did he pronounce on scientific subjects without saying something sensible. In this case he was extraordinarily prescient: comet tails, he supposed, are formed by the pressure of the sun's rays. This is the view now generally adopted by astronomers.

Comets move in highly complicated three-dimensional curves. When these are simplified for computational purposes into so-called two-dimensional osculating orbits, it is found that the orbits are conic sections: hyperbolas, parabolas, ellipses. The osculating orbit is the path a comet would follow if it were subject only to the simple inverse-square attraction of the sun. While the sun is the dominating influence and lies at the focus of the conic, other planets such as Jupiter cast the hem of their gravitational mantle over the comet, thus producing perturbations in its motion. In some instances the effect is very severe and results in a drastic change of orbit. Most osculatory orbits are parabolas, but a slight decrease or increase in the comet's speed converts the orbit into an ellipse or hyperbola, respectively.

Astronomers have now determined the orbits of about a thousand comets. The task is delicate and difficult. When a comet is newly discovered, a provisional path is calculated on the basis of its behavior for a few days. It is then kept under constant surveillance so that its position in space and that of its path with respect to the earth may be computed with increasing precision. A crucial reference datum in this computa-



Imaginative pictures of some comets that appeared between 1000 and 1180, from the Theatrum Cometicum, *by Stanislav Lubienitz, Amstelodami, 1688, volume two, plate 77 Note particularly the fiery salamander (comet of the year 1000) and the fiery serpent (comet of 1180) which, in the popular imagination, accompanied the passage of these comets (From René Taton,* Reason and Chance in Scientific Discovery, *by permission of Philosophical Library)*

tion is the comet's perihelion point: it is necessary to ascertain the exact time at which the comet passes or "will eventually pass" in closest proximity to the sun For a comet to be periodic, its orbit must evidently be elliptical; on a hyperbolic or parabolic journey the traveler will come to us literally out of the nowhere and vanish forever into the beyond. Yet it is precisely this determination, dependent on minute differences of curvature and subject to various circumstances that limit the accuracy of observation, which is so difficult to settle. Careful tracking may lead to the conclusion that a cometary orbit is hyperbolic near the sun; however, when the orbit is "extended further outwards from the observable part and backwards in time, by calculations making due allowance for the influence of the planets (Jupiter is usually the main perturbing agency), in every case it has been found that the comet has in fact come in from a finite distance, and is therefore to be regarded as a reappearance of a permanent member of the solar system as far as its orbital motion is concerned." Since Kepler's third law — that the square of the time of revolution of a planet is proportional to the cube of its mean distance from the sun — describes (subject to planetary disturbances) the time of revolution of a comet in its orbit, it is easy to see that the period of a comet calculated from a necessarily limited arc is only weakly determined. This uncertainty helps to explain the extraordinary computational differences among leading astronomers. To cite only one illustration. the comet of 1680 has, according to the most accurate reckoning of the German astronomer Johann Franz Encke, a period not 170 years, as found by Euler, nor 575 years by Halley, nor 5,864 years by the Frenchman Alexandre Pingré, but in fact 8,814 years

While we derive our knowledge of comets from those that have actually been seen, it must not be supposed that more than a small fraction of the comets chasing around the solar system ever have or ever will be seen. Short-period comets are defined as those traveling their circuit in less than 100 years;

even so, they may disappoint us after a number of visits, and fail to return. Brorsen's comet of 1846 (period 5.5 years) was not seen again after 1879, and Holmes's comet of 1892 (period 7 years) was not found in 1919 or 1928. Others, such as Encke's comet in 1944, are "missed through unfavorable circumstances but rediscovered at a later return." Halley's famous comet (period about 77 years) has been reasonably punctual for at least six centuries and may be looked for again in the spring of 1986. (A date not far from the beginning of George Orwell's dismal epoch.) Comets of moderate period — of which about forty are known — pay their homage to the sun every 100 to 1,000 years But the great majority of comets have average orbital periods, according to the noted British expert A. C. D. Crommelin, of about 40,000 years. If a comet of this class flies into view, it is a safe prediction it will never be seen again; not only because of man's precarious tenancy of this planet, but because the computation based on the observation of a single sweep near the sun is too uncertain to justify a choice between a parabolic and an enormous elliptical orbit. It has been estimated that at least 300 long-period comets come to perihelion each century, if, then, the 40,000-year average is adopted, "we arrive at the amazing but inescapable conclusion that there must be at least 100,000 comets in the solar system with perihelion distances sufficiently small for them to become eventually observable." Moreover, there are many more with perihelion distances too great for the comets to be seen with present equipment if they remain in their existing paths

About six or seven comets are discovered every year. The way to find one is to have the qualities that made a success of Phil the Fiddler — industry, zeal, attentiveness Good equipment and luck also help In 1896 the American astronomer Charles Perrine was at the Lick Observatory making loving observations of a comet he himself had discovered, when he received a telegram from Kiel stating the position of the comet

at that moment. But the telegram had been jumbled in transmission and gave an entirely wrong position, more than two degrees from the correct one. Perrine, not knowing the message had been twisted, pointed his telescope to the indicated place — and found a new comet The devotion and perseverance of astronomers are typified by the almost incredible labors of Joseph de Lalande and his staff in computing the date of the return of Halley's comet in 1758 M. Lepaute, one of Lelande's assistants, tells the story:

"During six months we calculated from morning till night, sometimes even at meals, the consequence of which was that I contracted an illness which changed my constitution during the remainder of my life. The assistance rendered by Madame Lepaute was such that without her we never should have dared to undertake the enormous labor with which it was necessary to calculate the distance of each of the two planets, Jupiter and Saturn, from the comet, separately for every degree, for one hundred and fifty years."

The prediction was that the comet, having been delayed 100 days by the influence of Saturn and 518 days by that of Jupiter, would arrive at perihelion April 13, 1759 The actual date was only 32 days earlier, a tribute no less to the skill of the computers than to the theory.

What is a comet? Henry Norris Russell describes it as a "loose swarm of separate particles" accompanied by dust and gas An observer sees it as a queer object with a head that is no head (and which, in any case, is sometimes missing), and a tail that conforms to no definition of a tail found in any dictionary (and may also be missing). The head, when it is present, consists of the coma, a faintly luminous cloud, which envelops a bright something called the nucleus The coma is transparent and undergoes fantastic deformations as it passes the sun, the nucleus, thought to be made of "some kind of changing concentration of small particles," also can be expected to transform itself like a jinni — a fact that astronomers con-

veniently explain by classifying the nucleus as no more than an "apparent phenomenon." The most spectacular feature of a bright comet is its tail. This appendage has been known to stretch over 200,000,000 miles and to extend nearly 180° across the sky. Comets, like young women presented at St. James's, seem to put on their tails as they approach the sun As a general rule the closer the perihelion distance, the more impressive the tail. As a comet approaches the sun, the tail streams behind, but beyond perihelion it precedes the comet. This curious behavior is explained on the theory that the pressure of the sun's radiation affects the particles of the tail in the way the wind affects a plume of smoke A comet can have more than one tail: Chesaux's (1744) is said to have shown six, Borelly's comet (1903 IV) nine

Comets are luminous partly because the small solid particles of which they are composed reflect, diffract and scatter the sun's light But their spectrum, besides showing the familiar solar Fraunhofer lines, exhibits bright bands due to emission by molecules of energy originally absorbed from solar radiation. Photodissociation and other processes are involved in these complex effects

There is considerable variation in the sizes and shapes of comets and in their masses A few cometary giants are greater in volume than the sun itself The more normal specimens range in diameter from 20,000 to 200,000 miles. In 1909 Halley's comet, which is not untypical, had an observed coma 14,000 miles across when distant three astronomical units* from the sun; at two units the coma had swelled to 220,000 miles; at perihelion it had shrunk to 120,000 miles; later, at one-unit distance, it had increased again to 320,000 miles. The prime example of shape-changing capacity is Biela's comet, a short-period wanderer (6.6 years) On its visit in 1846 — the same year Neptune was discovered — it first startled observers by making its entrance in pear-shaped form; 10 days

* The unit is the distance of the earth from the sun

later it shattered the self-confidence of astronomers by dividing into separate comets, which continued to travel in practically the same orbit, one preceding the other by about 175,000 miles The twins appeared again in 1852, now eight times farther apart. They have not been seen since. Biela's comet, by the way, provided another opportunity for the hapless Cambridge astronomer James Challis to demonstrate his exquisite incompetence It was Challis who managed to miss finding Neptune after John Couch Adams told him where and when to look for it. His excuse was that he was searching for comets To complete the tableau, he observed the twinning of Biela's comet but attributed it to an optical illusion and failed to publish his finding, explaining his oversight later on the ground he was too busy looking for Neptune.

I think it was Sir John Herschel who said that a comet could easily be packed in a portmanteau Certainly the mass of a comet is insignificant compared to that of other celestial objects The average comet, Lyttleton suggests, is only 1/10,000,000,000th as massive as the earth, or, say, about 10^{18}g. (The earth's mass is 6 x 10^{27}g., Jupiter's 2 x 10^{30}g) This comes to a million million tons, too large for a portmanteau, but too small to produce observable gravitational perturbations Spread this mass of small stones or rocks through a volume equal to that of the sun, and there will be plenty of empty space between adjacent stones. On this assumption it is not surprising that comets are transparent. To be sure, the substance of the comet is not spread uniformly through it, and the mean-density figure 10^{-12}g CM^{-3} (compared with 1.4 g. CM^{-3} for the sun) reflects neither the density of the head nor that of the tail Lyttleton puts the density of the tail at "perhaps far less than 10^{-24}g CM^{-3}" and supposes it to be made up of a mixture of dust and gas Meteors and meteor rings are related to comets, one plausible hypothesis is that they are simply the "debris of disintegrated comets" whose material has become distributed along their orbits and now streams around the sun.

I come now to the new theory of cometary origins. It runs something like this: Genesis begins when the sun passes through a galactic dust cloud formed of material ejected in the explosion of a supernova. The sun's gravitational attraction starts the particles of the cloud, initially at rest, flying into hyperbolic orbits (i.e., hyperbolic relative to the sun). Fix your attention now on an imaginary line through the center of the sun parallel to the direction of its motion, the so-called accretion axis. The particles will converge, in their hyperbolic orbits, toward this axis and will collide when they are at and near the axis at points behind the sun. If we consider two inelastic particles of the same mass, moving from points on directly opposite sides of the accretion axis and "symmetrically placed with respect to the direction of motion of the sun," it can be shown not only that a head-on collision will occur on the axis, but that the results of the impact will be to nullify the transverse components of the particles' motion, to leave unaffected the radial components away from the sun along the axis, and "to reduce the originally hyperbolic energies of the particles to elliptic values, and thus bring about their capture by the sun." The multiplication of this and similar effects, involving hordes of colliding particles, creates a stream of material trailing behind the sun along the axis of its motion. Note, however, that part of the stream will flow *toward* the sun, part *away* from it. The reason is not difficult to grasp. Out to a certain distance from the sun, its gravitational pull will exceed the radial or escape velocity of the colliding particles and thus draw them inward along the accretion axis; beyond a certain "neutral point," material arriving at the axis will have a radial velocity sufficient to overcome the sun's captive power. These particles will eventually escape.

The accretion process forms a stream of reasonably high density, which is acted upon by two opposing forces (we are interested now only in the part of the stream flowing toward the sun). The sun's gravitational field pulls the stream one

way; the internal gravitation of the material within the stream causes it to pull itself together lengthwise. We may assume, says Lyttleton, that irregularities of density in the dust cloud, and the general unstable nature of the accretion process, produce in the stream centers of attraction around which particles tend to cluster. While the stream's internal gravitation close to the sun is of negligible importance, farther out, with the sun's field diminishing as the inverse square of the distance, the self-gravitating force will promote not only the formation of local clusters but a lumping together and separation of the stream into segments It is these segments, or aggregates, that, according to the theory, develop into comets. One asks why, since this entire part of the stream is flowing toward the sun, the comets are not sooner or later swallowed up by it. Lyttleton answers that much of the stream's material does fall into the sun, but some of the comets, held together by self-gravitation, escape this fate by the attraction of other planets, particularly Jupiter and Saturn. The effect of their gravitational fields is to endow nascent comets that are favorably placed with a sufficient angular momentum to sweep clear of the sun He estimates that even if only a small percentage of all comets forming in the stream avoid extinction, "an average cloud might easily produce several thousand comets" that will survive

The concluding portions of Lyttleton's book discuss the formation of comet tails (here, too, collisions are involved and the explanation of the process is drawn as a "simple consequence" of the theory), and compare the theory to earlier ideas of the origin of comets

It is impossible not to admire the working out of the main system. It is coherent and — for the average reader, at any rate — excitingly persuasive. Astronomers and cosmologists, even those favorably disposed to the accretion hypothesis, will be harder to persuade, some, I am sure, will look at Lyttleton's conclusions with a fishy eye. None, however, will overlook the important fact that the central idea involves hypotheses "that

can be subjected to quantitative tests — a feature hitherto completely absent from cometary theories." While these tests can only yield confirmation within orders of magnitude, their results are not to be despised, for as the British physicist, Sir Harold Jeffreys, once pointed out, most incorrect physical hypotheses fail order-of-magnitude tests "by many powers of 10."

This is not always an easy book, but I recommend it highly. It impressed me so much that I now appreciate the feelings of a certain enthusiastic young lady from New Jersey (reported by Mary Proctor in her book on comets) who, on the appearance of Halley's comet in 1910, declared her intention of following it "wheresoever it went" Only the counsel of timid friends and "temporary seclusion" in an asylum deterred her from this gallant pursuit.

Index • Volume Two

NOTE Small capitals are used for subjects to which an entire section is devoted Page numbers in italics refer to such sections, roman to other mention.